श्री वीतरागाय नमः

श्री जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला

भाग 1

मङ्गलाचरण

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहुणं॥

मङ्गलं भगवान वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत करोति किम्?
परभावस्य कर्तात्मा, मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥

अज्ञानतिमिरान्धानाम्, ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः॥

आत्मार्थी मुमुक्षु के लिए पूज्य गुरुदेवश्री का सन्देश

वीतराग वाणी का तात्पर्य : स्व-सन्मुखता

– आत्मा, परद्रव्य का कर्ता या भोक्ता नहीं – ऐसा बताकर परद्रव्य का कर्ता-भोक्तापना छुड़ाकर, स्व-सन्मुखता कराना है।

– विकार का कर्ता कर्म नहीं है – ऐसा कहकर कर्माधीन दृष्टि छुड़ाना है।

– विकार का कर्ता कर्म है, जीव नहीं है; कर्म व्यापक होकर विकार करता है – ऐसा कहकर एक समय के उपाधिभाव से भेदज्ञान कराकर, द्रव्य पर दृष्टि कराना है।

– तत् समय की योग्यता से जो विकार होनेवाला था, वही हुआ है – ऐसा कहकर एक समय के विकार का लक्ष्य छुड़ाकर, दृष्टि को द्रव्य पर लगाना है।

– विकार भी जो क्रमबद्ध में था, वही हुआ है – इस कथन से क्रमबद्धपर्याय के स्वकाल का सत् परिणमन व विकार का अकर्तापना बताकर, ज्ञातास्वभाव की दृष्टि कराना है।

– निर्मलपरिणाम भी क्रमबद्ध हैं – ऐसा कहकर शुद्धपर्याय के एक अंश का लक्ष्य छुड़ाकर, त्रिकाली ध्रुव का लक्ष्य कराना है।

– पर्याय का कर्ता परद्रव्य नहीं है – ऐसा कहकर पर से दृष्टि हटाकर स्वद्रव्य में लगाना है।

– पर्याय का कर्ता स्वद्रव्य भी नहीं है, पर्याय अपने षट्कारक से स्वतन्त्र होती है – इस प्रकार पर्याय की स्वतन्त्रता बताकर, उसका लक्ष्य छुड़ाकर, दृष्टि को द्रव्य-सन्मुख करानाहै।

– विकार या निर्मलपर्याय का कर्ता ध्रुव द्रव्य नहीं है, पर्याय ही पर्याय का कर्ता है। ध्रुव द्रव्य, बन्ध-मोक्ष परिणाम का कर्ता भी नहीं है – ऐसा बताकर पर्याय की सन्मुखता छुड़ाकर, ध्रुव की सन्मुखता कराना है।

प्रकरण पहला

द्रव्य अधिकार

प्रश्न 1 – विश्व[1] किसे कहते हैं ?

उत्तर – छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं।

प्रश्न 2 – द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न 3 – गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो द्रव्य के पूर्ण भाग में और उसकी सर्व अवस्थाओं में रहे, उसे गुण कहते हैं।

प्रश्न 4 – छह द्रव्यों के नाम क्या हैं ?

उत्तर – जीव, पुद्‌गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल।

प्रश्न 5 – जीवद्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसमें चेतना अर्थात् ज्ञान–दर्शनरूप शक्ति हो, उसे जीवद्रव्य कहते हैं।

---

1. विश्व = समस्त पदार्थ - द्रव्य–गुण–पर्याय।

श्री प्रवचनसार गाथा 124 का फुटनोट

प्रश्न 6 – पुद्गल[1] द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण – यह गुण हों, उसे पुद्गल कहते हैं।

प्रश्न 7 – पुद्गल के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – एक परमाणु और दूसरा स्कन्ध।

प्रश्न 8 – परमाणु किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसका दूसरा कोई भाग न हो सके – ऐसे छोटे से छोटे पुद्गल को परमाणु कहते हैं।

प्रश्न 9 – स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर – दो अथवा दो से अधिक परमाणुओं के बन्ध को स्कन्ध कहते हैं।

प्रश्न 10 – धर्मद्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो स्वयं गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को गमन करने में निमित्त हो, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। जैसे – स्वयं गमन करती हुई मछली को गमन करने में पानी।

प्रश्न 11 – अधर्मद्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो स्वयं गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणमित जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में निमित्त हो, उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। जैसे – पथिक को स्थिर रहने में वृक्ष की छाया।

प्रश्न 12 – अधर्मद्रव्य की व्याख्या में कहा है कि जो

---

1. पुद्गल शब्द का निरुक्ति अर्थः – पुद्+गल = पुरयति गलयन्ति इति पुद्गलाः।
(जैन सिद्धान्त दर्पण)

'गतिपूर्वक स्थिति' करे, उसे अधर्मद्रव्य निमित्त है; उसमें यदि 'गतिपूर्वक' शब्द को निकाल दें तो क्या दोष आयेगा?

उत्तर – जो गतिपूर्वक स्थिति करें – ऐसे जीव-पुद्गल को ही अधर्मद्रव्य स्थिति में निमित्त है – ऐसी मर्यादा न रहने से सदैव स्थिर रहनेवाले धर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्यों को भी स्थिति में अधर्मद्रव्य का निमित्तपना आ जाएगा।

प्रश्न 13 – आकाशद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर – जो जीवादिक पाँच द्रव्यों को रहने का स्थान देता है, उसे आकाशद्रव्य कहते हैं।

प्रश्न 14 – आकाश के कितने भेद हैं?

उत्तर – आकाश एक ही अखण्ड द्रव्य है, किन्तु उसमें धर्म-अधर्मद्रव्य स्थित होने से (आकाश के) दो भेद हैं – लोकाकाश और अलोकाकाश।

यदि लोक में धर्म-अधर्मद्रव्य न होते तो लोक-अलोक – ऐसे भेद ही नहीं होते। ***(– पञ्चास्तिकाय, गाथा 87 की टीका)***

प्रश्न 15 – लोकाकाश किसे कहते हैं?

उत्तर – जिसमें जीवादिक सर्व द्रव्य होते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं। अर्थात् जहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल, यह पाँच द्रव्य हैं, वहाँ तक के आकाश को लोकाकाश कहते हैं।

प्रश्न 16 – अलोकाकाश किसे कहते हैं?

उत्तर – लोकाकाश के बाहर जो अनन्त आकाश है, उसे अलोकाकाश कहते हैं।

प्रश्न 17 – लोकाकाश और अलोकाकाश – इन दोनों के रङ्ग में क्या अन्तर है ? दोनों में कौन बड़ा है ?

उत्तर – आकाशद्रव्य अरूपी[1] होने से उसके रङ्ग नहीं होता। आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। जितने भाग में छह द्रव्यों का समूह है, उतने भाग को लोकाकाश कहते हैं। वह छोटा भाग है और शेष चारों ओर अलोकाकाश है, वह लोकाकाश से अनन्त गुना है।

प्रश्न 18 – अलोकाकाश में कितने द्रव्य हैं और उसके परिणमन में किसका निमित्त है ?

उत्तर – अलोकाकाश में आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं हैं। सम्पूर्ण आकाशद्रव्य के परिणमन में लोकाकाश में विद्यमान कालाणु द्रव्य निमित्त हैं।

प्रश्न 19 – एक आकाश प्रदेश में एक ही प्रकार के द्रव्य कभी साथ नहीं रहते, उस द्रव्य का नाम क्या ?

उत्तर – कालाणु द्रव्य, क्योंकि प्रत्येक कालाणु द्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नराशि के समान एक-एक भिन्न-भिन्न ही रहता है।

प्रश्न 20 – एक परमाणु जितना छोटा दूसरा कोई द्रव्य है ?

उत्तर – हाँ, कालाणु, क्योंकि परमाणु और कालाणु एक प्रदेशी द्रव्य हैं।

प्रश्न 21 – प्रदेश किसे कहते हैं ?

उत्तर – एक पुद्गल परमाणु, आकाश का जितना स्थान

1. जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णरहित हो, वह अरूपी है।

रोके, उतने भाग को प्रदेश कहते हैं। उस एक प्रदेश द्वारा सर्व द्रव्यों के क्षेत्र का नाप निश्चित् किया जाता है।

प्रश्न 22 – कालद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर – जो अपनी-अपनी अवस्थारूप स्वयं परिणमित होनेवाले जीवादिक द्रव्यों को परिणमन में निमित्त हो, उसे काल द्रव्य कहते हैं; जैसे कुम्हार के चार को घूमने में लोहे की कीली।

प्रश्न 23 – काल के कितने भेद हैं?

उत्तर – दो भेद हैं – निश्चयकाल और व्यवहारकाल।

प्रश्न 24 – निश्चयकाल किसे कहते हैं?

उत्तर – कालद्रव्य को निश्चयकाल कहते हैं। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही कालद्रव्य हैं और लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य (कालाणु) स्थित हैं।

प्रश्न 25 – व्यवहारकाल किसे कहते हैं?

उत्तर – कालद्रव्य की समय, पल, घड़ी, दिवस, महीना, वर्ष आदि पर्यायों को व्यवहारकाल कहते हैं।

प्रश्न 26 – जीवादिक द्रव्य कितने-कितने हैं? और वे कहाँ रहते हैं?

उत्तर – जीवद्रव्य अनन्त हैं और वे सम्पूर्ण लोकाकाश में विद्यमान हैं।

जीवद्रव्य से अनन्तगुने पुद्गलद्रव्य हैं और वे सम्पूर्ण लोकाकाश में भरे हैं।

धर्म और अधर्मद्रव्य एक-एक हैं और वह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

आकाशद्रव्य एक है और वह लोक तथा अलोक में व्याप्त है।

कालद्रव्य असंख्यात हैं और वे लोकाकाश में (प्रत्येक प्रदेश में एक-एक इस प्रकार) व्याप्त हैं।

प्रश्न 27 – अस्तिकाय किसे कहते हैं ?

उत्तर – बहुप्रदेशी द्रव्य को अस्तिकाय कहते हैं।

प्रश्न 28 – कितने द्रव्य अस्तिकाय हैं ?

उत्तर – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश – यह पाँच द्रव्य 'अस्तिकाय' हैं।

प्रश्न 29 – कालद्रव्य अस्तिकाय क्यों नहीं है ?

उत्तर – कालद्रव्य, एक प्रदेशी है, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है।

प्रश्न 30 – पुद्गल परमाणु भी एक प्रदेशी हैं, तो वह अस्तिकाय कैसे हुआ ?

उत्तर – यद्यपि पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी हैं, किन्तु उसमें स्कन्धरूप बनकर बहुप्रदेशी होने की शक्ति है; इसलिए उसे उपचार से अस्तिकाय कहा जाता है।

प्रश्न 31 – जीवादि छह द्रव्यों में दो भेद किस प्रकार करेंगे ?

उत्तर – (1) जीव, अजीव; (2) रूपी, अरूपी; (3) क्रियावती[1] शक्ति और भाववती शक्तिवाले; (4) बहुप्रदेशी और एक प्रदेशी।

1. देखो, प्रश्न 52 वाँ

प्रश्न 32 – अजीवद्रव्य कौन से हैं ?

उत्तर – पुद्‌गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल।

प्रश्न 33 – रूपी का अर्थ क्या ? और अरूपी का क्या ?

उत्तर – जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसहित हो, वह रूपी; और जो उनसे रहित हो, वह अरूपी।

प्रश्न 34 – छह द्रव्यों में रूपी कौन हैं और अरूपी कौन ?

उत्तर – एक पुद्‌गलद्रव्य रूपी है और शेष पाँच अरूपी हैं।

प्रश्न 35 – आत्मा को प्रदेशरूप असंख्य अवयव मानने से उसके खण्ड होंगे या नहीं ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि आत्मा क्षेत्र द्वारा अखण्डित होने के कारण उसके खण्ड नहीं हो सकते। ***(पञ्चाध्यायी भाग - 1, गाथा 414)***

प्रश्न 36 – जीव, पुद्‌गल, आकाश और काल को दो-दो भेदों में रखो।

उत्तर – **(1) जीव** – संसारी और सिद्ध।

(2) पुद्‌गल – परमाणु और स्कन्ध।

(3) आकाश – लोकाकाश और अलोकाकाश।

(4) काल – निश्चयकाल और व्यवहारकाल।

प्रश्न 37 – जगत् में क्षेत्र की अपेक्षा सबसे बड़ा कौन है ?

उत्तर – आकाशद्रव्य।

प्रश्न 38 – आत्मा (जीव) के शरीर होता है ? हो तो कैसा होता है ?

उत्तर – नित्य चैतन्यमय अनन्त गुणों का समूह (श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, सुखादि गुणों का समाज), वह आत्मा का वास्तविक शरीर है; इसलिए आत्मा को 'ज्ञान-शरीरी' कहते हैं। संयोगरूप जो जड़ शरीर है, वह वास्तव में आत्मा का नहीं, किन्तु पुद्गल का है और इसलिए जड़ शरीर को पुद्गलास्तिकाय कहा है।

प्रश्न 39 – आत्मा के अवयव होते हैं? होते हैं तो कैसे?

उत्तर – (1) प्रत्येक आत्मा के उसके ज्ञानादि अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण परमार्थतः आत्मा का अवयव है। आत्मा उन अवयवोंवाला है, अवयवी है।

(2) क्षेत्र अपेक्षा से प्रत्येक आत्मा के अपने अखण्ड असंख्य प्रदेश हैं; उनमें से प्रत्येक प्रदेश आत्मा का अवयव है, किन्तु जड़ शरीर के हाथ, पैर आदि जीव के अवयव नहीं है; वे तो जड़ शरीर के ही अवयव हैं।

प्रश्न 40 – इससे क्या सिद्धान्त समझें?

उत्तर – (1) जीव सदैव अरूपी होने से उसके अवयव भी सदैव अरूपी ही हैं; इसलिए किसी भी काल में निश्चय से या व्यवहार से हाथ, पैर आदि को चलाना, स्थिर रखना आदि परद्रव्य की कोई भी अवस्था, जीव नहीं कर सकता – ऐसा निर्णय करना चाहिए। इस प्रकार पदार्थों की स्वतन्त्रता का निर्णय करे, तभी जीव पर से भेदविज्ञान करके ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा कर सकता है और ज्ञातारूप रह सकता है।

(2) शास्त्रों में आत्मा को व्यवहार से शरीरादि के कर्तृत्व का कथन आता है, उसका अर्थ – 'ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्त की

अपेक्षा से यह उपचार किया है' – ऐसा समझना चाहिए।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय 7, पृष्ठ 251, सोनगढ़)

(3) निमित्त की मुख्यता से कथन आता है, किन्तु निमित्त की मुख्यता से कार्य नहीं होता– ऐसा व्यवहार कथन का अभिप्राय जानना चाहिए।

प्रश्न 41 – किस द्रव्य के कितने प्रदेश हैं ?

उत्तर – जीव, धर्म, अधर्म और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं; पुद्गल को संख्यात, असंख्यात और अनन्त – इस प्रकार तीनों प्रकार के प्रदेश हैं; कालद्रव्य और पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी हैं; आकाश अनन्त प्रदेशी हैं।

प्रश्न 42 – प्रत्येक जीव कितना बड़ा है ?

उत्तर – प्रत्येक जीव प्रदेशों की संख्या अपेक्षा से लोकाकाश के बराबर असंख्य प्रदेशवाला है, किन्तु सङ्कोच–विस्तार के कारण वह अपने शरीर–प्रमाण है और मुक्त जीव अन्तिम शरीर प्रमाण, किन्तु वह शरीर से किञ्चित् न्यून आकार का होता है।

प्रश्न 43 – लोकाकाश के बराबर कौन जीव होता है ?

उत्तर – मोक्ष जाने से पूर्व समुद्घात[1] करनेवाला जीव लोकाकाश के बराबर बड़ा होता है।

प्रश्न 44 – जीवद्रव्य किस क्षेत्र में कभी नहीं जाता ? और उसका कारण क्या ?

उत्तर – वह अलोकाकाश में कभी नहीं जाता, क्योंकि वह लोक का द्रव्य है।

---

1. मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकलना, उसे समुद्घात कहते हैं।

प्रश्न 45 – एक जीव कम से कम स्थान ले तो वह लोकाकाश के कितने प्रदेश रोकेगा ?

उत्तर – जीव की जघन्य अवगाहना भी असंख्य प्रदेशों में होती है। जीव को अवगाहना संख्यात या एक प्रदेशी कभी नहीं होती।

प्रश्न 46 – आकाश को अवगाहन में कौन निमित्त है ?

उत्तर – वही स्वयं को अवगाहन में निमित्त है।

प्रश्न 47 – कालद्रव्य असंख्य हैं, उसे परिणमन में कौन निमित्त हैं ?

उत्तर – वह स्वयं ही अपने को परिणमन में निमित्त है।

प्रश्न 48 – लोकाकाश की सीमा बतलानेवाले कौन से द्रव्य हैं ?

उत्तर – धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय।

प्रश्न 49 – समस्त द्रव्यों को चेतन, अचेतन (जड़) – ऐसे दो विभागों में रखिये।

उत्तर – चेतन मात्र जीव है और शेष पाँच द्रव्य अचेतन (जड़) हैं।

प्रश्न 50 – अरूपी और अचेतन ऐसे कितने द्रव्य हैं ?

उत्तर – चार हैं – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल।

प्रश्न 51 – आकाश के एक प्रदेश में कितने परमाणु पृथक् और कितने स्कन्ध रह सकते हैं ?

उत्तर – (1) आकाश के एक प्रदेश में सर्व परमाणुओं को स्थान देने का सामर्थ्य है।

(2) सर्व परमाणुओं और सूक्ष्म स्कन्धों को अवकाश देने में वह एक प्रदेश समर्थ हैं। *(वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 27 और उसकी टीका)*

प्रश्न 52 – छह द्रव्यों में क्षेत्रान्तररूप क्रियावती[1] शक्तिवाले कितने और परिणमनरूप भाववतीशक्तिवाले कितने द्रव्य हैं ?

उत्तर – जीव और पुद्गल – यह दो द्रव्य क्षेत्रान्तर करने की शक्तिवाले होने से क्रियावतीशक्तिवाले हैं और छहों द्रव्य निरन्तर परिणमनशील होने से भाववतीशक्तिवाले हैं।

प्रश्न 53 – अनन्त पुद्गल परमाणु तथा सूक्ष्म स्कन्ध, लोकाकाश के एक प्रदेश में अवगाहना प्राप्त करें – एक प्रदेश को रोकें, तो एक–दूसरे को बाधा होगी या नहीं ?

उत्तर – नहीं; सर्व पदार्थों को एक ही काल में अवकाशदान देने का असाधारण गुण आकाश का है, तथा दूसरे सूक्ष्म पदार्थ में भी अवकाशदान देने का गुण है। एक आकाश प्रदेश में अमर्यादित अवकाशदान शक्ति है।

प्रश्न 54 – ऐसे कौन से द्रव्य हैं कि जो मात्र क्रियावती–शक्तिवाले द्रव्यों को ही निमित्त हों ?

उत्तर – जीव और पुद्गलद्रव्य ही क्रियावतीशक्तिवाले – गति करनेवाले और गतिपूर्वक स्थिर होनेवाले द्रव्य हैं; उन्हें अनुक्रम से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय निमित्त हैं।

---

1. जीव और पुद्गल में क्रियावतीशक्ति नाम का गुण नित्य है। उस शक्ति के कारण वे दोनों द्रव्य उस समय की योग्यतानुसार स्वत: गमन करते हैं या स्थिर रहते हैं। कोई द्रव्य (जीव या पुद्गल) एक दूसरे को गमन या स्थिर नहीं करा सकता)

प्रश्न 55 – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अनन्तरूप से किन-किन की संख्या अधिक है?

उत्तर – (1) **द्रव्य अपेक्षा से** पुद्गल परमाणु द्रव्यों की संख्या सबसे बड़ी है। उनकी संख्या अनन्त जीवराशि से अनन्तानन्त गुनी है।

(2) **क्षेत्र अपेक्षा से** त्रिकालवर्ती समयों की संख्या से अनन्तगुनी संख्या आकाशद्रव्य के प्रदेशों की है; इसलिए क्षेत्र अपेक्षा से आकाशद्रव्य सबसे बड़ा है।

(3) **काल अपेक्षा से** प्रत्येक द्रव्य के स्वकालरूप अनादि-अनन्त पर्यायें, पुद्गलद्रव्य की संख्या से अनन्तगुनी हैं। वे काल अपेक्षा से अनन्त हैं, अथवा भूतकाल के अनन्त समयों की अपेक्षा भविष्य काल के समयों की संख्या अनन्तगुनी अधिक है।

(4) **भाव अपेक्षा से** जीवद्रव्य के ज्ञानगुण के एक समय के केवलज्ञान पर्याय के अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या सबसे अनन्तगुनी हैं; वह भाव अपेक्षा से अनन्त हैं।

प्रश्न 56 – उक्त कथन से क्या समझना?

उत्तर – केवलज्ञान में त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थों का सम्पूर्ण स्वरूप प्रत्येक समय में सर्व प्रकार से युगपत् (एक साथ) स्पष्ट ज्ञात होता है – ऐसी केवलज्ञान की अचिन्त्य अपार शक्ति है और प्रत्येक आत्मा का शक्तिरूप से ऐसा ही स्वभाव है।

प्रश्न 57 – 'अर्थ' किसे कहते हैं?

उत्तर – द्रव्यों, गुणों और उनकी पर्यायों को 'अर्थ' नाम से कहा है। उनमें गुण-पर्यायों का आत्मा, द्रव्य है। (अर्थात् गुणों

और पर्यायों का स्वरूप-सत्व द्रव्य ही है, वे भिन्न वस्तु नहीं हैं) – ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। *(प्रवचनसार, गाथा 87)*

'ऋ' धातु से 'अर्थ' शब्द बना है। 'ऋ' अर्थात् पाना, प्राप्त करना, पहुँच जाना। 'अर्थ' अर्थात् जो पाये, प्राप्त करे, पहुँचे वह; अथवा जिसे पाया जाये, प्राप्त किया जाये – पहुँचा जाये वह।

जो गुणों और पर्यायों को पायें – प्राप्त करें – पहुँचें, अथवा जो गुणों और पर्यायों द्वारा पाये जायें – प्राप्त किये जाऐं – पहुँचे जाए – ऐसे 'अर्थ' वे द्रव्य है।

जो द्रव्यों को आश्रयरूप से पाये – प्राप्त करें – पहुँचे, अथवा जो आश्रयभूत द्रव्यों द्वारा पाये जायें – प्राप्त किये जायें – पहुँचे जायें – ऐसे 'अर्थ' वे गुण हैं।

जो द्रव्यों को क्रमपरिणाम से पायें –प्राप्त करें – पहुँचे अथवा जो द्रव्यों द्वारा क्रमपरिणाम से (क्रमशः होनेवाले परिणाम से) पाये जायें –प्राप्त किये जायें, – पहुँचें जायें – ऐसे 'अर्थ' वे पर्यायें हैं। *(प्रवचनसार, गाथा 87 की टीका)*

प्रश्न 58 – उपरोक्तानुसार 'अर्थ' की व्यवस्था से संक्षेप में क्या समझें ?

उत्तर – अर्थ (पदार्थ), अर्थात् द्रव्य – गुण और पर्यायें – इनके अतिरिक्त विश्व में दूसरा कुछ नहीं है और इन तीन में, गुणों और पर्यायों का आत्मा, (उनका सर्वस्व) द्रव्य ही है। ऐसा होने से किसी द्रव्य के गुण और पर्यायें अन्य द्रव्य के गुणों और पर्यायोंरूप अंशतः भी नहीं होते। सर्व द्रव्य अपने-अपने गुण-

पर्यायों में रहते हैं – ऐसी पदार्थों की स्थिति मोहक्षय के निमित्तभूत पवित्र जिनशास्त्रों में कही है। *(प्रवचनसार, गाथा 87 की टीका)*

प्रश्न 59 – लोकाकाश में असंख्यात ही प्रदेश हैं, तो उसमें अनन्त प्रदेशी पुद्गलद्रव्य तथा अन्य द्रव्य भी कैसे रह सकेंगे ?

उत्तर – पुद्गलद्रव्य में दो प्रकार का परिणमन होता है – एक सूक्ष्म, दूसरा स्थूल। जब उसका सूक्ष्म परिणमन होता है, तब लोकाकाश में एक प्रदेश में भी अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध रह सकता है। पुनश्च, समस्त द्रव्यों में एक-दूसरे को अवगाहन देने का सामर्थ्य है, इसलिए अल्प क्षेत्र में ही सर्व द्रव्यों के रहने में कोई बाधा नहीं होती। आकाश में समस्त द्रव्यों को एक ही साथ अवकाशदान देने का सामर्थ्य है; इसलिए एक प्रदेश में अनन्तानन्त परमाणु रह सकते हैं। जिस प्रकार किसी कमरे में एक दीपक का प्रकाश रह सकता है और उसी कमरे में उतने ही विस्तार में पचास दीपकों का प्रकाश रह सकता है, तदनुसार।

(मोक्षशास्त्र (हिन्दी), अध्याय -5, सूत्र 10 की टीका)

प्रश्न 60 – द्रव्य का लक्षण क्या है ?

उत्तर – (1) **सद्द्रव्यलक्षणम्।**

(मोक्षशास्त्र, अध्याय -5, सूत्र 29)

अर्थात् – द्रव्य का लक्षण सत् (अस्तित्व) है।

विशेषार्थ – जिसके 'है' पना (अस्तित्व) हो, वह द्रव्य है। 'अस्तित्व' गुण द्वारा 'द्रव्य' को पहिचाना जा सकता है; इसलिए इस सूत्र में 'सत्' को द्रव्य का लक्षण कहा है; जिसके-जिसके अस्तित्व ही, वह-वह द्रव्य है – ऐसा यह सूत्र प्रतिपादन करता है।

सामान्य गुणों में 'सत्' (अस्तित्व) मुख्य है क्योंकि उसके द्वारा वस्तु का (द्रव्य का) अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि द्रव्य हो, तभी दूसरे गुण हो सकते हैं; इसलिए 'सत्' को यहाँ द्रव्य का लक्षण कहा है।

द्रव्य सत् है, इसलिए वह अपने से है – ऐसा 'सत्' लक्षण कहने से सिद्ध हुआ। उसका अर्थ यह हुआ कि वह स्व-रूप है और पर-रूप से नहीं है। इस प्रकार 'अनेकान्त' सिद्धान्त से यह सूत्र बतलाता है कि एक द्रव्य स्वयं अपना सबकुछ कर सकता है, किन्तु दूसरे द्रव्य का कभी कुछ नहीं कर सकता।

प्रत्येक द्रव्य 'सत्' लक्षणवाला है, इसलिए वह स्वतः सिद्ध है। वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता, वह स्वतन्त्र है।

(मोक्षशास्त्र, अध्याय, 5, सूत्र 29 की टीका)

(2) एक द्रव्य में भूत, वर्तमान और भविष्य सम्बन्धी जितनी गुणों के परिणमनरूप अर्थपर्यायें तथा द्रव्य के आकारादि परिणमनरूप व्यञ्जनपर्यायें हैं, उतने मात्र को द्रव्य जानना क्योंकि द्रव्य उनसे पृथक् नहीं है। अपनी त्रैकालिक सर्व पर्यायों का समूह, वह द्रव्य है। *(गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 581)*

प्रश्न 61 – सत् का लक्षण क्या है ?

उत्तर – (1) उत्पाद व्यय ध्रौव्युक्त सत्।

अर्थात् जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित हो, वह सत् है।

(मोक्षशास्त्र, अध्याय 5, सूत्र 30)

उत्पाद :- द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं; जैसे कि मिट्टी से घड़े का उत्पाद।

व्यय :- पूर्व पर्याय के नाश को व्यय कहते हैं; जैसे – घट

की पर्याय का उत्पाद होने पर मिट्टी की पिण्ड पर्याय का व्यय।

ध्रौव्य :- दोनों पर्यायों में (उत्पाद और व्यय में) द्रव्य का सदृशतारूप स्थायी रहना, उसे ध्रौव्य कहते हैं; जैसे कि पिण्ड और घट पर्याय में मिट्टी का नित्य स्थायी रहना।

(2) द्रव्य का लक्षण सत् है; इसलिए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – इन तीनों से युक्त सत् ही द्रव्य का लक्षण है। इन तीनों से युगपत् (एक ही समय में) युक्त मानने से ही सत् सिद्ध होता है। वस्तु स्वतः सिद्ध है; उसी प्रकार वह स्वतः परिणमनशील भी है; इसलिए यहाँ वह सत् नियम से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है।

(पञ्चाध्यायी, भाग 1, गाथा 86-89)

(3) प्रत्येक पदार्थ में पूर्व पर्याय का नाश होकर ही नवीन पर्याय का उत्पाद होता है, किन्तु ऐसा होने पर भी वह अपनी (प्रवाहरूप) धारा को नहीं छोड़ता। इससे ज्ञात होता है कि पदार्थ उत्पादादि त्रयात्मक है, किन्तु यहाँ उस उत्पाद और व्यय को भिन्न कालवर्ती न लेकर एक कालवर्ती (एक समयवर्ती) ही लेना चाहिए क्योंकि पूर्व पर्याय के व्यय का जो समय है, वही नवीन पर्याय के उत्पाद का समय है। दूध का विनाश और दही का उत्पाद भिन्नकालवर्ती नहीं है। इस प्रकार उत्पाद और व्यय एक कालवर्ती सिद्ध होने से सत् युगपत् उत्पादादि त्रयात्मक सिद्ध होता है.....' ***(पण्डित फूलचन्दजी द्वारा सम्पादित पञ्चाध्यायी; अध्याय 1, गाथा 85 से 96 का विशेषार्थ)***

(4) प्रत्येक द्रव्य सदैव स्वभाव में रहता है, इसलिए 'सत्' है। वह स्वभाव, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है। जिस प्रकार द्रव्य के विस्तार का छोटे से छोटा अंश, वह प्रदेश है, उसी

प्रकार द्रव्य के प्रवाह का छोटे से छोटा अंश, वह परिणाम है। प्रत्येक परिणाम स्व-काल में अपनेरूप से उत्पन्न होता है, पूर्वरूप से विनष्ट होता है और सर्व परिणामें में एक प्रवाहपना होने से प्रत्येक परिणाम उत्पाद-व्ययरहित एकरूप ध्रुव रहता है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में समय भेद नहीं है, तीनों ही एक समय में हैं। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-ध्रौव्यात्मक परिणामों की परम्परा में द्रव्य, स्वभाव से ही सदैव रहता है, इसलिए द्रव्य स्वयं भी मोतियों के हार की भाँति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

(प्रवचनसार, गाथा 99 का अर्थ)

(5) 'बीज, अङ्कुर और वृक्षत्व - यह वृक्ष के अंश हैं। बीज का नाश, अङ्कुर का उत्पाद और वृक्षत्व का ध्रौव्य (ध्रुवता) तीनों एक ही साथ हैं। इस प्रकार नाश, बीज के आश्रित है, उत्पाद, अङ्कुर के आश्रित है और ध्रौव्य, वृक्षत्व के आश्रित है। नाश-उत्पाद-ध्रौव्य, बीज-अङ्कुर-वृक्षत्व से भिन्न पदार्थरूप नहीं है और बीज-अङ्कुर-वृक्षत्व भी वृक्ष से भिन्न पदार्थरूप नहीं है; इसलिए वे सब एक वृक्ष ही हैं। इसी प्रकार नष्ट होनेवाला भाव, उत्पन्न होनेवाला भाव और स्थित रहनेवाला ध्रौव्यभाव, वे सब द्रव्य के अंश हैं। नष्ट होनेवाले भाव का नाश, उत्पन्न होनेवाले भाव का उत्पाद और स्थित रहनेवाले स्थायी भाव की ध्रुवता एक ही साथ है। इस प्रकार नाश, नष्ट होनेवाले भाव के आश्रित हैं; उत्पाद, उत्पन्न होनेवाले भाव के आश्रित है। नाश-उत्पाद-ध्रौव्य, वे भावों से भिन्न पदार्थरूप नहीं है और वे भाव भी द्रव्य से भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं; इसलिए यह सब एक द्रव्य ही है।'

(प्रवचनसार, गाथा 101 का भावार्थ)

(6) इस सूत्र में सत् का अनेकान्तपना बतलाया है। यद्यपि त्रिकाल अपेक्षा से सत् 'ध्रुव' है, तथापि प्रति समय नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय व्यय को प्राप्त होती है, अर्थात् द्रव्य में समा जाती है; वर्तमान काल की अपेक्षा अभावरूप होती है। इस प्रकार कथञ्चित् नित्यपना और कथञ्चित् अनित्यपना – वह द्रव्य का अनेकान्तपना है।

(मोक्षशास्त्र (हिन्दी), अध्याय 5, सूत्र 30 की टीका)

(7) इस सूत्र में पर्याय का भी अनेकान्तपना बतलाया है। उत्पाद, वह अस्तिरूप पर्याय है और व्यय, वह नास्तिरूप पर्याय है। अपनी पर्याय अपने से होती है और पर से नहीं होती – ऐसा 'उत्पाद' से बतलाया है। अपनी पर्याय की नास्ति-(अभाव) भी अपने से ही होती है, पर से नहीं होती। 'प्रत्येक द्रव्य का उत्पाद और व्यय स्वतन्त्र उस-उस द्रव्य से है।' ऐसा बतलाकर द्रव्य, गुण तथा पर्याय की स्वतन्त्रता प्रगट की-पर का असहायकपना बतलाया है।'

(मोक्षशास्त्र (हिन्दी), अध्याय 5, सूत्र 30 की टीका -प्रकाशक जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़)

(8) धर्म (शुद्धता) आत्मा में द्रव्यरूप से त्रिकाल भरपूर है; अनादि से जीव की पर्यायरूप में धर्म प्रगट नहीं हुआ, किन्तु जब जीव, पर्याय में धर्म व्यक्त करे, तब वह व्यक्त होता है। इस प्रकार 'उत्पाद' शब्द का उपयोग करके बतलाया और उसी समय विकार का व्यय होता है – ऐसा 'व्यय' शब्द का भी उपयोग कर दिखाया है। वह अविकारीभाव प्रगट होने का और विकारीभाव जाने का लाभ, त्रिकाल स्थायी रहनेवाले ऐसे ध्रुव द्रव्य को प्राप्त होता है – इस प्रकार 'ध्रौव्य' शब्द को अन्तिम रखा।

(मोक्षशास्त्र (हिन्दी), अध्याय 5, सूत्र 30 की टीका)

प्रश्न 62 – सत्, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप त्रयात्मक है – इस कथन में क्या आध्यात्मिक रहस्य भरा है ?

उत्तर – प्रत्येक द्रव्य एक समय में अपने उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप त्रिस्वभाव का स्पर्श करता है, उसी समय निमित्त होने पर भी, द्रव्य उनका स्पर्श नहीं करते। सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ आत्मा उस सम्यग्दर्शन के उत्पाद को, मिथ्यात्व के व्यय को और श्रद्धारूप अपनी ध्रुवता को स्पर्श करता है, किन्तु सम्यक्त्व के निमित्तभूत ऐसे देव, गुरु या शास्त्र को स्पर्श नहीं करता; वे तो भिन्नस्वभावी पदार्थ है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति, मिथ्यात्व का व्यय तथा श्रद्धापने की अखण्डतारूप ध्रुवता – इन तीनों का आत्मा में ही समावेश होता है, किन्तु इनके अतिरिक्त जो बाह्य निमित्त हैं, उनका समावेश आत्मा में नहीं होता। प्रति समय उत्पाद–व्यय–ध्रुवतारूप द्रव्य का अपना स्वभाव है और उस स्वभाव का ही प्रत्येक द्रव्य स्पर्श करता है, अर्थात् अपने स्वभावरूप ही वर्तता है, किन्तु परद्रव्य के कारण किसी के उत्पाद–व्यय–ध्रुव नहीं है। परद्रव्य भी उसके अपने ही उत्पाद–व्यय–ध्रुव स्वभाव में अनादि अनन्त वर्तता है और यह आत्मा भी अपने उत्पाद–व्यय–ध्रुव स्वभाव में ही अनादि–अनन्त वर्तता है – ऐसा समझनेवाले ज्ञानी को अपने आत्मा के उत्पाद–व्यय–ध्रुव के अतिरिक्त बाह्य में कोई भी कार्य किञ्चित्मात्र अपना भासित नहीं होता, इसलिए उत्पाद–व्यय–ध्रुवस्वरूप अपना जो आत्मा है, उसके आश्रय से निर्मलता का ही उत्पाद होता जाता है; मलिनता का व्यय होता जाता है और ध्रुवता का अवलम्बन बना ही रहता है – इसका नाम धर्म है।

अजीवद्रव्य भी अपने उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप त्रिस्वभाव का

स्पर्श करता है, पर का स्पर्श नहीं करता। जैसे कि मिट्टी के पिण्ड में से घड़ा हुआ; वहाँ पिण्ड अवस्था के व्यय को, घट अवस्था के उत्पाद को और मिट्टीपने की ध्रुवता को वह मिट्टी स्पर्श करती है, किन्तु वह कुम्हार को, चाक को, डोरी को या अन्य किसी परद्रव्य को स्पर्श नहीं करती; और कुम्हार भी हाथ के हलन-चलनरूप अपनी अवस्था जो उत्पाद हुआ, उस उत्पाद का स्पर्श करता है, किन्तु अपने से बाह्य ऐसे घड़े को वह स्पर्श नहीं करता।

जगत् में छहों द्रव्य एक ही क्षेत्र में विद्यमान होने पर भी कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वभाव को स्पर्श नहीं करता; अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप स्वभाव में ही प्रत्येक द्रव्य वर्तता है, इसलिए वह अपने स्वभाव को ही स्पर्श करता है।

देखो, यह सर्वज्ञदेव कथित वीतरागी भेदज्ञान! निमित्त-उपादान का स्पष्टीकरण भी इसमें आ जाता है। उपादान और निमित्त, यह दोनों पदार्थ एक साथ प्रवर्तमान होने पर भी उपादानरूप पदार्थ अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप स्वभाव का ही स्पर्श करता है; निमित्त का किञ्चित् भी स्पर्श नहीं करता और निमित्तभूत पदार्थ भी उसके अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप स्वभाव का ही स्पर्श करता है; उपादान का वह किञ्चित् स्पर्श नहीं करता। उपादान और निमित्त दोनों पृथक्-पृथक् अपने-अपने स्वभाव में ही वर्तते हैं, परिणमन करते हैं।

अहो! पदार्थों का यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव भलीभाँति पहिचान ले तो भेदज्ञान होकर स्वद्रव्य के ही आश्रय से निर्मल पर्याय का उत्पाद और मलिनता का व्यय हो – उसका नाम धर्म

है और वही सर्वज्ञ भगवान के सर्व उपदेश का तात्पर्य है।

(वी०सं० 2481 आसोज मास का आत्मधर्म अङ्क पत्र 301-2 से उद्धृत)

प्रश्न 63 – दूसरे प्रकार से द्रव्य का लक्षण क्या है ?

उत्तर – 1. गुणपर्ययवत् द्रव्यम्

अर्थात् द्रव्य, गुण–पर्यायावाला है। *[मोक्षशास्त्र, अध्याय 5, सूत्र 38]*

2. गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यम्

अर्थात् गुणों तथा पर्यायों का समुदाय, वह द्रव्य है।

[पञ्चाध्यायी भाग 1, गाथा 72]

3. गुणसमुदायो द्रव्यम्

अर्थात् गुणों का समुदाय, वह द्रव्य है।

[पञ्चाध्यायी भाग 1, गाथा 73]

4. **समगुणपर्यायो द्रव्यम्**

अर्थात् समगुण–पर्यायों को (युगपत सम्पूर्ण गुण–पर्यायों को ही) द्रव्य कहते हैं। *[पञ्चाध्यायी भाग 1, गाथा 73]*

स्पष्टार्थ – देश[1], देशांश, गुण और गुणांशरूप स्वचतुष्टय को ही एक साथ एक शब्द द्वारा द्रव्य कहते हैं। भेद–विवक्षा से द्रव्य का स्वरूप समझाने के लिए स्वचतुष्टय का निरूपण किया है; उसी को अभेद–विवक्षा से एक शब्द में 'द्रव्य' कहा जाता है। यही 'समगुणपर्याय' शब्द का स्पष्टीकरण है।

[पञ्चाध्यायी भाग 1, गाथा 74]

5. 'द्रव्यत्वयोपाद् द्रव्यम्'

अर्थात् द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य है। यह भी प्रमाण है।

---

1. देश-द्रव्य; देशांश-क्षेत्र; गुण-भाव; गुणांश-पर्याय-काल

किस प्रकार ? गुण-पर्यायों को द्रवित हुए बिना द्रव्य नहीं होता; इसलिए द्रवित होना द्रव्यत्वगुण से है; (द्रव्य स्वयं) द्रवित होकर गुण-पर्याय में व्याप्त होकर उसे प्रगट करता है, इसलिए द्रव्यत्व (गुण) की विवक्षा से '**द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम्**' - द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य है... द्रव्य, गुण-पर्यायों को द्रवित करता है; गुण -पर्याय, द्रव्य को द्रवित रखते हैं, इसलिए वे 'द्रव्य' नाम प्राप्त करते हैं... अपने स्वभावरूप से **द्रव्य स्वतः परिणमित होता है, इसलिए (वह) स्वतः सिद्ध कहलाता है।**

(- इस प्रकार 'सत्ता', 'गुण-पर्यायवाला', 'गुणो का समुदाय', 'द्रव्यत्व का सम्बन्ध' आदि लक्षण प्रमाण हैं। उनमें से किसी एक को जब मुख्य करके कहा जाता है, तब शेष लक्षण भी उसमें गर्भितरूप से आ ही जाते हैं - ऐसा जानना।) *(चिद्विलास, पृष्ठ 3 से)*

विशेषार्थ - (1) यहाँ मुख्यता से द्रव्य के लक्षण का विचार किया गया है। ऐसा करते हुए ग्रन्थकार ने विविध आचार्यों के अभिप्रायानुसार तीन लक्षण कहे हैं।

प्रथम लक्षण में द्रव्य को गुण-पर्यायवाला बतलाया है। बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणों का और क्रमरूप होनेवाली उनकी पर्यायों का पिण्डमात्र है। इसका अर्थ यह है कि जिससे धारा में (प्रवाह में) एकतारूप बनी रहती है, वह गुण है और जिससे उसमें भेद प्रतीत होते हैं, वह पर्याय है। जीव में ज्ञान की धारा का विच्छेद कभी नहीं होता, इसलिए ज्ञान, वह गुण हैं, किन्तु कभी-कभी वह मतिज्ञानरूप होता है और कभी अन्यरूप होता है, इसलिए मतिज्ञानादि उसकी पर्यायें हैं। द्रव्य सदैव गुण-पर्यायोंरूप रहता है, इसलिए उसे गुण-पर्यायोंवाला कहा है।

– इसी प्रकार यद्यपि द्रव्य, गुण–पर्यायवाला अथवा गुण और पर्यायों के समुदायमात्र प्राप्त होता है, तथापि कुछ आचार्य गुणों के समुदाय को द्रव्य कहते हैं। इस लक्षण में विविध अवस्थाओं की अविवक्षा करके (गौण करके) यह कथन किया गया है; इसलिए उसे पूर्वोक्त लक्षण का विरोधी न मानकर उसका पूरक ही मानना चाहिए।

तथापि गुण पर्यायोंवाला अथवा गुणवाला द्रव्य है – ऐसा कथन करने से गुण और पर्याय भिन्न प्रतीत होते हैं और द्रव्य भिन्न प्रतीत होता है; इसलिए इस दोष के निवारणार्थ कुछ आचार्य, द्रव्य का लक्षण समगुणपर्याय कहते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि देश, देशांश तथा गुण और गुणांश – यह पृथक्–पृथक् न होकर परस्पर (एक–दूसरे से) अभिन्न है। इनमें से किसी को भी पृथक् करना शक्य नहीं है। जिस प्रकार – वृक्ष तना, डाल, आदिरूप होता है, उसी प्रकार देश, देशांश, गुण और गुणांशमय द्रव्य है... पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से गुण, गुणांश आदि को पृथक्–पृथक् कहा जाता है, किन्तु द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से एक अखण्ड द्रव्य ही है... ***(पञ्चाध्यायी, अध्याय - 1, गाथा 72 से 74 तक के विशेषार्थ में से। पण्डित फूलचन्दजी सम्पादित हिन्दी आवृत्ति से)***

(2) 'मोक्षशास्त्र' अध्याय – 5, सूत्र – 29–30 में कहे गये लक्षण से यह लक्षण (गुणपर्यायवत् द्रव्यम्) भिन्न नहीं है, शब्दभेद है, किन्तु भावभेद नहीं है। पर्याय से उत्पाद–व्यय की और गुण से ध्रौव्य की प्रतीति हो जाती है।

गुण को अन्वय, सहवर्तीपर्याय अथवा अक्रमवर्तीपर्याय भी कहते हैं; तथा पर्याय को व्यतिरेकी अथवा क्रमवर्ती कहते हैं।

द्रव्य का स्वभाव गुण-पर्यायरूप है - ऐसा सूत्र में कहकर द्रव्य का अनेकान्तपना सिद्ध किया है।

द्रव्य, गुण और पर्याय वस्तुरूप से अभेद-अभिन्न हैं। नाम, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से द्रव्य, गुण और पर्याय में भेद है, किन्तु प्रदेश से अभेद है। इस प्रकार वस्तु का भेदाभेद स्वरूप समझना चाहिए।' ***(मोक्षशास्त्र, अध्याय 5, सूत्र 38 की टीका)***

✯✯✯✯✯

प्रकरण दूसरा
गुण अधिकार

प्रश्न 1 – समस्त विश्व तीन पदार्थों में समा जाता है; तो वे तीन पदार्थ कौन से हैं?

उत्तर – छह द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायें।[1]

प्रश्न 2 – छहों द्रव्यों के द्रव्य–गुण–पर्याय को जानने का फल क्या?

उत्तर – स्व–पर का भेदज्ञान और परपदार्थों की कर्तृत्वबुद्धि का अभाव।

प्रश्न 3 – गुण किसे कहते हैं?

उत्तर – जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में और उसकी सर्व अवस्थाओं में रहे, उसे गुण कहते हैं।

प्रश्न 4 – 'गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं' – इन शब्दों पर से द्रव्य और गुण का संख्या भेद कहिये।

उत्तर – द्रव्य एक, गुण अनेक।

---

1. गुणों के विशेष कार्य को (परिणमन को) पर्याय कहते हैं।

प्रश्न 5 – जिस प्रकार थैली में रुपये हैं, उसी प्रकार द्रव्य में गुण होंगे ?

उत्तर – नहीं।

प्रश्न 6 – तो फिर द्रव्य में गुण किस प्रकार रहते हैं ?

उत्तर – जिस प्रकार गुड़ में मिठास, रङ्ग आदि एकमेकरूप से रहते हैं, उसी प्रकार द्रव्य में गुण एकमेकरूप से रहते हैं।

प्रश्न 7 – गुण की व्याख्या में से क्षेत्रवाचक और कालवाचक शब्द बतलाइये ?

उत्तर – 'सम्पूर्ण भाग में' – यह क्षेत्र बतलाता है; 'सर्व अवस्थाओं में' – यह काल बतलाता है।

प्रश्न 8 – 'सम्पूर्ण भाग में' – इस कथन से क्या समझें ?

उत्तर – जितना द्रव्य का क्षेत्र है, उतना ही गुणों का क्षेत्र होता है; किसी का क्षेत्र कभी छोटा-बड़ा नहीं होता।

प्रश्न 9 – 'सर्व अवस्थाओं' का क्या तात्पर्य ?

उत्तर – द्रव्य की तीनों काल की अनादि-अनन्त अवस्थाएँ।

प्रश्न 10 – द्रव्य पहले या गुण ?

उत्तर – दोनों अनादि अनन्त होने से पहले या पश्चात् कोई नहीं है।

प्रश्न 11 – संख्या अपेक्षा से द्रव्य, गुण और पर्याय की तुलना करो।

उत्तर – द्रव्य एक और उसके गुण तथा पर्यायें अनेक।

प्रश्न 12 – गुण की व्याख्या में से 'द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में' – यह शब्द निकाल दें तो क्या दोष आयेगा ?

उत्तर – क्षेत्र अपेक्षा से गुण द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में व्याप्त है। व्याख्या में से 'सम्पूर्ण भाग में' – यह शब्द निकाल दें तो निम्नोक्त दोष आएँगे –

(1) गुण, द्रव्य के अधूरे भाग में रहने से शेष भाग का द्रव्य गुणरहित हो जाएगा और ऐसा होने से द्रव्य का भी नाश होगा।

(2) जिस प्रकार – जितनी बड़ी मिश्री की डली है, उसके उतने ही भाग में अपने मिठास (रसादि) आदि गुण हैं; उसी प्रकार जितने भाग में द्रव्य, उसके उतने ही भाग में गुण – ऐसी जो क्षेत्र अपेक्षा है, वह मर्यादा नही रहेगी।

प्रश्न 13 – गुण की व्याख्या में से काल अपेक्षा बतलानेवाले – 'सर्व अवस्थाओं में' – यह शब्द निकाल दें तो क्या दोष आयेगा ?

उत्तर – काल अपेक्षा से द्रव्य में अनादि-अनन्त सर्व अवस्थाओं में रहे, वह गुण – ऐसी व्याख्या नहीं हो सकेगी और उससे निम्नोक्त दोष आएँगे –

(1) गुण, द्रव्य के अमुक काल में रहेगा, इसलिए शेष काल में द्रव्य, गुण रहित होने से द्रव्य का ही नाश हो जाएगा।

(2) किसी काल में ही गुण का अस्तित्व (सत्ता) मानने से द्रव्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक रहनेरूप गुण की मर्यादा नहीं रहेगी।

प्रश्न 14 – गुणों के कितने प्रकार हैं ?

उत्तर – दो – (1) सामान्य और (2) विशेष।

प्रश्न 15 – सामान्य गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो सर्व द्रव्यों में हो, उसे सामान्य गुण कहते हैं।

प्रश्न 16 – विशेष गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो सर्व द्रव्यों में न हो, किन्तु खास अपने-अपने द्रव्य में हो, उसे विशेष गुण कहते हैं।

प्रश्न 17 – सामान्य गुणों का क्षेत्र बड़ा या विशेष गुणों का ?

उत्तर – प्रत्येक द्रव्य में सामान्य और विशेष गुणों का क्षेत्र एक-सा ही होता है, क्योंकि गुण का लक्षण बतलाया उसमें कहा था कि गुण, द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में रहता है।

प्रश्न 18 – सामान्य और विशेष गुणों में प्रथम कौन और पश्चात् कौन ?

उत्तर – दोनों एक साथ अनादिकालीन हैं; प्रथम या पश्चात् कोई नहीं है।

प्रश्न 19 – प्रत्येक द्रव्य में रहनेवाले प्रत्येक गुणों को भिन्न-भिन्न किस आधार से जानोगे ?

उत्तर – प्रत्येक गुण के भिन्न-भिन्न लक्षणों से।

प्रश्न 20 – किस अपेक्षा से द्रव्य से गुण पृथक् नहीं होते ?

उत्तर – प्रत्येक अपेक्षा से पृथक् नहीं होते, क्योंकि द्रव्य और गुणों का क्षेत्र एक ही है।

प्रश्न 21 – प्रत्येक द्रव्य के गुणों के प्रदेश भिन्न-भिन्न मानने में क्या दोष जाएगा ?

उत्तर – ऐसा माना जाए तो द्रव्य के आश्रय से गुण न रहेंगे और जितने गुण हैं, उतने अलग–अलग द्रव्य हो जाएँगे, तथा इस द्रव्य का यह गुण है – ऐसी मर्यादा नहीं रहेगी।

प्रश्न 22 – गुण की व्याख्या में द्रव्य–क्षेत्र–काल और भाव किस प्रकार आते हैं ?

उत्तर – (1) **'द्रव्य'** द्रव्य को बतलाता है।

(2) **'सम्पूर्ण भाग में'** – यह क्षेत्र बतलाता है।

(3) **'सर्व अवस्थाओं में'** – यह काल बतलाता है।

(4) **'गुण'** – यह भाव बतलाता है।

प्रश्न 23 – द्रव्य और उसके गुणों में, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की तुलना करो।

उत्तर – द्रव्य और गुण के द्रव्य–क्षेत्र और काल एक – से है; किन्तु उनके भावों में अन्तर है।

प्रश्न 24 – द्रव्य और गुणों में संज्ञा, संख्या और लक्षण की अपेक्षा से भेद बतलाओ ?

उत्तर – **(1) संज्ञा** – दोनों के नाम में भेद है।

(2) संख्या – द्रव्य एक और गुण अनेक होते हैं।

(3) लक्षण – 'गुणों का समूह, वह द्रव्य' – यह द्रव्य का लक्षण है; और 'जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में तथा उसकी सर्व अवस्थाओं में रहे, वह गुण' – यह गुण का लक्षण है। इस प्रकार लक्षण से भी द्रव्य और गुण में भेद है।

प्रश्न 25 – प्रत्येक गुण के कार्यक्षेत्र की मर्यादा क्या है ?

उत्तर – प्रत्येक गुण अपने स्वद्रव्य के क्षेत्र में निरन्तर अपना ही कार्य करता है; कभी पर का या अन्य गुण का कार्य नहीं करता – ऐसी प्रत्येक गुण के कार्यक्षेत्र की मर्यादा है।

सामान्य गुण

प्रश्न 26 – ऐसा कौन–सा द्रव्य है कि जिसमें सामान्य गुण नही होते?

उत्तर – ऐसा कोई द्रव्य नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुण होते हैं।

प्रश्न 27 – द्रव्य में सामान्य गुण न हो तो क्या दोष? और विशेष गुण न हो तो क्या?

उत्तर – (1) सामान्य गुण न हो तो द्रव्यत्व ही न रहेगा।

(2) विशेषगुण न हो तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् ज्ञात नहीं होगा, अर्थात् किसी द्रव्य को परद्रव्य से भिन्न नहीं जाना जा सकेगा।

प्रश्न 28 – सामान्य गुण कितने होते हैं?

उत्तर – सामान्य गुण अनेक हैं, किन्तु मुख्यरूप से जानने योग्य छह हैं – अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व।

(1) अस्तित्व गुण

प्रश्न 29 – अस्तित्व गुण का 'गुण की व्याख्या' में प्रयोग कीजिए।

उत्तर – अस्तित्व गुण छहों द्रव्यों के अपने–अपने पूर्ण भाग में और उनकी सर्व अवस्थाओं में रहता है।

प्रश्न 30 – अस्तित्वगुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस शक्ति के कारण द्रव्य का भी अभाव न हो, व उसे अस्तित्वगुण कहते हैं, क्योंकि द्रव्य अनादि अनन्त है।

प्रश्न 31 – श्री आदिनाथ भगवान जिस काल इस लोक में विद्यमान थे, उसी काल में हम भी थे – यह किस आधार पर मानोगे ?

उत्तर – हम में अस्तित्व गुण होने से सिद्ध होता है कि उस काल लोक के किसी भी क्षेत्र में हम थे।

प्रश्न 32 – क्या यह सच है कि ईश्वर ने विश्व अर्थात् जगत की रचना की है ?

उत्तर – नहीं; अस्तित्व गुण के कारण विश्व अर्थात् अनन्त जीव, अजीवादि छहों द्रव्य स्वयंसिद्ध अनादि-अनन्त हैं; इसलिए किसी ने उसे बनाया नहीं है।

प्रश्न 33 – कोई जगत् की रक्षा करता है ?

उत्तर – (1) नहीं; प्रत्येक वस्तु अपनी अनन्त शक्ति से स्वयं रक्षित है।

(2) प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व गुण होने से अपनी रक्षा अर्थात् अस्तित्व के लिए उसे किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं पड़ती।

प्रश्न 34 – कोई जगत् का संहार (विनाश) करता है ?

उत्तर – नहीं; अस्तित्व गुण के कारण किसी द्रव्य का भी नाश नहीं होता, किन्तु द्रव्यत्व गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही सदैव अपनी नयी-नयी पर्यायें अर्थात् अवस्थाएँ उत्पन्न करता है

और स्वयं ही अपनी पूर्व अवस्थाओं का नाश करता है, अर्थात् निरन्तर परिवर्तित होता है और द्रव्यरूप से नित्य-स्थायी रहता है।

प्रश्न 35 - इससे सिद्धान्त क्या समझना?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल भिन्न-भिन्न, स्वतन्त्र है और प्रत्येक द्रव्य में अपने ही कारण पर्याय अपेक्षा से नयी अवस्था की उत्पत्ति, पूर्व पर्याय का नाश और द्रव्य अपेक्षा से नित्य स्थिर रहना - ऐसी स्थिति त्रिकाल हो रही है।

प्रश्न 36 - जीव के अस्तित्व गुण को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर - मैं स्वतन्त्र अनादि-अनन्त अपने ही कारण स्थित रहनेवाला हूँ, किसी पर से या संयोग से मेरी उत्पत्ति नहीं हुई है और न मेरा कभी नाश होता है। ऐसा अस्तित्वगुण को जानने से लाभ होता है और मरण का भय दूर हो जाता है।

(2) वस्तुत्व गुण

प्रश्न 37 - वस्तुत्व गुण किसे कहते हैं?

उत्तर - जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रिया अर्थात् प्रयोजनभूत क्रिया हो; जैसे कि आत्मा की अर्थक्रिया - जानना आदि है।

प्रश्न 38 - सिद्ध भगवान कृतकृत्य हो गये हैं, तो अब उनका कार्य करना रुक गया है?

उत्तर - नहीं, क्योंकि उनमें वस्तुत्व गुण के कारण प्रत्येक गुण का प्रयोजनभूत कार्य अर्थात् निर्मल स्वभावरूप परिणमन प्रति समय हो रहा है।

प्रश्न 39 – द्रव्य का वस्तु 'वस्तु' नाम क्यों है ?

उत्तर – (1) वस्तुत्व गुण की मुख्यता से द्रव्य को वस्तु कहते हैं।

(2) जिसमें गुण, पर्याय बसते हैं, उसे वस्तु कहते हैं।

(3) जिसमें सामान्य–विशेष स्वभाव हो, उसे वस्तु कहते हैं।

(4) प्रत्येक द्रव्य अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है, इसलिए उसे वस्तु कहते हैं।

'वस्तु' नाम यह भी सूचित करता है कि प्रत्येक द्रव्य के गुण, पर्याय अपने–अपने द्रव्य में ही बसते हैं; इसलिए जीव के गुण–पर्याय शरीर में अथवा परद्रव्य में वास नहीं करते। प्रत्येक जीव के गुण–पर्याय उस–उस जीव में बसते हैं; इसलिए जीव को सचमुच किसी अन्य द्रव्य का अवलम्बन लेना पड़े – यह सम्भव ही नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने में ही परिपूर्ण है।

(3) द्रव्यत्व गुण

प्रश्न 40 – द्रव्यत्व गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्था निरन्तर बदलती रहे, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं।

प्रश्न 41 – द्रव्य का नाम 'द्रव्य' क्यों है ?

उत्तर – द्रव्यत्व की गुण की मुख्यता से।

प्रश्न 42 – काल से सब बदलता है – परिवर्तित होता रहता है, इसलिए सब काल के आधीन है।

उत्तर – नहीं, क्योंकि जगत् के छहों द्रव्य निरन्तर अपनी

द्रव्यत्वशक्ति से परिवर्तन करते हैं; उसमें कालद्रव्य तो निमित्तमात्र है। वस्तु की स्थिति किसी की अपेक्षा नहीं रखती; इसलिए काल के आधीन कहना व्यवहार कथन है।

प्रश्न 43 – द्रव्य के प्रत्येक गुण में नयी-नयी पर्यायें होती हैं ? होती हैं तो उसका कारण क्या ?

उत्तर – होती हैं, क्योंकि सर्व गुण निरन्तर परिणमनस्वभावी होते हैं और उनमें अपने-अपने द्रव्यत्व गुण निमित्त हैं।

प्रश्न 44 – प्रत्येक द्रव्य में द्रव्यत्वादि गुण त्रिकाल रहते हैं ? और रहते हैं तो उसका कारण क्या ?

उत्तर – (1) हाँ; द्रव्य में द्रव्यत्वादि गुण अपने-अपने कारण स्वयं त्रिकाल रहते हैं; उसमें अस्तित्व नाम का सामान्य गुण निमित्त है।

(2) जिस प्रकार द्रव्य का कभी नाश न होने से वह अनादि अनन्त है, उसी प्रकार द्रव्य के समस्त गुण भी अस्तित्व गुण के कारण कभी नाश को प्राप्त नहीं होते, इसलिए वे भी अनादि-अनन्त हैं।

प्रश्न 45 – द्रव्यत्व गुण से क्या समझना चाहिए ?

उत्तर – (1) सर्व द्रव्यों की अवस्थाओं का परिवर्तन निरन्तर उनके अपने कारण अपने में ही होता रहता है, दूसरा कोई उनकी अवस्था नहीं बदलता।

(2) जीव की कोई पर्याय अजीव से – कर्म से, शरीरादि से नहीं बदलती और शरीरादि किसी परद्रव्य की अवस्था जीव से नहीं बदलती।

(3) जीव में जो अज्ञानदशा है, वह सदैव एक-सी नहीं रहती।

(4) पहले अल्प ज्ञान होता है और फिर उसमें वृद्धि होती है, तो वहाँ ज्ञान में परिवर्तन होने का कारण द्रव्यत्व गुण है; और ज्ञान का विकास ज्ञानगुण में से ही होता है, किन्तु शास्त्रादि बाह्य से ज्ञान नहीं आता।

(5) मिट्टी में से घड़ा द्रव्यत्व गुण के कारण हुआ है; कुम्हारादि तो निमित्तमात्र हैं। निश्चय से देखने पर कुम्हार ने घड़ा नहीं बनाया है। मिट्टी की अवस्था कुम्हार ने परिवर्तित की - ऐसा माननेवाले ने द्रव्यत्य गुण को नहीं माना है। पदार्थ के एक गुण को अस्वीकार करने से सम्पूर्ण द्रव्य का स्वीकार होता है और ऐसा होने से उसने अपने अभिप्राय में सर्व द्रव्यों का अभाव माना है।

प्रश्न 46 - प्रत्येक द्रव्य में अपना कार्य करने का सामर्थ्य किससे है?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य, द्रव्यत्व गुण के कारण नित्य परिणमन शक्तिवाला है, इसलिए निरन्तर अपना-अपना कार्य करता रहता है और उसमें उसका अपना वस्तुत्व गुण निमित्त कारण है।

प्रश्न 47 - द्रव्यत्व गुण और वस्तुत्व गुण के भाव में क्या अन्तर है?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य में निरन्तर - प्रति समय[1] नयी-नयी अवस्थाएँ होती रहती हैं - ऐसा द्रव्यत्व गुण बतलाता है; और प्रत्येक द्रव्य में प्रयोजनभूत क्रिया उसके अपने से हो रही है, कोई

1. समय = जिसका भाग न हो सके - ऐसा छोटे से छोटा काल।

द्रव्य अपना कार्य किये बिना नहीं रहता – ऐसा वस्तुत्व गुण बतलाता है।

(4) प्रमेयत्व गुण

प्रश्न 48 – प्रमेयत्व गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय हो, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं ?

प्रश्न 49 – 'किसी न किसी ज्ञान' का क्या मतलब ?

उत्तर – मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान – इन पाँच में से कोई भी एक अथवा अधिक ज्ञान।

प्रश्न 50 – जगत् में कोई पदार्थ ऐसा है जो ज्ञात हुए बिना रहे ? यदि वह ज्ञात हुए बिना रहे तो क्या दोष आयेगा ?

उत्तर – ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो ज्ञात हुए बिना रहे। यदि वह ज्ञात हुए बिना रहे तो प्रमेयत्व गुण का नाश हो जाये, और एक गुण का नाश होने से उसके साथ के अस्तित्वादि समस्त गुणों का भी नाश हो जाएगा। ऐसा होने से द्रव्य ही नहीं रहेगा।

प्रश्न 51 – जगत् में कितने द्रव्य प्रमेयत्व गुणवाले हैं ? उसका कारण बतलाइये ?

उत्तर – समस्त द्रव्य प्रमेयत्व गुणवाले हैं, क्योंकि वह गुण सभी द्रव्यों का सामान्य गुण है।

प्रश्न 52 – रूपी पदार्थ ज्ञान में ज्ञात होते हैं किन्तु अरूपी पदार्थ ज्ञात नहीं होते – यह कथन सत्य है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य प्रमेयत्व गुणवाला है।

प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी ज्ञान का विषय होता है, इसलिए रूपी और अरूपी दोनों पदार्थ अवश्य ही बराबर ज्ञात होते हैं।

प्रश्न 53 – आत्मा तो अरूपी है और हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है, तो आत्मा का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर – ऐसा होने पर भी आत्मा का ज्ञान बराबर हो सकता है, क्योंकि आत्मा में भी प्रमेयत्व गुण विद्यमान है और वह सम्यक्‌मति तथा श्रुतज्ञान का विषय हो सकता है, इसलिए यथार्थ समझ का पुरुषार्थ किया जाए तो आत्मा का ज्ञान अवश्य हो जाता है।

प्रश्न 54 – 'आत्मा अलख–अगोचर है' – इस कथन का क्या आशय है ?

उत्तर – जड़ इन्द्रियों से, विकल्प / राग से और पराश्रय से आत्मा ज्ञात नहीं होता, इसलिए उसे अलख–अगोचर कहा जाता है, किन्तु आत्मा में ज्ञान गुण तथा प्रमेयत्व गुण होने के कारण स्वसंवेदन ज्ञान से वह अवश्य ज्ञात हो – अनुभव में आये, ऐसा है – यही उसका अर्थ समझना चाहिए।

प्रश्न 55 – ज्ञान करने की और ज्ञात होने की – यह दोनों शक्तियाँ एक साथ किसमें हैं ?

उत्तर – ज्ञान करने की और ज्ञात होने की प्रमेयत्व–ज्ञेय शक्ति दोनों शक्तियाँ (गुण) एक ही साथ जीवद्रव्य में ही हैं।

प्रश्न 56 – ज्ञात होने की शक्ति का नाम और उसका व्युत्पत्ति अर्थ क्या है ?

उत्तर – ज्ञान होने की शक्ति का नाम प्रमेयत्व गुण है; उसका व्युत्पत्ति अर्थ निम्नानुसार है –

प्रमेयत्व = प्र + मेय + त्व।

प्र = प्रकृष्ट रूप से; विशेषतः।

मेय = माप में आने योग्य (मा धातु का विध्यर्थ कृदन्त)

त्व = पना (भाववाचक प्रत्यय)

प्रमेयत्व = प्रकृष्टरूप में माप में (ज्ञान में-ख्याल में) आने योग्यपना।

(5) अगुरुलघुत्व गुण

प्रश्न 57 – अगुरुलघुत्व गुण किसे कहते हैं?

उत्तर – जिस शक्ति के कारण द्रव्य का द्रव्यत्व बना रहे अर्थात् –

(1) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो,

(2) एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं हो,

(3) द्रव्य में विद्यमान अनन्त गुण बिखरकर अलग-अलग न हो जाएँ, उस शक्ति को अगरुलघुत्व गुण कहते हैं।

प्रश्न 58 – जीवद्रव्य में अगुरुलघुत्व गुण के कारण उसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा बतलाओ?

उत्तर – (1) अनन्त गुणों के पिण्डरूप जीवद्रव्य का स्व-द्रव्यत्व स्थायी रहता है और वह कभी शरीरादिरूप नहीं होता।

(2) जीव का असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र कभी पररूप नहीं होता, पर में एकमेक नहीं होता, नहीं मिल जाता और दो जीवों का स्वक्षेत्र भी कभी एक नहीं होता।

(3) जीव के एक गुण की पर्याय अन्य गुण की पर्यायरूप

नहीं होती, अर्थात् दूसरे का कुछ करे, दूसरे से उत्पन्न हो - बदले ऐसा नहीं होता।

(4) भाव अर्थात् गुण; जितने जिसरूप हैं, उतने उसीरूप सत् रहते हैं; बिखरकर अलग-अलग नहीं होते।

प्रश्न 59 - जीवद्रव्य की उपरोक्तानुसार मर्यादा समझने से क्या लाभ है?

उत्तर - (1) छहों द्रव्य और उनके गुण तथा पर्यायों की स्वतन्त्रता जानने पर अपना हित-अहित (भला-बुरा) अपने से अपने में ही होता है - ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है;

(2) कोई भी द्रव्यकर्म अथवा किसी पर के द्रव्य-क्षेत्र -काल-भाव इस जीव को लाभ-हानि नहीं कर सकते - ऐसा निर्णय होता है;

(3) मैं स्वतन्त्र ज्ञानानन्दस्वभावी पदार्थ हूँ और जगत् के समस्त पदार्थ मुझसे त्रिकाल भिन्न हैं - ऐसी भेदज्ञानरूप ज्योति का उदय होता है, वही सम्यग्ज्ञान-दर्शनरूप धर्म है।

प्रश्न 60 - बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार पर्याय बदलती है - ऐसा मानने में क्या दोष है?

उत्तर - ऐसा माननेवाले ने दो द्रव्यों को भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र नहीं माना और द्रव्य में अगुरुलघुत्व गुण का स्वीकार भी नहीं किया; इसलिए द्रव्य का ही नाश आदि दोष आते हैं।

प्रश्न 61 - छहों द्रव्यों तथा उनके गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता की मर्यादा किस गुण से है?

उत्तर – अगुरुलघुत्व गुण से।

प्रश्न 62 – अगुरुघुत्व गुण से विशेष क्या समझना ?

उत्तर – (1) कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य के आधीन नहीं है।

(2) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता।

(3) द्रव्य का एक गुण उसी द्रव्य के दूसरे गुण का कुछ नहीं कर सकता।

(4) किसी द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य की पर्याय में कुछ नहीं कर सकती; वे एक दूसरे के आधीन नहीं है।

(5) अगुरुलघुत्व गुण का ऐसा यथार्थ स्वरूप जानने से – जगत् के छहों द्रव्यों के द्रव्य–गुण–पर्याय भिन्न–भिन्न स्वतन्त्र हैं और मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा उन सबसे भिन्न हूँ – इस प्रकार भेदज्ञानरूपी अपूर्व धर्म प्रगट होता है।

प्रश्न 63 – एक द्रव्य में रहनेवाले गुण परस्पर एक–दूसरे का कार्य करते हैं ? – नहीं करते तो उनकी व्यवस्था कैसी है ?

उत्तर – अगुरुलघुत्व गुण के कारण एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, इसलिए एक गुण का कार्यक्षेत्र दूसरे गुण में नहीं जाता – ऐसा होने से एक द्रव्य में भी एक गुण, दूसरे गुण का कार्य नहीं कर सकता, किन्तु प्रत्येक गुण नित्य परिणामस्वभावी होने से प्रति समय अपनी नयी–नयी पर्यायें उत्पन्न करता है, उसमें दूसरे गुण की पर्यायें निमित्तमात्र कही जाती हैं। एक गुण की वर्तमान पर्याय में कार्य होने में दूसरे गुण की वर्तमान पर्याय निमित्त कहलाती है। – इस प्रकार एक द्रव्य के आश्रित गुणों में भी स्वतन्त्रता होने से एक गुण का दूसरे गुण के साथ कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं है।

'पञ्चाध्यायी' अध्याय – 2, गाथा 1008–10 में भी कहा है कि – 'कोई भी गुण किसी प्रकार दूसरे गुण में अन्तर्भूत नहीं होता – (एक गुण में दूसरे गुण नहीं समा जाते)। परस्पर आधार – आधेय तथा उपादान – उपादेयरूप से (कारण–कार्यरूप से) दों गुणों का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु सभी गुण अपनी–अपनी शक्ति के योग से स्वतन्त्र हैं और वे भिन्न–भिन्न लक्षणवाले अनेक हैं, तथापि स्वद्रव्य के साथ परस्पर एकमेक हैं।'

प्रश्न 64 – गुरु का ज्ञान शिष्य को प्राप्त हुआ; मुझे शास्त्रों से ज्ञान की प्राप्ति हुई – यह ठीक है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि एक द्रव्य के अनन्त गुणों में से एक गुण दूसरे गुण में नहीं जाता; तो फिर भिन्न द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में कैसे जाएँगे ? एक वस्तु का कोई भी गुण दूसरी को मिलता है – ऐसी मान्यतावाला अगुरुलघुत्व गुण को नहीं मानता; वह वस्तु को ही स्वतन्त्र नहीं मानता।

प्रश्न 65 – मैं चश्मे द्वारा पुस्तक पढ़ रहा हूँ और उससे मुझे ज्ञान होता है – ऐसा मानना ठीक है ?

उत्तर – नहीं, अगुरुलघुत्व गुण के कारण ऐसा नहीं होता, क्योंकि –

(1) पर से आत्मा का और आत्मा से पर का कार्य हो तो द्रव्य बदलकर नष्ट हो जाए, लेकिन ऐसा नहीं होता।

(2) आत्मा निश्चय से स्व–परप्रकाशक अपने आत्मा को जानता है और –

(3) पुस्तक के शब्दों को जीव अपने ज्ञान द्वारा व्यवहार से जानता है, वहाँ चश्मा उसमें निमित्तमात्र है।

प्रश्न 66 – ब्राह्मी तेल के प्रयोग से या बादाम आदि खान से बुद्धि बढ़ती है – यह मान्यता ठीक है?

उत्तर – नहीं, क्योंकि एक द्रव्य की शक्ति दूसरे द्रव्य का कोई काम नहीं कर सकती; इसलिए ब्राह्मी तेल आदि का उपयोग करने से या बादाम खाने से बुद्धि बढ़ती है, वह मान्यता झूठी है – ऐसा अगुरुलघुत्व गुण बतलाता है।

प्रश्न 67 – दूध में मट्ठे के मिलने से दही बन जाता है – यह मान्यता सही है?

उत्तर – नहीं; दूध में मट्ठे के मिलने से दही बनता हो तो पानी में मट्ठा मिलाने से भी दही बनना चाहिए; मट्ठे के और दूध के परमाणु पृथक्-पृथक् हैं। मट्ठारूप पर्यायवाले प्रत्येक परमाणु में भी अगुरुलघुत्व गुण होने से वह दूध के परमाणु में प्रविष्ट नहीं हो सकता, किन्तु द्रव्यत्व गुण के कारण दूधरूप पर्यायवाले परमाणु स्वयं परिवर्तित होकर दहीरूप होते हैं; उसमें मट्ठा तो निमित्तमात्र है। जब दूध के परमाणु अपने क्षणिक उपादान की योग्यता से दहीरूप होने का कार्य करते हैं, उस समय मट्ठा आदि को निमित्तमात्र कहा जाता है।

प्रश्न 68 – इससे सिद्धान्त क्या समझें?

उत्तर – जीव जब स्वयं अपने से स्वसन्मुख होकर अपना स्वरूप सम्यक्रूप से समझता है, उस समय सम्यग्ज्ञानी का उपदेश आदि निमित्तरूप होता है। – इस प्रकार सर्वत्र उपादान से

ही कार्य होता है; किसी निमित्त की कभी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, किन्तु निमित्त उस समय होता अवश्य है।

प्रश्न 69 – आत्मा, मोक्षदशा प्राप्त करे, उस समय तेज में तेज मिल जाता है – ऐसा माना जाए तो क्या दोष आता है ?

उत्तर – (1) ऐसा माननेवाले ने अगुरुलघुत्व गुण और अस्तित्व गुण का स्वीकार नहीं किया।

(2) मोक्ष जानेवाला जीव स्वतन्त्र और सुखी नहीं हुआ, किन्तु उसका नाश हो गया।

– इस प्रकार जो मोक्षदशा होने पर दूसरे में मिल जाना मानता है, वह अपना भी मोक्ष में नाश मानता है; इसलिए ऐसा धर्म कौन चतुर पुरुष करेगा कि जिसमें स्वयं का विनाश हो जाए ? – अर्थात् कोई नहीं करेगा।

प्रश्न 70 – जीव, संसार में जब एकेन्द्रियपने को प्राप्त हो, तब उसके गुण कम हो जाएँ और जब पञ्चेन्द्रिय को प्राप्त हो, तब बढ़ जाएँ – ऐसा होता है ?

उत्तर – नहीं; क्योंकि –

[1] द्रव्य में अगुरुलघुत्व नामक गुण है, इसलिए उसके किन्हीं गुणों की संख्या और शक्ति कभी कम–अधिक नहीं होती।

[2] द्रव्य और गुण तो सदैव सर्व अवस्थाओं में पूर्ण शक्तिवान् ही रहते हैं।

[3] अपने कारण गुण की वर्तमान पर्याय में ही परिवर्तन [परिणमन] होता है।

(6) प्रदेशत्व गुण

प्रश्न 71 – प्रदेशत्व गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य हो, उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं ?

प्रश्न 72 – आत्मा को साकार और निराकार किस प्रकार कहा जाता है ?

उत्तर – प्रदेशत्व गुण के कारण प्रत्येक आत्मा का अपना अरूपी आकार है ही, किन्तु रूपी आकार नहीं है– इस अपेक्षा से वह निराकार कहलाता है। आत्मा का अरूपी आकार इन्द्रियगम्य नहीं है – इस अपेक्षा से निराकार है और आत्मा का आकार ज्ञानगम्य है, इसलिए वह आकारवान् है।

(देहली से प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 161)

प्रश्न 73 – द्रव्य, गुण, पर्याय – तीनों का भिन्न-भिन्न अथवा छोटा-बड़ा आकार होता है ?

उत्तर – नहीं; द्रव्य का आकार ही गुण और पर्याय का आकार है, क्योंकि तीनों का क्षेत्र एक है, इसलिए तीनों का आकार एक ही समान है।

प्रश्न 74 – द्रव्य त्रिकाल और पर्याय एक समयपर्यन्त की है, उसमें किसका आकार बड़ा है ?

उत्तर – दोनों का आकार एक-सा है।

प्रश्न 75 – कुछ वस्तुओं का आकार तो दीर्घ काल तक एक-सा दिखाई देता है, तो उसे परिवर्तित होने में कितना समय लगता होगा ?

उत्तर – वे निरन्तर प्रति समय बदलते ही रहते हैं, किन्तु स्थूल दृष्टि से उनका आकार दीर्घ काल तक एक-सा दिखाई देता है।

प्रश्न 76 – सुवर्ण पिण्ड में से मुकुट बना, तो उसमें कौन -सा गुण कारण है ?

उत्तर – आकार बना, उसमें प्रदेशत्व गुण और पुरानी अवस्था बदल कर नयी हुई, उसमें द्रव्यत्व गुण कारण है।

प्रश्न 77 – इस 'पुस्तक में' छहों सामान्य गुण घटित करो।

उत्तर – (1) इस पुस्तक में उसके परमाणुओं का कभी नाश नहीं होता, क्योंकि उसमें **अस्तित्व गुण** है।

(2) उसमें अर्थक्रिया है, क्योंकि उसमें **वस्तुत्व गुण** है।

(3) उसकी पर्याय में निरन्तर प्रति समय नया परिवर्तन होता है, क्योंकि उसमें **द्रव्यत्व गुण** है।

(4) वह ज्ञात होने योग्य है, क्योंकि उसमें **प्रमेयत्व गुण** है।

(5) उसका कोई भी परमाणु बदलकर दूसरे परमाणुरूप नहीं होता। उसके सभी गुण-पर्यायें भी उसकी मर्यादा में व्यवस्थित हैं, क्योंकि उसमें **अगुरुलघुत्व गुण** है।

(6) वह आकार युक्त है, क्योंकि उसमें **प्रदेशत्व गुण** है।

प्रश्न 78 – मिट्टी द्वारा घड़ा बना है, कुम्हार द्वारा नहीं बना – इसमें कौन-से गुण सिद्ध होते हैं ?

उत्तर – द्रव्यत्व और अगुरुलघु।

प्रश्न 79 – जो नहीं जानते – ऐसे जड़ द्रव्य भी स्वतः परिणमित होते हैं – इसमें कौन-सा गुण सिद्ध हुआ ?

उत्तर – द्रव्यत्व गुण।

प्रश्न 80 – हम मनुष्य हैं, इसलिए हमें अपने कार्य में दूसरों की आवश्यकता होती है, दूसरों के बिना नहीं चल सकता – ऐसा माननेवाले ने कौन–से गुणों को नहीं माना ?

उत्तर – मनुष्य तो असमानजातीय द्रव्यपर्याय है। शरीर, अजीव रूपी पुद्‌गलद्रव्य है और जीव सदा अरूपी चेतनद्रव्य है। उनका संयोग – एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध बन्धरूप से है। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य की आवश्यकता होती है – ऐसा माननेवाले ने वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्वादि गुणों को नहीं माना।

प्रश्न 81 – जो द्रव्य हैं, उनका कभी नाश नहीं होता और न वे दूसरे द्रव्यों के साथ मिलते हैं – न एकमेक होते हैं। उसमें कौन–से गुण कारणभूत हैं ?

उत्तर – अस्तित्वगुण और अगुरुलघुत्व गुण।

प्रश्न 82 – जो स्वभाव है, वह गुप्त नहीं रहता, वह किसी में मिल जाता नहीं – नष्ट नहीं होता, परिवर्तित हुए बिना नहीं रहता – उसमें कौन–से गुण कारणभूत हैं ?

उत्तर – उसमें अनुक्रम से प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, अस्तित्व और द्रव्यत्व गुण कारणभूत हैं।

प्रश्न 83 – छहों सामान्य गुणों का प्रयोजन संक्षेप में क्या है ?

उत्तर – (1) किसी द्रव्य की कभी उत्पत्ति या विनाश नहीं है, इसलिए कोई किसी का कर्ता नहीं है – ऐसा अस्तित्वगुण सूचित करता है।

(2) प्रत्येक द्रव्य निरन्तर अपनी ही प्रयोजनभूत क्रिया करता है, इसलिए कोई द्रव्य एक समय भी अपने कार्य के बिना बेकार नहीं होता – ऐसा वस्तुत्वगुण बतलाता है।

(3) प्रत्येक द्रव्य निरन्तर प्रवाह क्रम से प्रवर्तमान अपनी नयी-नयी अवस्थाओं को सदैव स्वयं ही बदलता है, इसलिए किसी के कारण पर्याय परिवर्तित हो या रुके – ऐसा पराधीन कोई द्रव्य नहीं है – ऐसा द्रव्यत्व गुण बतलाता है।

(4) प्रत्येक द्रव्य में ज्ञात होने योग्यपना (प्रमेयत्व गुण) होने के कारण ज्ञान से कोई अनजान (गुप्त) नहीं रह सकता; इसलिए कोई ऐसा माने कि हम अल्पज्ञों को नव तत्त्व क्या? आत्मा क्या? धर्म क्या? – यह सब ज्ञात नहीं हो सकता, तो उसकी वह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि यदि यथार्थ समझ का पुरुषार्थ करे तो सत्य और असत्य का स्वरूप (सम्यक् मति-श्रुतज्ञान का विषय होने से) उसके ज्ञान में अवश्य ज्ञात हो – ऐसा प्रमेयत्व गुण बतलाता है।

(5) प्रत्येक द्रव्य का द्रव्यत्व नित्य व्यस्थित रहता है, इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता; पर्याय द्वारा भी कोई दूसरे पर असर, प्रभाव, प्रेरणा, लाभ-हानि कुछ नहीं कर सकता।

प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्ध धारावाही पर्याय द्वारा अपने में ही वर्तता है। – इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने में व्यवस्थित नितय मर्यादावाला होने से किसी द्रव्य को दूसरे की आवश्यकता नहीं होती – ऐसा अगुरुलघुत्व गुण बतलाता है।

(6) कोई वस्तु अपने स्वक्षेत्ररूप आकार के बिना नहीं होती, और आकार छोटा-बड़ा हो, वह लाभ-हानि का कारण नहीं है; तथापि प्रत्येक द्रव्य को स्व-अवगाहनरूप अपना स्वतन्त्र आकार अवश्य होता है - ऐसा प्रदेशत्व गुण बतलाता है।

- इस प्रकार छहों सामान्यगुण प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्र व्यवस्था बतलाते हैं।

विशेष गुण

प्रश्न 84 - प्रत्येक द्रव्य में कौन-कौन से विशेष गुण हैं?

उत्तर - (1) जीवद्रव्य में - चैतन्य (दर्शन-ज्ञान), श्रद्धा (सम्यक्त्व) चारित्र, सुख, वीर्य, क्रियावतीशक्ति, वैभाविक -शक्ति आदि;

(2) पुद्गलद्रव्य में - स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, क्रियावती शक्ति, वैभाविक शक्ति आदि;

(3) धर्मास्तिकाय द्रव्य में - गतिहेतुत्व आदि;

(4) अधर्मास्तिकाय द्रव्य में - स्थितिहेतुत्व आदि;

(5) आकाश द्रव्य में - अवगाहनेहतुत्व आदि;

(6) कालद्रव्य में - परिणमनहेतुत्व आदि विशेष गुण हैं।

प्रश्न 85 - चेतन, चैतन्य और चेतना किसे कहते हैं?

उत्तर - (1) जीवद्रव्य को चेतन कहते हैं।

(2) चैतन्य, वह चेतनद्रव्य का गुण है; उसमें दर्शन और ज्ञान इन दोनों गुणों का समावेश हो जाता है।

(3) चैतन्य गुण की पर्याय को चेतना कहा जाता है।

(4) चैतन्य गुण को भी चेतना गुण कहा जाता है।

प्रश्न 86 – चेतना किसे कहते हैं?

उत्तर – जिसमें पदार्थों का प्रतिभास हो, उसे चेतना कहते हैं।

प्रश्न 87 – चेतना के कितने भेद हैं?

उत्तर – दो भेद हैं – दर्शनचेतना (दर्शनोपयोग) और ज्ञानचेतना (ज्ञानोपयोग)।

प्रश्न 88 – दर्शनचेतना किसे कहते हैं?

उत्तर – जिसमें पदार्थों के भेदरहित सामान्य प्रतिभास (अवलोकन) हो, उसे दर्शनचेतना कहते हैं; जैसे कि ज्ञान का उपयोग घड़े की ओर था, वहाँ से छूटकर दूसरे पदार्थ सम्बन्धी ज्ञानोपयोग प्रारम्भ हो, उससे पूर्व जो चैतन्य का सामान्य प्रतिभासरूप व्यापार हो, वह दर्शनोपयोग है।

प्रश्न 89 – ज्ञानचेतना (ज्ञानोपयोग) किसे कहते हैं?

उत्तर – जिसमें पदार्थों का विशेष प्रतिभास हो, उसे ज्ञानोपयोग कहते हैं; अर्थात् ज्ञान गुण का अनुसरण करके वर्तनेवाला जो चैतन्य परिणाम, वह ज्ञानोपयोग है।

प्रश्न 90 – दर्शनचेतना के कितने भेद हैं?

उत्तर – चार भेद हैं – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन, वे दर्शनगुण का अनुसरण करके वर्तनेवाले चैतन्य परिणाम हैं।

प्रश्न 91 – चक्षुदर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर – चक्षुइन्द्रिय द्वारा मतिज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास हो, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं।

प्रश्न 92– अचक्षुदर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर – चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों और मन द्वारा मतिज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास हो, उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

प्रश्न 93 – अवधिदर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर – अवधिज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं।

प्रश्न 94 – केवलदर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर – केवलज्ञान के साथ होनेवाले सामान्य प्रतिभास को केवल दर्शन कहते हैं। ***(– आत्मा स्व-पर का दर्शक और ज्ञायक है।)***

प्रश्न 95 – दर्शनोपयोग कब उत्पन्न होता है ?

उत्तर – छद्मस्थ जीवों को ज्ञानोपयोग से पूर्व और केवलज्ञानियों को ज्ञानोपयोग के साथ ही दर्शनोपयोग होता है।

प्रश्न 96 – ज्ञान के कितने भेद हैं ?

उत्तर – ज्ञान गुण तो नित्य एकरूप ही होता है, किन्तु उसकी सम्यक्-पर्याय के पाँच भेद हैं – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। – यह पाँचों सम्यक्ज्ञान के भेद हैं।

मिथ्याज्ञान की तीन पर्यायें हैं – कुमति, कुश्रुत और कुअवधि। इस प्रकार आठ पर्यायें हुईं।

प्रश्न 97 – मतिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – (1) पराश्रय की बुद्धि छोड़कर दर्शनोपयोगपूर्वक स्वसन्मुखता से प्रगट होनेवाले निज आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

(2) जिसमें इन्द्रिय और मन निमित्तमात्र हैं – ऐसे ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

प्रश्न 98 – श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – (1) मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध से अन्य पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

(2) आत्मा की शुद्ध अनुभूतिरूप श्रुतज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं।

प्रश्न 99 – अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक जो रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

प्रश्न 100 – मन:पर्ययज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक अन्य के मन में तिष्ठते हुए रूपी पदार्थ सम्बन्धी विचारों को तथा रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानता है, उसे मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

(श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान से सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य में क्रमबद्धपर्याय होती है – आगे पीछे नहीं होते।)

प्रश्न 101 – केवलज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो तीन लोक – तीन कालवर्ती सर्व पदार्थों को (अनन्त-धर्मात्मक[1] सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को) प्रत्येक समय में यथास्थित परिपूर्णरूप से स्पष्ट और एकसाथ जानता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

प्रश्न 102 – श्रद्धा गुण (सम्यक्त्व) किसे कहते हैं ?

उत्तर – (1) जिस गुण की निर्मलदशा प्रगट होने से अपने शुद्ध आत्मा का प्रतिभास अर्थात् यथार्थ प्रतीति हो, उसे श्रद्धा (सम्यक्त्व) कहते हैं।

(2) सम्यग्दृष्टि को निम्नानुसार प्रतीति होती है –

1. सच्चे देव, गुरु और धर्म में दृढ़ प्रतीति।
2. जीवादि सात तत्त्वों की सच्ची प्रतीति।
3. स्व-पर का श्रद्धान।
4. आत्मश्रद्धान।

उपरोक्त लक्षणों के अविनाभावसहित जो श्रद्धा होती है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। [इस पर्याय का धारक श्रद्धा सम्यक्त्व गुण है; सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन उसकी पर्यायें हैं।]

प्रश्न 103 – चारित्र गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – निश्चयसम्यग्दर्शनसहित स्वरूप में विचरण-रमण

---

1. द्रव्य, गुण, पर्यायों को केवली भगवान जानते हैं, किन्तु उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जान सकते – ऐसा मानना असत्य है। वे अनन्त को अथवा मात्र अपने आत्मा को ही जानते हैं, किन्तु सर्व को नहीं जानते – ऐसा मानना भी न्याय से विरुद्ध है। केवलज्ञानी भगवान सर्वज्ञ होने से अनेकान्तात्मक प्रत्येक वस्तु को प्रत्यक्ष जानते हैं। केवली के ज्ञान में कुछ भी ज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

करना, अपने स्वभाव में अकषाय प्रवृत्ति करना, वह चारित्र है। वह चारित्र, मिथ्यात्व और अस्थिरतारहित अत्यन्त निर्विकार[1] ऐसा जीव का परिणाम है और ऐसी पर्यायों को धारण करनेवाले गुण को चारित्र गुण कहते हैं।

प्रश्न 104 – सुख गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – निराकुल आनन्दस्वरूप आत्मा के परिणाम विशेष को सुख कहते हैं और वह पर्याय धारण करनेवाले गुण को सुख गुण कहते हैं।

आत्मा में सुख अथवा आनन्द नाम का एक अनादि-अनन्त गुण है। उसका सम्यक् परिणमन होने पर मन, इन्द्रियाँ और उनके विषयों से निरपेक्ष अपने आत्माश्रित निराकुलता लक्षणवाला सुख उत्पन्न होता है। उसके कारणरूप शक्ति, वह सुख गुण है।

अनाकुल जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है – ऐसी सुख शक्ति आत्मा में नित्य है। *(समयसार में वर्णित 47 शक्तियों में से)*

प्रश्न 105 – क्रियावतीशक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर – जीव और पुद्गलद्रव्य में क्रियावतीशक्ति नाम का विशेष गुण है। उसके कारण जीव और पुद्गल को अपनी-अपनी योग्यतानुसार कभी गमन-क्षेत्रान्तर-गतिरूप पर्याय होती है और कभी स्थिरतारूप।

[कोई द्रव्य (जीव या पुद्गल) एक-दूसरे को गमन या

1. ऐसे परिणामों को स्वरूप स्थिरता, निश्चलता, वीतरागता, साम्य, धर्म और चारित्र कहते हैं। जब आत्मा के चारित्र गुण की ऐसी शुद्धपर्याय उत्पन्न होती है, तब बाह्य और अभ्यन्तर क्रिया का यथासम्भव (भूमिकानुसार) निरोध हो जाता है।

स्थिरतारूप नहीं कर सकते। दोनों द्रव्य अपनी क्रियावतीशक्ति की उस समय की योगयतानुसार स्वत: गमन करते हैं या स्थिर रहते हैं।]

प्रश्न 106 – मोटर पेट्रोल से चलती है या उसे ड्राईवर चलाता है ?

उत्तर – मोटर पेट्रोल या ड्राईवर से नहीं चलती, किन्तु उसके प्रत्येक परमाणु में क्रियावतीशक्ति है। अपने क्षणिक उपादान की योग्यता से ही वह चलती है। स्थिर रहने योग्य हो, उस समय अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण ही वह स्थिर रहती है; अन्य तो निमित्तमात्र हैं। निमित्त से उपादान का कार्य नहीं होता, किन्तु संयोग का ज्ञान कराने के लिए उपचार से वैसा कथन होता है।

प्रश्न 107 – 'सिद्ध भगवान हुए, वह लोकाग्र में ही स्थिर हैं; वे सचमुच धर्मास्तिकाय के अभाव से लोक के ऊपर नहीं जाते' – यह बात सही है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि जो जीव सिद्ध परमात्मदशा प्रगट करता है, वह भी लोक का द्रव्य है, इसलिए वह एक समय में लोकपर्यन्त जाने की ही विशिष्ट योग्यता रखता है। धर्मास्तिकाय के अभाव को उसका कारण कहना, वह निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार का कथन है; निश्चय से वैसी योग्यता ही न हो तो निमित्त में इस प्रकार कारणपने का आरोप नहीं आ सकता।

प्रश्न 108 – वीर्य गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – आत्मा की शक्ति-सामर्थ्य [बल] को वीर्य

कहते हैं; अर्थात् स्वरूप रचना के सामर्थ्यरूप शक्ति को वीर्य गुण कहते हैं। *(समयसार - 47 शक्तियों से)*

अर्थात्

पुरुषार्थरूप परिणामों के कारणभूत जीव की त्रिकाली शक्ति को वीर्य गुण कहते हैं।

प्रश्न 109 – भव्यत्व गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस गुण के कारण आत्मा में सम्यग्दर्शन–ज्ञान –चारित्र प्रगट करने की योग्यता रहती है, उस गुण को भव्यत्व गुण कहते हैं।

[भव्यत्व गुण सदैव भव्य जीवों में ही है और अभव्यत्व गुण सदैव अभव्य जीवों में हैं।]

प्रश्न 110 – अभव्य गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस गुण के कारण आत्मा में सम्यग्दर्शन–ज्ञान –चारित्र प्रगट करने की योग्यता नहीं होती, उसे अभव्यत्व गुण कहते हैं ?

प्रश्न 111 – जीवत्व गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – आत्मद्रव्य के कारणभूत चैतन्यमात्र भावरूप भावप्राण का धारण करना जिसका लक्षण है, उस शक्ति को जीवत्व गुण कहते हैं।

प्रश्न 112 – प्राण के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – द्रव्यप्राण और भावप्राण।

प्रश्न 113 – द्रव्यप्राण के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दस भेद हैं – पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु।

[यह पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं। इन द्रव्यप्राणों के संयोग –वियोग से जीवों की जीवन–मरणरूप दशा व्यवहार से कहलाती है।]

प्रश्न 114 – भावप्राण किसे कहते हैं?

उत्तर – चैतन्य और [भाव] बलप्राण को भावप्राण कहते हैं।

प्रश्न 115 – भावप्राण के कितने भेद हैं?

उत्तर – दो भेद हैं – भावेन्द्रिय और बलप्राण। यह भेद संसारी जीवों में है। भावेन्द्रियाँ सब चेतन है और वे ज्ञान की मतिरूप पर्यायें हैं। भाव बलप्राण जीव के वीर्य गुण की पर्याय है और द्रव्य बलप्राण पुद्गलों की पर्याय है।

प्रश्न 116 – भावेन्द्रिय के कितने भेद हैं?

उत्तर – पाँच भेद हैं – जीव की भाव, स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय – वे लब्धि और उपयोगरूप हैं।

प्रश्न 117 – भाव बलप्राण के कितने भेद हैं?

उत्तर – तीन भेद हैं, मनबल, वचनबल, और कायबल।

प्रश्न 118 – वैभाविक शक्ति किसे कहते हैं?

उत्तर – वह एक विशेष भाववाला गुण है। उस गुण के कारण परद्रव्य (निमित्त) के सम्बन्धपूर्वक स्वयं अपनी योग्यता से अशुद्ध पर्यायें होती हैं।

यह वैभाविक शक्ति नाम का गुण जीव और पुद्‌गल दो द्रव्यों में ही है, शेष चार द्रव्यों में नहीं है।

जीव के गुणों में स्वयंसिद्ध एक वैभाविकशक्ति है; वह जीव की संसारदशा में अपने कारण स्वयं ही (अनादि काल से) विकृत हो रही है। *(पञ्चाध्यायी भाग 2, गाथा 946)*

मुक्तदशा में वैभाविकशक्ति का शुद्ध परिणमन होता है। *(पञ्चाध्यायी भाग 2, गाथा 81)*

मुक्त-स्वतन्त्र पुद्‌गल परमाणु जब तक स्वतन्त्र (अबन्ध पर्यायरूप) रहें, तब तक उनके इस गुण की भी शुद्ध पर्याय होती है।

प्रश्न 119 – इस वैभाविकशक्ति से क्या समझना ?

उत्तर – जीव की वैभाविकशक्ति, वह गुण है, इसलिए बन्ध का कारण नहीं है; उसका परिणमन भी बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि उसका परिणमन तो सिद्ध भगवन्तों के भी होता है।

यदि जीव परपदार्थों के वश हो जाए तो उसकी पर्याय में विकार (अशुद्धता) होता है; वह जीव का अपना अपराध है। जीव जिस परपदार्थ के वश होता है, उसे निमित्त कहा जाता है। जीव ने विकार किया, (स्वयं अशुद्ध भावरूप परिणमित हुआ), तब किस परपदार्थ के वश हुआ ? वह बतलाने के लिए उन परपदार्थों को निमित्तकारण और विकार को नैमित्तिक (कार्य) कहा जाता है। यह कथन भेदज्ञान कराने के लिए है, किन्तु निमित्त ने नैमित्तिक पर कुछ असर किया अथवा प्रभाव डाला – ऐसा बतलाने के लिए वह कथन नहीं है, क्योंकि ऐसा माना जाए तो दो

द्रव्यों की एकता माननेरूप मिथ्यात्व हो जाता है; इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि जीव के अपने दोष से ही अशुद्धता होती है और उसे जीव स्वयं करता है, इसलिए वह दूर भी की जा सकती है।

जीव, विकार (अशुद्धदशा) अपने दोष से ही करता है, इसलिए अशुद्धनिश्चयनय से वह स्वकृत है, किन्तु स्वभाव दृष्टि के पुरुषार्थ द्वारा उसे अपने में से दूर किया जा सकता है, इसलिए शुद्धनिश्चयनय से वह परकृत है।

इन विकारों को शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से निम्नोक्त नामों द्वारा पहिचाना जाता है –

परकृत, परभाव, पराकार, पुद्गलभाव, कर्मजन्यभाव, प्रकृति –शीलस्वभाव, परद्रव्य, कर्मकृत, तद्गुणाकार संक्रान्ति, परगुणाकार कर्मपदस्थित, जीव में होनेवाले अजीवभाव, तद्गुणाकृति, परयोगकृत, निमित्तकृत आदि; किन्तु उससे वे परकृतादि नहीं हो जाते; मात्र अपने में से टाले जा सकते हैं, इतना ही वे दर्शाते हैं।

(गुजराती आवृत्ति पञ्चाध्यायी - भाग - 2, गाथा - 72 का भावार्थ)

उस पर्याय में अपना ही दोष है, अन्य किसी का उसमें किन्चित् हाथ या दोष नहीं है। पञ्चाध्यायी – भाग –2, की 60 वीं और 56 वीं गाथा में – 'जीव स्वयं ही अपराधी है'– ऐसा कहा है; इसलिए परद्रव्य या कर्म का उदय जीव में विकार करे – कराये, अथवा कर्मोदय के कारण जीव को विकार करना पड़ता है – ऐसी मान्यता मिथ्या है। निमित्तकारण तो उपचरित कारण है किन्तु वास्तविक कारण नहीं है; इसलिए उसे पञ्चाध्यायी, भाग–2, गाथा 351 में अहेतुवत् – अकारणवत् कहा है।

प्रश्न 120 – ऐसे कौन से विशेष गुण हैं जो दो द्रव्यों में ही रहते हैं ?

उत्तर – क्रियावतीशक्ति और वैभाविकशक्ति – यह दो गुण, जीव और पुद्गलद्रव्यों में ही रहते हैं।

प्रश्न 121 – क्रियावतीशक्ति का क्या कार्य है ?

उत्तर – एक क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होना अथवा गतिपूर्वक स्थिररूप से रहना।

प्रश्न 122 – क्रियावतीशक्ति जानने से धर्म सम्बन्धी क्या लाभ होगा ?

उत्तर – मैं शरीर को चला सकता हूँ, स्थिर रख सकता हूँ, शरीर मुझे अन्य क्षेत्र में ले जाता है, मैं यह बोझ उठाता हूँ इत्यादि गति–स्थिति की (पर के क्षेत्रान्तर होने और स्थिर रहने की) स्वतन्त्रता न माननेरूप घोर अज्ञान दूर हो जाए और अपने ज्ञाता स्वभाव से मैं सदैव ज्ञायकस्वरूप ही हूँ – ऐसा सच्चा निर्णय हो, वही धर्म का मूल है।

प्रश्न 123 – यदि जीव, शरीर को नहीं चलाता, तो फिर मुर्दा क्यों नहीं चलता ?

उत्तर – मुर्दा पुद्गलद्रव्य के अनेक स्कन्धों का पिण्ड है, उसमें प्रत्येक परमाणु में क्रियावतीशक्ति है; इसलिए उसकी अपनी योग्यतानुसार किसी समय उस परमाणु की गति अर्थात् क्षेत्रान्तररूप पर्याय होती है और कभी स्थिर रहनेरूप पर्याय होती है; इस प्रकार मुर्दे के परमाणुओं की उस समय की योग्यता के कारण स्थिररूप पर्याय होती है, इसलिए वह चलता नहीं है।

जब वह घर से बाहर निकलता दिखाई देता है, उस समय उसका जाना उसकी अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण है; मनुष्य इत्यादि तो निमित्तमात्र हैं।

प्रश्न 124 – चैतन्य गुण गति कर सकता है?

उत्तर – हाँ, जब जीव क्षेत्रान्तर, गमन करता है, तब चैतन्यगुण (दर्शन और ज्ञानगुण) जीव के साथ अभेद होने से उसका भी गमन होता है, उसमें जीव की क्रियावतीशक्ति निमित्त है।

प्रश्न 125 – वर्ण गुण गमन कर सकता है?

उत्तर – हाँ, जब पुद्गलद्रव्य अपनी क्रियावतीशक्ति से गमन करता है, तब वर्ण गुण उसके साथ अभेद होने से वह भी गमन करता है।

प्रश्न 126 – गतिहेतुत्व गुण एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है?

उत्तर – नहीं जाता, क्योंकि गतिहेतुत्व, धर्मास्तिकाय द्रव्य का गुण है और वह द्रव्य तो त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है; उसमें क्रियावतीशक्ति नहीं है।

प्रश्न 127 – तो फिर गतिहेतुत्व का अर्थ क्या?

उत्तर – जब जीव और पुद्गल स्वयं अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण गतिरूप परिणमित हों, उस समय उन्हें लोक में स्थिर और सर्वव्यापक धर्मद्रव्य का वह गुण निमित्त होता है– यही गतिहेतुत्व का अर्थ है।

प्रश्न 128 – गतिहेतुत्व गुण स्वयं अपने साथ रहनेवाले अन्य गुणों को गति करने में निमित्त है?

उत्तर – नहीं, क्योंकि धर्मास्तिकाय स्वयं सदैव स्थिर है, इसलिए उसके गुण भी गति करते ही नहीं; वे तो स्वयं गमनरूप परिणमित होनेवाले जीवों–पुद्गलों को ही गति में निमित्त हैं।

प्रश्न 129 – आकाश, धर्मद्रव्य और कालद्रव्य तो स्थिर हैं, तो क्या उन्हें अधर्मद्रव्य का निमित्त है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि वे कभी भी गतिपूर्वक स्थिर रहनेवाले द्रव्य नहीं हैं, किन्तु त्रिकाल स्थिर हैं।

प्रश्न 130 – स्वयं अपने को तथा पर को निमित्त हों– ऐसे द्रव्य कौन–से हैं ?

उत्तर – आकाश और कालद्रव्य।

प्रश्न 131 – भूकम्प, समुद्र में आनेवाला ज्वार–भाटा, ज्वालामुखी पर्वत का फटना, लावा, रस का प्रवाह – इनका यथार्थ कारण क्या है ?

उत्तर – वे सब पुद्गलद्रव्य की स्कन्धरूप पर्यायें हैं और उन–उन द्रव्यों के द्रव्यत्व गुण तथा क्रियावतीशक्ति के कारण वे अवस्थाएँ होती हैं।

प्रश्न 132 – पेट्रोल खत्म हुआ और मोटर रुक गयी, उसमें मोटर रुकने का कारण क्या ?

उत्तर – मोटर उस काल की अपनी क्रियावतीशक्ति के स्थिरतारूप परिणाम के कारण रुकी है, उसमें पेट्रोल खत्म होना तो निमित्तमात्र है।

प्रश्न 133 – रेलगाड़ी भाप से चलती है, यह ठीक है ?

उत्तर – नहीं; उसके चलने में उसकी अपनी कियावतीशक्ति का क्षेत्रान्तररूप परिणमन है, वह सच्चा कारण है; भाप आदि तो निमित्तमात्र हैं।

प्रश्न 134 – वृक्ष से फल नीचे गिरा, उसमें पृथ्वी की आकर्षण शक्ति कारण है – यह सिद्धान्त यथार्थ है ?

उत्तर – नहीं; फल अपने परमाणुओं की क्रियावतीशक्ति के गमनरूप परिणमन के कारण गिरता है, फल के डण्ठल का सड़ जाना, हवा का चलना आदि तो निमित्तमात्र है।

प्रश्न 135 – फब्बारे का पानी ऊपर उछलता है और झरने का पानी नीचे की ओर गिरता है – इसका क्या कारण है ?

उत्तर – दोनों में उन-उन परमाणुओं की क्रियावतीशक्ति का गमनरूप परिणमन कारण है।

अनुजीवी और प्रतिजीवी गुण

प्रश्न 136 – अनुजीवी गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – भावस्वरूप गुणों को अनुजीवी गुण कहते हैं; जैसे कि जीव के अनुजीवी गुण – चेतना (दर्शन ज्ञान) श्रद्धा, चरित्र, सुख आदि और पुद्गल के अनुजीवी गुण – स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि।

प्रश्न 137 – प्रतिजीवी गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – वस्तु के अभावस्वरूप धर्म को प्रतिजीवी गुण कहते हैं; जैसे कि – नास्तित्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व आदि।

प्रश्न 138 – जीव के अनुजीवी गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – चेतना (दर्शन, ज्ञान), श्रद्धा (सम्यक्त्व), चारित्र,

सुख, वीर्य, भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व, वैभाविकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, क्रियावतीशक्ति – आदि अनन्त गुण।

प्रश्न 139 – जीव के प्रतिजीवी गुण कौन–कौन से हैं ?

उत्तर – अव्याबाध, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व, नास्तित्व, इत्यादि।

प्रश्न 140 – अव्याबाध प्रतिजीवी गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – वेदनीय कर्म के अभावपूर्वक जिस गुण की शुद्धपर्याय प्रगट होती है, उसे (उस गुण को) अव्याबाध प्रतिजीवी गुण कहते हैं।

प्रश्न 141 – अवगाहनत्व प्रतिजीवी गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – आयुकर्म के अभावपूर्वक जिस गुण की शुद्धपर्याय प्रगट होती है, उसे [उस गुण को] अव्याबाध प्रतिजीवी गुण कहते हैं।

प्रश्न 142 – अगुरुलघुत्व प्रतिजीवी गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – गोत्रकर्म के अभावपूर्वक जिस गुण की शुद्धपर्याय प्रगट होती है और उच्च–नीच का व्यवहार भी दूर होता है, उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं ?

प्रश्न 143 – सूक्ष्मत्व प्रतिजीव गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – नामकर्म के अभावपूर्वक जिस गुण की शुद्धपर्याय प्रगट होती है, उसे सूक्ष्मत्व प्रतिजीवी गुण कहते हैं।

प्रश्न 144 – दो ही द्रव्यों को लागू होते हैं – ऐसे अनुजीवी गुण कौन–से हैं ?

उत्तर – क्रियावतीशक्ति और वैभाविकशक्ति – यह दोनों गुण जीव और पुद्गलद्रव्य में ही हैं।

प्रश्न 145 – अजड़त्व किस द्रव्य का प्रतिजीवी गुण है?

उत्तर – जीवद्रव्य का।

प्रश्न 146 – जड़त्व किस का अनुजीवी गुण है?

उत्तर – पुद्गल, धर्म–अधर्म, आकाश और कालद्रव्य का।

प्रश्न 147 – अचेतनपना और अमूर्तपना – यह दोनों प्रतिजीव गुण एक साथ किन द्रव्यों में हैं?

उत्तर – धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य में।

★★★★★

सर्वज्ञदेव कथित छहों द्रव्यों की स्वतन्त्रतादर्शक
सामान्य गुण

(1) अतिस्तत्व गुण –

मिथ्यात्ववश जो मानता 'कर्ता जगत भगवान को',
वह भूलता है लोक में अस्तित्वगुण के ज्ञान को;
उत्पाद व्यययुत वस्तु है फिर भी सदा ध्रुवता धरे,
अस्तित्वगुण के योग्य से कोई नहीं जग में मरे ॥ 1 ॥

(2) वस्तुत्व गुण –

वस्तुत्वगुण के योग से हो द्रव्य में स्वक्रिया,
स्वाधीन गुण-पर्याय का ही पान द्रव्यों ने किया;
सामान्य और विशेषता से कर रहे निज काम को,
यों मानकर वस्तत्व को पाओ विमल शिवधाम को ॥ 2 ॥

(3) द्रव्यत्व गुण –

द्रवयत्वगुण इस वस्तु को जग में पलटता है सदा,
लेकिन कभी भी द्रव्य तो तजता न लक्षण सम्पदा;
स्व-द्रव्य में मोक्षार्थी ही स्वाधीन सुख लो सर्वदा,
हो नाश जिससे आज तक की दु:खदायी भवकथा ॥ 3 ॥

(4) प्रमेयत्व गुण -

सब द्रव्य-गणु प्रमेय से बनते विषय हैं ज्ञानके,
रुकता न सम्यग्ज्ञान पर से जानियों यों ध्यान से;
आत्मा अरूपी ज्ञेय निज यह ज्ञज्ञन उसको जानता,
है स्व-पर सत्ता विश्व में सुदृष्टि उनको जानता ॥ 4 ॥

(5) अगुरुलघुत्व गुण -

यह गुण अगुरुलघु भी सदा रखता महत्ता है महा,
गुण-द्रव्य को पररूप यह होने न देता है अहा!;
निज गुण पर्यय सर्व ही रहते सतत निजभाव में,
कर्ता न हर्ता अन्य कोई यों लखे स्व-स्वभाव में ॥ 5 ॥

(6) प्रदेशत्व गुण -

प्रदेशत्व गुण की शक्ति से आकार द्रव्यों को धरे,
जिनक्षेत्र में व्यापक रहे आकार भी स्वाधीन है;
आकार हैं सबके अलग, हो लीन अपने ज्ञान में,
जानों इन्हें सामान्य गुण रखो सदा श्रद्धान में ॥ 6 ॥

(ब्र० गुलाबचन्द्र जैन)

प्रकरण तीसरा
पर्याय अधिकार

प्रश्न 1 – पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर – गुण के विशेष कार्य को अर्थात् परिणमन को पर्याय कहते हैं।

प्रश्न 2 – पर्याय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो – व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्याय।

प्रश्न 3 – व्यञ्जनपर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर – द्रव्य के प्रदेशत्व गुण के विशेष कार्य को व्यञ्जन –पर्याय कहते हैं।

प्रश्न 4 – व्यञ्जनपर्याय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो – स्वभावव्यञ्जनपर्याय और विभावव्यञ्जन-पर्याय।

प्रश्न 5 – स्वभावव्यञ्जनपर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर – परनिमित्त के सम्बन्धरहित द्रव्य का जो आकार हो,

उसे स्वभावव्यञ्जनपर्याय कहते हैं; जैसे कि – सिद्ध भगवान का आकार।

प्रश्न 6 – विभावव्यञ्जनपर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर – परनिमित्त के सम्बन्धवाले द्रव्य का जो आकार हो, उसे विभावव्यञ्जनपर्याय कहते हैं; जैसे कि – जीव की नर – नरकादि पर्यायें।

प्रश्न 7 – अर्थपर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर – प्रदेशत्व गुण के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण गुणों के विशेष कार्य को अर्थपर्याय कहते हैं।

प्रश्न 8 – अर्थपर्याय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद – स्वभावअर्थपर्याय और विभावअर्थपर्याय।

प्रश्न 9 – स्वभावअर्थपर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर – परनिमित्त के सम्बन्धरहित जो अर्थपर्याय होती है, उसे स्वभावअर्थपर्याय कहते हैं, जैसे कि जीव की केवलज्ञानपर्याय।

प्रश्न 10 – विभावअर्थपर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर – परनिमित्त के सम्बन्धवाली जो अर्थपर्याय होती है, उसे विभावअर्थपर्याय कहते हैं, जैसे कि जीव को राग-द्वेषादि।

प्रश्न 11 – किन-किन द्रव्यों में कौन-कौन सी पर्यायें होती हैं ?

उत्तर – (अ) जीव और पुद्गलद्रव्यों में चार पर्यायें होती हैं – (1) स्वभावअर्थपर्याय, (2) विभावअर्थपर्याय, (3) स्वभावव्यञ्जनपर्याय, (4) विभावव्यञ्जनपर्याय।

(ब) धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यों में मात्र दो पर्यायें हैं – (1) स्वभावअर्थपर्याय, (2) स्वभावव्यञ्जनपर्याय।

प्रश्न 12 – 'आकार' क्या अर्थ है ?

उत्तर – आकार, प्रदेशत्व गुण की व्यञ्जनपर्याय है; इसलिए वह द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में होती है। द्रव्य की मात्र बाह्याकृति को आकार नहीं कहा जाता है, किन्तु उसके कद (Volume) को आकार कहा जाता है।

प्रश्न 13 – जीव का आकार किस प्रकार सङ्कोच–विस्तार को प्राप्त होता है, वह दृष्टान्तपूर्वक समझाइये।

उत्तर – (1) भीगे–सूखे चमड़े की भाँति जीव के प्रदेश अपनी शक्ति से सङ्कोच–विस्ताररूप होते हैं।

(2) छोटे–बड़े शरीर प्रमाण सङ्कोच–विस्तार होने पर भी और अपने एक–एक प्रदेश में अपने दूसरे प्रदेश अवगाहना प्राप्त करने पर भी मध्य के आठ–रुचकादिप्रदेश सदैव अचलित रहते हैं; अर्थात् एक–दूसरे में अवगाहना को प्राप्त नहीं होते।

प्रश्न 14 – सिद्धदशा में जीव का आकार कितना और कैसा होता है ?

उत्तर – सिद्ध का आकार अन्तिम शरीर से किञ्चित् न्यून और पुरुषाकार होता है। ***(बृहत् द्रव्यसंग्रह, गाथा 14, 51 तथा टीका)***

प्रश्न 15 – समान आकारवाले द्रव्य कौन से हैं ?

उत्तर – 1. कालाणु और परमाणु पुद्गल द्रव्य;

2. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय।

प्रश्न 16 – सबसे बड़ा आकार, सबसे छोटा आकार और उन दोनों के बीचवाले आकार के कौन-से द्रव्य हैं ?

उत्तर – सबसे बड़ा आकार अनन्त प्रदेशात्मक आकाश का और सबसे छोटा आकार एक प्रदेशी परमाणु तथा कालाणु का होता है। उन दोनों के बीच के आकारवाले असंख्य प्रदेशी जीवद्रव्य, धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय होते हैं।

प्रश्न 17 – प्रत्येक द्रव्य में कौन-सी पर्याय एक और कौन-सी अनन्त होती हैं ?

उत्तर – प्रत्येक द्रव्य में प्रदेशत्व गुण के कारण व्यञ्जनपर्याय एक होती है और उस (द्रव्य) में अनन्त गुण होने से उसकी अर्थ पर्यायें अनन्त होती हैं।

प्रश्न 18 – जीवद्रव्य में विभावव्यञ्जनपर्याय कहाँ तक होती हैं ?

उत्तर – चौदहवें गुणस्थान[1] तक सर्व संसारी जीवों को विभावव्यञ्जनपर्याय होती है, क्योंकि वहाँ तक जीव का पर निमित्त (पौद्गलिक कर्म) के साथ सम्बन्ध रहता है।

प्रश्न 19 – सादि-अनन्त स्वभावव्यञ्जनपर्याय और सादि-अनन्त स्वभावअर्थपर्याय किसको होती है ?

---

1. मोह और योग के निमित्त से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्मा के गुणों की तारतम्यतारूप अवस्था - विशेष को गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान 14 हैं - (1) मिथ्यात्व, (2) सासादन, (3) मिश्र, (4) अविरत सम्यग्दृष्टि, (5) देशविरति, (6) प्रमत्तविरत, (7) अप्रमत्तविरत, (8) अपूर्वकारण, (9) अनिवृत्तिकरण, (10) सूक्ष्मसाम्पराय, (11) उपशान्तमोह, (12) क्षीणमोह, (13) सयोगकेवली, (14) अयोगकेवली।

उत्तर – सिद्धभगवान को, क्योंकि उनके विकार और परनिमित्त का सम्बन्ध सर्वथा छूट गया है।

प्रश्न 20 – आकार में (व्यञ्जनपर्याय में) अन्तर होने पर भी अर्थपर्याय में समानता हो – ऐसे द्रव्य कौन से और कितने हैं ?

उत्तर – ऐसे सिद्ध भगवान हैं और वे अनन्त हैं।

प्रश्न 21– त्रिकाल स्वभावअर्थपर्याय और स्वभावव्यञ्जन पर्याय किन द्रव्यों के होती है ?

उत्तर – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल – इन चार द्रव्यों के होती है।

प्रश्न 22 – पहिले अर्थपर्याय शुद्ध हो और फिर व्यञ्जनपर्याय शुद्ध है – ऐसा किन द्रव्यों में होता हैं ?

उत्तर – ऐसा जीवद्रव्य में होता है, जैसे कि – चौथे गुणस्थान में श्रद्धा गुण की पर्याय पहले शुद्ध होती है; बारहवें गुणस्थान में चारित्र गुण की अर्थपर्याय शुद्ध होती है; तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान दर्शन, सुख और वीर्य गुणों की पर्यायें परिपूर्ण शुद्ध होती हैं; चौदहवें गुणस्थान में योग, गुण की पर्याय शुद्ध होती है, और सिद्धदशा होने पर वैभाविक गुण, क्रियावतीशक्ति तथा चार प्रतिजीवी गुण– अव्याबाध, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व इत्यादि की अर्थपर्यायें शुद्ध होती हैं; और उसी समय व्यञ्जनपर्याय (प्रदेशत्व गुण की पर्याय) शुद्ध होती हैं, किन्तु वह पहिले शुद्ध नहीं होती।

प्रश्न 23 – सादि–सान्त स्वभावअर्थपर्याय और स्वभाव – व्यञ्जनपर्याय किस द्रव्य के एक साथ होती है ?

उत्तर – एक पुद्‌गल परमाणु के दोनों एक साथ होती हैं। जब

वह स्कन्ध से पृथक् होता है, तब शुद्ध होता है, किन्तु जब पुनः स्कन्धरूप परिणमित होता है, तब वह अशुद्ध हो जाता है।

प्रश्न 24 – सवा पाँच सौ धनुष की बड़ी अवगाहनावाले (आकारवाले) सिद्ध भगवन्तों को अधिक आनन्द और छोटी अवगाहनावाले सिद्धों को कम आनन्द – ऐसा होता होगा?

उत्तर – नहीं, क्योंकि सिद्धों का आनन्द तो सुख गुण की स्वभावअर्थपर्याय है, इसलिए सर्व सिद्ध भगवन्तों को सदैव एक-सा ही अनन्त सुख (आनन्द) होता है। सुख का व्यञ्जनपर्याय (क्षेत्र / आकार) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न 25 – द्रव्य, गुण और पर्याय – इन तीनों में सत् कौन है?

उत्तर – तीनों सत् हैं। सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय – इस प्रकार सत् गुण का विस्तार है; उसमें सदृश सामान्य सत् द्रव्य तथा गुण नित्य सत् और पर्याय एक समय पर्यन्त अनित्य सत् है।

(– प्रवचनसार, गाथा 107)

प्रश्न 26 – उत्पाद किसे कहते हैं?

उत्तर – द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं।

प्रश्न 27 – व्यय किसे कहते हैं?

उत्तर – द्रव्य के पूर्व पर्याय के त्याग को व्यय कहते हैं।

प्रश्न 28 – ध्रौव्य किसे कहते हैं?

उत्तर – प्रत्यभिज्ञान[1] के कारणभूत द्रव्य की किसी अवस्था की नित्यता को ध्रौव्य कहते हैं।

---

1. *स्मृति और प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थों में एकरूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं; जैसे कि – यह वही व्यक्ति है, जिसे कल देखा था।*

प्रश्न 29 – उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य एक समय में ही होते हैं या भिन्न–भिन्न समय में ?

उत्तर – उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य – यह तीनों एक ही समय में साथ ही वर्तते हैं।

प्रश्न 30 – वर्तमान अज्ञान दूर होकर सच्चा ज्ञान होने से कितना काल लगता है ?

उत्तर – एक समय, क्योंकि पर्याय प्रति समय बदलती है।

प्रश्न 31 – पर्यायें किसमें से उत्पन्न होती हैं ?

उत्तर – द्रव्य तथा गुणों से उत्पन्न होती हैं।

(– प्रवचनसार, गाथा 107)

प्रश्न 32 – पर्याय तो अनित्य है, तो वह सत् है या असत् ?

उत्तर – सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय – इस प्रकार सत् का विस्तार है; इसलिए पर्याय भी एक समय पर्यन्त सत् है।

(प्रवचनसार गाथा 107)

प्रश्न 33 – गुण अंश है या अंशी ?

उत्तर – द्रव्य की अपेक्षा से गुण उस द्रव्य का अंश है और पर्याय की अपेक्षा से वह अंशी है।

प्रश्न 34 – पर्याय किसका अंश है ?

उत्तर – वह गुण का एक समय पर्यन्त का अंश है, इसलिए द्रव्य का भी एक समय पर्यन्त का अंश है।

प्रश्न 35 – पुद्गल परमाणु आदि पाँच अजीव (अचेतन) द्रव्य हैं, वे कुछ जानते नहीं हैं, तो वे किसी के आधार बिना कैसे व्यवस्थित रह सकते हैं ?

उत्तर – वे अस्तित्वादि गुण युक्त तथा उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप सत् लक्षणवान होने से उन्हें किसी के आधार की आवश्यकता नहीं है। स्व सत्ता के आधार से उनके निरन्तर क्रमबद्ध उत्पाद–व्ययरूप व्यवस्थित पर्याय होती ही रहती है।

प्रश्न 36 – क्षेत्र और काल की अपेक्षा से द्रव्य–गुण–पर्याय की तुलना करो?

उत्तर – (1) तीनों का क्षेत्र समान अर्थात् एक ही है।

(2) काल की अपेक्षा से द्रव्य–गुण त्रिकाल और पर्याय एक समय जितनी है।

प्रश्न 37 – द्रव्य–गुण–पर्याय– इन तीनों में से ज्ञात होने योग्य (प्रमेय) कौन–कौन हैं?

उत्तर – तीनों ज्ञात होने योग्य (प्रमेय–ज्ञेय) हैं।

प्रश्न 38 – द्रव्य की भूतकाल की पर्यायों की संख्या अधिक है या आगामी [भविष्य] काल की पर्यायों की?

उत्तर – द्रव्य की पर्यायों में अतीत [भूतकालीन] पर्यायें अनन्त हैं; अनागत [भविष्यकालीन] पर्यायें उनसे भी अनन्त गुनी हैं; और वर्तमान पर्याय एक ही है। सर्व द्रव्यों के अनन्त समयरूप भूतकाल तथा उससे अनन्तगुणे समयरूप भविष्यकाल है।

(स्वमी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 221 मूल तथा गाथा 302 का भावार्थ)

प्रश्न 39 – छहों द्रव्यों में द्रव्य–गुण–पर्याय जानने का क्या फल है?

उत्तर – स्व–पर का भेदज्ञान और परपदार्थों की कर्तृत्वबुद्धि का अभाव होता है – वह जानने का फल है।

प्रश्न 40 – स्कन्ध किसे कहते हैं ? यह किसको कौन सी पर्याय है ?

उत्तर – दो अथवा दो से अधिक परमाणुओं के बन्ध को स्कन्ध कहते हैं; वह पुद्गलद्रव्य की विभावअर्थपर्याय है।

प्रश्न 41 – बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर – अनेक वस्तुओं में एकत्व का ज्ञान करानेवाले सम्बन्ध विशेष को बन्ध कहते हैं।

प्रश्न 42 – स्कन्ध के कितने भेद हैं ?

उत्तर – आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, कार्मणवर्गणा आदि 22 भेद हैं।[1]

प्रश्न 43 – आहारवर्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो पुद्गल स्कन्ध औदारिक, वैक्रियिक और आहारक – इन तीन शरीरोंरूप परिणमन करता है, उसे आहारवर्गणा कहते हैं।

प्रश्न 44 – तैजसवर्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस वर्गणा से तैजस शरीर बनता है, उसे तैजसवर्गणा कहते हैं।

---

1. **श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 593-94 में 23 वर्गणा कही है – (1) अणुवर्गणा, (2) संख्याताणुवर्गणा, (3) असंख्याताणुवर्गणा, (4) अनन्ताणुवर्गणा, (5) आहारवर्गणा, (6) अग्राह्यवर्गणा, (7) तैजसवर्गणा, (8) अग्राह्यवर्गणा, (9) भाषावर्गणा, (10) अग्राह्यवर्गणा, (11) मनोवर्गणा, (12) अग्राह्यवर्गणा, (13) कार्मणवर्गणा, (14) ध्रुववर्गणा, (15) सान्तरनिरन्तर-वर्गणा, (16) शून्यवर्गणा, (17) प्रत्येक शरीरवर्गणा, (18) ध्रुवशून्यवर्गणा, (19) बादरनिगोद वर्गणा, (20) शून्यवर्गणा, (21) सूक्ष्मनिगोद वर्गणा, (22) नभावर्गणा, (23) महास्कन्ध वर्गणा।**

प्रश्न 45 – भाषावर्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो वर्गणा (पुद्गल स्कन्ध)शब्दरूप परिणमित होती है, उसे भाषावर्गणा कहते हैं।

प्रश्न 46 – मनोवर्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस पुद्गल स्कन्ध से आठ पँखुड़ियोंवाले कमल के आकारवाले द्रव्यमन की रचना होती है, उसे मनोवर्गणा कहते हैं।

प्रश्न 47 – कार्मणवर्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो पुद्गल स्कन्ध कार्मणशरीररूप परिणमे, उसे कार्माणवर्गणा कहते हैं।

प्रश्न 48 – शरीर कितने हैं ?

उत्तर – शरीर पाँच हैं – 1. औदारिक, 2. वैक्रियिक, 3. आहारक, 4. तैजस, और कार्मण।

प्रश्न 49 – औदारिक शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर – मनुष्य और तिर्यंच के स्थूल शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं।

प्रश्न 50 – वैक्रियिक शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो छोटे-बड़े, एक-अनेक आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाएँ करे – ऐसे देव और नारकियों के शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हैं।

प्रश्न 51 – आहारक शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर – आहारक ऋद्धिधारी छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि को किसी प्रकार की तत्त्वशङ्का होने पर अथवा जिनालय आदि की

वन्दना करने के लिए मस्तक में से एक हाथ प्रमाण स्वच्छ, श्वेत, सप्त धातुरहित पुरुषाकार जो पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं।

प्रश्न 52 – तैजस शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर – औदारिक, वैक्रियिक और आहारक – इन तीन शरीरों में कान्ति उत्पन्न होने में जो निमित्त है, उसे तैजस शरीर कहते हैं।

प्रश्न 53 – कार्मण शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर – ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं।

प्रश्न 54 – एक जीव को एक साथ कितने शरीरों का संयोग हो सकता है ?

उत्तर – (1) एक साथ कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीरों का संयोग होता है।

(2) विग्रहगति[1] में तैजस और कार्मण शरीर का संयोग होता है।

(3) मनुष्य और तिर्यञ्च को औदारिक, तैजस और कार्मण – तीन शरीर होते हैं, किन्तु आहारक ऋद्धिधारी मुनि को औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण – ऐसे चार शरीर होते हैं ?

(4) देव और नारकियों को वैक्रियिक, तैजस और कार्मण – तीन शरीर होते हैं।

---

1. ***विग्रहार्थ गतिर्विग्रहगतिः*** एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिए गमन करना, वह विग्रहगति है। ***(विग्रह = शरीर)***

प्रश्न 55 – ज्ञानगुण की कौन–कौन सी पर्यायें हैं ?

उत्तर – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान – यह सम्यग्ज्ञान की पर्यायें हैं और कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान तथा कुअवधिज्ञान – यह मिथ्याज्ञान की पर्यायें हैं – इस प्रकार ज्ञानगुण की आठ पर्यायें हैं।

प्रश्न 56 – उपरोक्त आठ पर्यायों में स्वभावअर्थपर्याय और विभावअर्थ पर्याय कौन हैं ?

उत्तर – (1) केवलज्ञान स्वभावअर्थपर्याय है।

(2) सम्यग्मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान – यह केवलज्ञान की अपेक्षा से विभावअर्थपर्यायें हैं और वही चार ज्ञान सम्यग्ज्ञान की पर्यायें हैं; इसलिए उन्हें एकदेश स्वभावअर्थपर्याय कहा जाता है।

(3) कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान – वे विभावअर्थ –पर्यायें हैं।

प्रश्न 57 – मतिज्ञान के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – (1) सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और (2) परोक्ष।

प्रश्न 58 – सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो इन्द्रिय और मन के निमित्त के सम्बन्ध से पदार्थ को एक देश (भाग) स्पष्ट जाने, उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रश्न 59 – मतिज्ञान के कितने भेद हैं ?

उत्तर – चार भेद हैं – (1) स्मृति, (2) प्रत्यभिज्ञान, (3) तर्क और (4) अनुमान।

(1) **स्मृति** – भूतकाल में जाने, देखे, सुने या अनुभव किये हुए पदार्थ का वर्तमान में स्मरण हो, वह स्मृति है।

(2) **प्रत्यभिज्ञान** – वर्तमान में किसी पदार्थ को देखने से 'यह वही पदार्थ है, जिसे पहले मैंने देखा था' – इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष को जोड़कर ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

(3) **तर्क** – कोई चिह्न देखकर 'यहाँ इस चिह्नवाला अवश्य होना चाहिए' – ऐसा विचार, वह तर्क (चिन्ता) है। इस ज्ञान को उह अथवा व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं।

(4) **अनुमान** – सन्मुख चिह्नदि देखकर उस चिह्नवाले पदार्थ का निर्णय करना, उसे अनुमान (अभिनिबोध) कहते हैं।

प्रश्न 60 – मतिज्ञान के क्रम के कितने भेद हैं ?

उत्तर – चार भेद हैं – (1) अवग्रह, (2) ईहा, (3) अवाय, और (4) धारणा।

(1) **अवग्रह** – इन्द्रिय और पदार्थ के योग्य स्थान में रहने से सामान्य प्रतिभासरूप दर्शन के पश्चात् अवान्तर सत्तासहित विशेष वस्तु के ज्ञान को अवग्रह कहते हैं; जैसे कि – यह मनुष्य है।

(2) **ईहा** – अवग्रहज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थ के विशेष में उत्पन्न हुए संशय को दूर करनेवाले ऐसे अभिलाषस्वरूप ज्ञान को ईहा कहते हैं; जैसे कि – वे ठाकुरदासजी हैं।

यह ज्ञान इतना निर्बल है कि किसी भी पदार्थ की ईहा होकर

छूट जाए तो कालान्तर में तत्सम्बन्धी संशय और विस्मरण हो जाता है।

(3) **अवाय** – ईहा से जाने हुए पदार्थ में यह वही है, दूसरा नहीं – ऐसे दृढ़ ज्ञान को अवाय कहते हैं; जैसे कि – वे ठाकुरदासजी ही हैं, दूसरा कोई नहीं।

अवाय से जाने हुए पदार्थ में संशय तो नहीं होता, किन्तु विस्मरण हो जाता है।

(4) **धारणा** – जिस ज्ञान से जाने हुए पदार्थ में कालान्तर में संशय तथा विस्मरण न हो, उसे धारणा कहते हैं।

प्रश्न 61 – आत्मा के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर – जीव को अनादि काल से अपने स्वरूप की भ्रमणा है, इसलिए प्रथम आत्मज्ञानी पुरुष से आत्मा का स्वरूप सुनकर युक्ति द्वारा आत्मा ज्ञानस्वभावी है – ऐसा निर्णय करना चाहिए... फिर परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारणरूप जो इन्द्रिय तथा मन द्वारा प्रवर्तित बुद्धि, उसे मर्यादा में लाकर अर्थात् परपदार्थों की ओर से अपना लक्ष्य हटाकर आत्मा जब स्वयं स्वसन्मुख लक्ष्य करता है, तब प्रथम सामान्य स्थूलरूप से आत्मा सम्बन्धी ज्ञान हुआ। वह **अवग्रह**; पश्चात् विचार के निर्णय की ओर ढला, वह **ईहा:** 'आत्मा का स्वरूप ऐसा ही है अन्यथा नहीं' – ऐसा स्पष्ट निर्णय हुआ, वह **अवाय;** और निर्णय किये हुए आत्मा के बोध को दृढ़तारूप से धारण कर रखना, वह **धारणा**। यहाँ तक तो परोक्ष ऐसे मतिज्ञान में धारणा तक का अन्तिम भेद हुआ। फिर – यह

आत्मा अनन्त ज्ञानानन्द शान्तिस्वरूप है – ऐसा मति में से बढ़ता हुआ तार्किक ज्ञान, वह श्रुतज्ञान है। भीतर स्वलक्ष्य में मन-इन्द्रियाँ निमित्त नहीं है। जीव उनसे अंशत: पृथक् हो, तब स्वतन्त्र तत्त्व का ज्ञान करके उसमें स्थिर हो सकता है।

(मोक्षशास्त्र, अध्याय -1, सूत्र 15 की टीका, प्रकाशक स्वा० मन्दिर)

प्रश्न 62 – मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थों के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – 1. व्यक्त और 2. अव्यक्त।

प्रश्न 63 – अवग्रहादिक ज्ञान दोनों प्रकार के पदार्थों में हो सकते हैं ?

उत्तर – व्यक्त (प्रगटरूप) पदार्थ में अवग्रहादिक चारों ज्ञान होते हैं, परन्तु अव्यक्त (अप्रगटरूप) पदार्थ का मात्र अवग्रह ज्ञान ही होता है।

प्रश्न 64 – अर्थावग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर – व्यक्त (प्रगट) पदार्थ के अवग्रह ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं।

प्रश्न 65 – व्यञ्जनावग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर – अव्यक्त (अप्रगट) पदार्थ के अवग्रह को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं।

प्रश्न 66 – व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह की भाँति सर्व इन्द्रियों और मन द्वारा होता है या किसी अन्य प्रकार से ?

उत्तर – व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन के अतिरिक्त अन्य सर्व इन्द्रियों से होता है।

प्रश्न 67 – व्यक्त और अव्यक्त पदार्थों के कितने भेद हैं ?

उत्तर – प्रत्येक बारह–बारह भेद हैं – बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, नि:सृत, अनि:सृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव, अध्रुव।

प्रश्न 68 – चारित्र गुण की शुद्ध पर्यायें कौन–कौनसी हैं ?

उत्तर – चार हैं – स्वरूपाचरणचारित्र, देशचारित्र, सकल – चारित्र और यथाख्यातचारित्र

प्रश्न 69 – स्वरूपाचरणचारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर – निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर आत्मानुभवपूर्वक आत्मस्वरूप में, अनन्तानुबन्धी कषायों के अभावस्वरूप जो स्थिरता होती है, उसे स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं।

प्रश्न 70 – देशचारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर – निश्चयसम्यग्दर्शनसहित चारित्र गुण की कुछ विशेष शुद्धि होने पर (अनन्तानुबन्धी – अप्रत्याख्यानावरणीय कषायों के अभावपूर्वक) उत्पन्न आत्मा की शुद्धि विशेष को देशचारित्र कहते हैं।

[इस श्रावकदशा में व्रतादिरूप शुभभाव होते हैं। शुद्ध देश चारित्र से धर्म होता है और व्यवहार से व्रत से बन्ध होात है। निश्चयचारित्र के बिना सच्चा व्यवहारचारित्र नहीं हो सकता।]

प्रश्न 71 – सकलचारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर – निश्चयसम्यग्दर्शनसहित चारित्र गुण की शुद्धि की वृद्धि होने पर (अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषायों के अभावपूर्वक)

उत्पन्न (भावलिङ्गी मुनिपद के योग्य) आत्मा की शुद्धि विशेष को सकलचारित्र कहते हैं।

मुनिपद में 28 मूलगुणादि का जो शुभभाव होता है, उसे व्यवहारसकलचारित्र कहते हैं।

[निश्चयचारित्र आत्माश्रित होने से मोक्षमार्ग है – धर्म है; और व्यवहारचारित्र पराश्रित होने से वास्तव में बन्धमार्ग हैं; धर्म नहीं है।]

प्रश्न 72 – यथाख्यातचारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर – निश्चयसम्यग्दर्शनसहित चारित्र गुण की पूर्ण शुद्धता होने पर, कषायों के सर्वथा अभावपूर्वक उत्पन्न आत्मा की शुद्धि विशेष को यथाख्यातचारित्र कहते हैं।

प्रश्न 73 – निम्नोक्त बोल किस गुण की कौन-सी पर्याय हैं ? – ध्वनि, प्रतिध्वनि, छाया, प्रतिबिम्ब, सूर्य का विमान, घड़ी के लट्टू का हिलना, दुःख, मोक्ष और केवलज्ञान।

उत्तर – (1) **ध्वनि** वह पुद्गलद्रव्य के भाषावर्गणारूप स्कन्ध में से उत्पन्न हुई ध्वनिरूप पर्याय है। एक पुद्गल परमाणु ध्वनिरूप परिणमित नहीं होता, इसलिए वह किसी मुख्य गुण की पर्याय नहीं है, किन्तु स्पर्श गुण के कारण हुए स्कन्ध की विशेष प्रकार की पर्याय है और उस स्कन्ध का आकार, वह विभावव्यञ्जनपर्याय हैं।

(2) प्रतिध्वनि भी उपरोक्तानुसार भाषावर्गणा में से उत्पन्न हुई स्कन्धरूप पर्याय है, और उस स्कन्ध का आकार, वह विभाव -व्यञ्जन पर्याय है।

(3) छाया और प्रतिबिम्ब पुद्गलद्रव्य के वर्ग गुण की विभावअर्थपर्याय है।

(4) सूर्य विमान पुद्गलद्रव्य के अनेक स्कन्धों का अनादि –अनन्त पिण्ड है। सूर्य में जो तेज (प्रकाश) है, वह वर्ण गुण की विभावअर्थपर्याय है।

(सूर्यलोक में वास करनेवाले ज्योतिषी देवों का नाम भी सूर्य है। देवगति नामकर्म के धारावाही उदय के वशवर्ती स्वभाव द्वारा वे देव हैं। *(प्रवचनसार गाथा 68 की टीका)*

(5) घड़ी के लट्टू का चलना, वह पुद्गलद्रव्य की क्रियावतीशक्ति के कारण होनेवाली गमनरूप विभावअर्थपर्याय है।

(6) दुःख, वह जीवद्रव्य के सुख गुण की आकुलतारूप विभावअर्थपर्याय है।

(7)मोक्ष, वह जीवद्रव्य के समस्त गुणों की स्वभावअर्थ - पर्याय और प्रदेशत्व गुण की स्वभावव्यञ्जनपर्याय है।

(8) केवलज्ञान, वह जीवद्रव्य के ज्ञान गुण की परिपूर्ण स्वभावअर्थपर्याय है।

प्रश्न 74 – अनादि–अनन्त, सादि–अनन्त, अनादि–सान्त और सादि–सान्त – इन्हें उदाहरण देकर समझाइये?

उत्तर – (1) **अनादि–अनन्त** – जिसका आदि और अन्त न हो, उसे अनादि–अनन्त कहते हैं। द्रव्य और गुण अनादि–अनन्त हैं। अभव्य जीव की संसारी पर्याय भी अनादि–अनन्त है।

(2) **सादि–अनन्त** – क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञानादि

क्षायिकभाव तथा मोक्षपर्याय नये प्रगट होते हैं, उस अपेक्षा से वे सादि (आदि सहित) हैं और वे पर्यायें बदलने पर भी ज्यों के त्यों अनन्त काल होते ही रहते हैं, इसलिए उन्हें अनन्त कहा है।

(3) **अनादि-सान्त** - संसारपर्याय अनादिकालीन है, किन्तु जिस भव्य जीव के संसारदशारूप अशुद्धपर्याय का अन्त आ जाता है, उसे वह अनादि-सान्त है।

(4) **सादि-सान्त** - सम्यग्दृष्टि को मोक्षमार्ग सम्बन्धी क्षयोपशम तथा उपशमभाव नये-नये होते हैं; इसलिए वे सादि, और उनका अन्त आता है, इसलिए सान्त हैं।

प्रश्न 75 - सायंकाल के बादलों में क्या बदलता दिखाई देता है?

उत्तर - उनमें वर्ण बदलता है; वह पुद्‌गलद्रव्य के वर्ण गुण की विभावअर्थपर्याय है और जो आकार बदलता है, वह उनके प्रदेशत्व गुण की विभावव्यञ्जनपर्याय है।

प्रश्न 76 - महावीरस्वामी और भगवान ऋषभदेव - दोनों की व्यञ्जन और अर्थपर्याय की तुलना करो?

उत्तर - दोनों के आकार में - ऊँचाई आदि में अन्तर होने से उनकी व्यञजनपर्याय में अन्तर है, किन्तु प्रदेशत्व गुण के अतिरिक्त शेष गुणों की पर्यायें समान होने से उनकी अर्थपर्यायें समान हैं।

प्रश्न 77 - दो परमाणु द्रव्यों की व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्याय की तुलना करो, तथा जीव की सिद्धपर्याय के साथ उनकी तुलना करो?

उत्तर – (1) दो पृथक् परमाणु पृथक् रहते है, तब तक उनकी स्वभावव्यञ्जनपर्यायें समान होती हैं।

स्वभावअर्थपर्यायें शुद्ध होने पर भी उनके स्पर्शादि गुणों के परिणमन में परस्पर अन्तर होता है।

परमाणु का बन्धस्वभाव होने से उसमें पुनः स्कन्ध होने की योग्यता है; इसलिए अपने स्पर्श गुण के कारण वे बन्धदशा को प्राप्त करते हैं।

(2) दो सिद्धात्माओं की परस्पर स्वभाव व्यञ्जनपर्यायें एक-सी नहीं होती, किन्तु दो पृथक् परमाणुओं की व्यञ्जनपर्यायें एक-सी होती है।

जीव का मोक्षस्वभाव होने से – दो सिद्धात्माओं की स्वभाव अर्थपर्यायें सदैव एक समान शुद्ध परिणमित होती है, किन्तु दो पृथक् पुद्‌गल परमाणुओं में ऐसा नहीं होता।

सिद्धभगवान शुद्ध हुए सो हुए, फिर कभी भी बन्धदशा को प्राप्त नहीं होते, किन्तु पुद्‌गलपरमाणु पुनः-पुनः बन्धदशा को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न 78 – क्या आम्रफल की व्यञ्जनपर्याय उसके ऊपरी भाग में होती हैं ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि वह अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है और उसके सम्पूर्ण भाग में उन-उन परमाणुओं की व्यञ्जनपर्याय हैं। प्रत्येक परमाणुद्रव्य की व्यवञ्जनपर्याय भी भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं।

प्रश्न 79 – जिसके स्वभावव्यञ्जनपर्याय हो, उसके विभाव -अर्थपर्याय होती है ? होती हो तो कारण बतलाइये ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि जीवद्रव्य में मोक्षदशा हुए बिना स्वभावव्यञ्जनपर्याय प्रगट नहीं होती, इसलिए जिसके स्वभाव व्यञ्जनपर्याय हो, उसे विभाव अर्थपर्याय नहीं हो सकती।

पुद्गलद्रव्य में भी स्वभावव्यञ्जनपर्याय हो, उस काल विभावअर्थपर्याय (स्कन्धरूप पर्याय) नहीं होती।

प्रश्न 80 – चार प्रकार की पर्यायों में से तीन प्रकार की पर्यायें किसके होती है ?

उत्तर – संसारी सम्यग्दृष्टि जीव के तीन प्रकार की पर्यायें होती हैं, क्योंकि —

(1) क्षायिक सम्यक्त्वरूप स्वभावअर्थपर्याय किसी को चौथे गुणस्थान से होती है; और बारहवें गुणस्थान से चारित्रगुण की स्वभावअर्थपर्याय होती है; तेरहवें गुणस्थान से ज्ञानादिक की पूर्ण शुद्धअर्थपर्यायें होती हैं।

(2) योगगुण की स्वभावअर्थपर्याय तेरहवें गुणस्थान के अन्त में प्रगट होती है।

(3) चौदहवें गुणस्थान तक प्रदेशत्व गुण की विभावव्यञ्जन –पर्याय होती है, और –

(4) शेष जिन–जिन गुणों का अशुद्ध परिणमन है, उनकी विभावअर्थपर्यायें चौदहवें गुणस्थान तक होती हैं।

(आत्मावलोकन, पृष्ठ 100–101)

प्रश्न 81 – अरहन्त भगवान के विभावव्यञ्जनपर्याय होती है ?

उत्तर – हाँ, क्योंकि उनके भी प्रदेशत्व गुण का अशुद्ध परिणमन है, और वह चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक होता है।

प्रश्न 82 – अरिहन्त भगवान, सिद्ध भगवान और अव्रती सम्यग्दृष्टि – इन तीनों का सम्यग्दर्शन समान है या कुछ अन्तर है ?

उत्तर – समान है। 'जिस प्रकार छद्मस्थ को श्रुतज्ञान अनुसार प्रतीति होती है, उसी प्रकार केवली और सिद्ध भगवान को केवलज्ञान–अनुसार ही प्रतीति होती है। जिन सात तत्त्वों का स्वरूप पहले निर्णीत किया था, वही अब केवलज्ञान द्वारा जाना; इसलिए वहाँ प्रतीति में परम अवगाढ़ता हुई, इसलिए वहाँ परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है, किन्तु पूर्व काल में श्रद्धान किया था, उसे यदि असत्य माना होता तो वहाँ अप्रतीति होती, किन्तु जैसा सात तत्वों का श्रद्धान छद्मस्थ को हुआ था, वैसा ही केवली सिद्ध भगवान को भी होता है; इसलिए ज्ञानादि की हीनता–अधिकता होने पर भी तिर्यञ्चादिक और केवली सिद्ध भगवान को सम्यक्त्वगुण तो समान ही कहा है।' *(मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार 9 वाँ, पृष्ठ 321–22)*

प्रश्न 83 – भगवान की दिव्यध्वनि क्या है ?

उत्तर – दिव्यध्वनि पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। तेरहवें गुणस्थानवर्ती श्री अरिहन्तदेव की उपदेशात्मक भाषा निकलती है, उसे दिव्यध्वनि कहते हैं। भगवान का आत्मद्रव्य अखण्ड वीतराग भावरूप व अखण्ड केवलज्ञानरूप परिणमित हो गया है, इसलिए योग के निमित्त से जो दिव्यध्वनि खिरती है, वह भी अखण्ड, अर्थात् निरक्षर (अनक्षर) स्वरूप होती है।

भगवान की दिव्यध्वनि[1] देव, मनुष्य, तिर्यञ्च – सभी जीव

भगवान की दिव्यध्वनि सम्बन्धी विशेष आधार निम्न लिखित हैं –

1. *जिन की धुनि है ॐकाररूप, निरक्षरमय महिमा अनूप। (पण्डित द्यानतरायकृत जयमाला) 2. सर्वार्थसिद्धि टीका (अध्याय 5, सूत्र 24 की टीका) 3. तत्त्वार्थ*

अपनी अपनी भाषा में अपने ज्ञान की योग्यतानुसार समझते हैं। उन निरक्षर ध्वनि को ॐकार ध्वनि भी कहते हैं। जब तक वह ध्वनि श्रोताओं के कर्ण प्रदेश तक न पहुँचे, तब तक वह अनक्षर ही हैं और जब वह श्रोताओं के कर्णों में प्राप्त हो जाती है, तब अक्षररूप होती है। *(देखो, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 227 की टीका)*

प्रश्न 84 – सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान का क्या विषय है?

उत्तर – 1. **सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।**

(मोक्षाशास्त्र, अध्याय - 1, सूत्र 29)

अर्थात् केवलज्ञान का विषय सर्व द्रव्य (गुणोंसहित) और उनकी सर्व पर्यायें हैं – अर्थात् केवलज्ञान एक साथ सर्व पदार्थों को और उनके सर्व गुणों तथा पर्यायों को जानता है।

2. श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्रवचनसार गाथा 37 में कहा है –

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदां हि पज्जया तासिं।
वट्टते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं॥ 37॥

अर्थात उन **(जीवादि) द्रव्य जातियों की समस्त**

राजवार्तिक टीका (अध्याय 5, सूत्र 24 की टीका) 4. श्लोकवार्तिक टीका 1 (अध्याय 5, सूत्र 24 की टीका) 5. अर्थ प्रकाशिका (अध्याय 5, सूत्र 24 की टीका) 6. तत्त्वार्थसूत्र पाँचवाँ अध्याय (अंग्रेजी टीका) इन्दौर से प्रकाशित। 7. तत्त्वार्थसार, अजीव अधिकार, सूत्र 63, 8. नियमसार, गाथा 108 की टीका। 9. चर्चा समाधान, पृष्ठ 26-27, 10. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा 16 की टीका। 11. समवसरण पाठ ब्रह्मचारी भगवानसागरजी कृत, पृष्ठ 174, 12. पञ्चास्तिकाय, पृष्ठ 4 तथा 153 (जयसेनाचार्य की टीका), 13. बनारसी विलास - ज्ञान बावनी। 14. विद्वज्जन बोधक भाग - 1, (पृष्ठ 156 से 159 तथा उसमें लिखित आधार), 15. बिहारीदासजी कृत जिनेन्द्र स्तुति –'इच्छा बिना भविभाग्य तैं, तुम ध्वनि सु होय निरक्षरी।' 16. 'एकरूप निरक्षर उपजत, उचरत नेक प्रसङ्ग।' (प्राचीन कवि)

विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भाँति विशिष्टतापूर्वक (अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप से) **ज्ञान में वर्तती हैं।**

इस गाथा की श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत संस्कृत टीका में कहा है कि —

'(जीवादि) समस्त द्रव्य जातियों की पर्यायों की उत्पत्ति की मर्यादा तीनों काल की मर्यादा जितनी होने से (अर्थात् वे तीनों काल में उत्पन्न हुआ करती हैं, इसलिए) उनकी (उन समस्त द्रव्य जातियों की), **क्रमपूर्वक तपती हुई स्वरूप सम्पदावान,** (एक के बाद एक प्रगट होनेवाली), **विद्यमानपने** और **अविद्यमानपने को प्राप्त होनेवाली** (भूतकाल तथा भविष्य काल की) **जो जितनी पर्यायें हैं, वे सभी तात्कालिक (वर्तमान कालीन) पर्यायों की भाँति, अत्यन्त मिश्रित होने पर भी, सर्व पर्यायों के विशिष्ट लक्षण स्पष्ट ज्ञात हो, इस प्रकार, एक क्षण में ही ज्ञान महल में स्थिति** को प्राप्त होती हैं।

इस गाथा की संस्कृत टीका में जयसेनाचार्य ने कहा है कि -

'...ज्ञान में सर्व द्रव्यों की तीनों काल की पर्यायें एक साथ ज्ञात होने पर भी, **प्रत्येक पर्याय का विशिष्ट स्वरूप, प्रदेश, काल, आकारादि विशेषताएँ स्पष्ट ज्ञात होती है;** संकर-व्यतिकर नहीं होते...'

3. 'उनको (केवली भगवान को) **समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का अक्रमिक ग्रहण होने से** समक्ष संवेदन की (प्रत्यक्ष ज्ञान की आलम्बनभूत समस्त द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।)' ***(श्री प्रवचनसार गाथा 21 की टीका)***

4. जो (पर्यायें) अद्यापि उत्पन्न नहीं हुई है, तथा जो उत्पन्न होकर विलय को प्राप्त हो गयी हैं, वे (पर्यायें) वास्तव में अविद्यमान होने पर भी, **ज्ञान के प्रति नियत होने से** (ज्ञान में निश्चित् स्थिर-चिपके होने से, ज्ञान में सीधे ज्ञात होने से) ज्ञान-प्रत्यक्ष वर्तते हुए, पत्थर के स्तम्भ में अङ्कित भूत और भविष्यकालीन देवों की (तीर्थङ्करदेवों की) भाँति अपना स्वरूप अकम्परूप से (ज्ञान को) अर्पित करती हुई, (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं।

(श्री प्रवचनसार, गाथा 38 की टीका)

5. 'क्षायिकज्ञान वास्तव में (सचमुच) एक ही समय में सर्वतः (सर्व आत्मप्रदेश से), तत्काल वर्तते हुए अथवा अतीत, अनागत काल में वर्तते हुए उन समस्त पदार्थों को जानता है कि जिनमें पृथक्रूप वर्तते हुए स्वलक्षणोंरूप लक्ष्मी (द्रव्य के भिन्न-भिन्न प्रवर्तमान ऐसे निज-निज लक्षण, वह द्रव्यों की लक्ष्मी) से आलोकित अनेक प्रकारों के कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है... उन्हें जानता है। क्षायिकज्ञान अवश्यमेव **सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्व** को (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से जानता है।)'

(श्री प्रवचनसार, गाथा 47 की टीका)

6. 'जो एक ही साथ (युगपत) **त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ** (तीनों काल और तीनों लोक के) पदार्थों को नहीं जानता, उसे पर्यायसहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नहीं है।'

(श्री प्रवचनसार, गाथा 48 की टीका)

7. '...एक ज्ञायकभाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, **क्रमशः प्रवर्तित अनन्त भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले,** अगाधस्वभाव और गम्भीर, ऐसे समस्त द्रव्यमात्र

को, मानों कि – वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुए हों इस प्रकार – **एक क्षण में** ही जो (शुद्ध आत्मा) **प्रत्यक्ष करता है...'** *(श्री प्रवचनसार, गाथा 200 की टीका)*

8. 'घातिकर्म का नाश होने पर अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं। वहाँ अनन्त दर्शन–ज्ञान से तो, छह द्रव्यों से भरपूर जो यह लोक है, उसमें जीव अनन्तान्त; पुद्‌गल उनसे भी अनन्तानन्तगुने हैं; और धर्म, अधर्म तथा आकाश यह तीन द्रव्य एक–एक हैं और असंख्य कालद्रव्य हैं – उस सर्व द्रव्यों की भूत–भविष्य–वर्तमान काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायों को भिन्न–भिन्न एक समय में देखते और जानते हैं।

(अष्टपाहुड़-भावपाहुड़, गाथा 150 की पण्डित जयचन्दजी कृत टीका)

9. श्री पञ्चास्तिकाय की श्री जयसेनाचार्य कृत संस्कृत टीका, गाथा 5 में कहा है कि –

....णाणाणाणं च णत्थि केवलिणो

केवली भगवान को ज्ञानाज्ञान नहीं होता, अर्थात् उन्हें किसी विषय में ज्ञान और किसी में अज्ञान वर्तता है – ऐसा नहीं होता, **किन्तु सर्वत्र ज्ञान ही वर्तता है।**

10. 'केवली भगवान त्रिकालावच्छिन्न लोक–अलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण गुण–पर्यायों में समन्वित अनन्त द्रव्यों को जानते हैं। **ऐसा कोई ज्ञेय नहीं हो सकता जो केवली भगवान के ज्ञान का विषय न हो...** जब मति और श्रुतज्ञान द्वारा भी यह जीव

वर्तमान के उपरान्त भूत तथा भविष्यत् काल की बातों का परिज्ञान करता है तो केवलीभगवान, अतीत (भूतकाल के), अनागत (भविष्यकाल के) और वर्तमान के समस्त पदार्थों का ग्रहण करें, यह युक्तियुक्त ही है।... **यदि केवली भगवान अनन्तानन्त पदार्थों को क्रमपूर्वक जानते तो सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार नहीं होता।** अनन्त काल व्यतीत होने पर भी पदार्थों की अनन्त गणना अनन्त ही रहती है। आत्मा की असाधारण निर्मलता होने के कारण एक समय में ही सकल पदार्थों का ग्रहण (ज्ञान) होता है।

'जब ज्ञान एक समय में सम्पूर्ण जगत् या विश्व के तत्त्वों का बोध (ज्ञान) कर चुकेगा, तब वह कार्यहीन हो जाएगा' – ऐसी आशङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि कालद्रव्य के निमित्त से तथा अगुरुलघु गुण के कारण समस्त वस्तुओं में प्रतिक्षण परिणमन / परिवर्तन होता है। जो कल भविष्यत् था, वह आज वर्तमान बनकर फिर अतीत का रूप धारण करता है; इस प्रकार परिवर्तन का चक्र सदैव चलते रहने के कारण ज्ञेय के परिणमन अनुसार ज्ञान में भी परिणमन होता है। **जगत् के जितने पदार्थ हैं, उतनी ही केवलज्ञान की शक्ति या मर्यादा नहीं है। केवलज्ञान अनन्त है। यदि लोक अनन्तगुना भी होता तो वह केवलज्ञान सिन्धु में बिन्दु तुल्य समा जाता...** अनन्त केवलज्ञान द्वारा अनन्त जीव तथा अन्त आकाशादि का ग्रहण होने पर भी वे पदार्थ सान्त नहीं होते। अनन्त ज्ञान, अनन्त पदार्थ या पदार्थों को अनन्तरूप से बतलाता है; इस कारण ज्ञेय और ज्ञान की अनन्तता अबाधित रहती है।

(महाबन्ध - महाधवला, सिद्धान्त शास्त्र, प्रथम भाग प्रकृति बन्धाधिकार, पृष्ठ - 27, हिन्दी अनुवाद से। धवला पुस्तक, 13, पृष्ठ 346 से 353)

उपरोक्त आधारों से निम्नोक्त मन्तव्य मिथ्या सिद्ध होते हैं –

(1) केवली भगवान, भूत और वर्तमान कालवर्ती पर्यायों को ही जानते है और भविष्यत् पर्यायों को वे हों, तब जानते हैं।

(2) सर्वज्ञ भगवान अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते।

(3) केवली भगवान, भूत–भविष्यत् पर्यायों को सामान्यरूप से जानते हैं, किन्तु विशेषरूप से नहीं जानते।

(4) केवली भगवान, भविष्यत् पर्यायों को समग्ररूप से जानते हैं, भिन्न–भिन्नरूप से नहीं जानते।

(5) ज्ञान, मात्र ज्ञान को ही जानता है।

(6) सर्वज्ञ के ज्ञान में पदार्थ झलकते हैं, किन्तु भूतकाल तथा भविष्यकाल की पर्यायें स्पष्टरूप से नहीं झलकतीं। – इत्यादि मन्तव्य सर्वज्ञ को अल्पज्ञ मानने समान हैं।

प्रश्न 85 – शब्द क्या है ? क्या वह आकाश का गुण है ?

उत्तर – शब्द, पुद्गलद्रव्य की स्कन्धरूप पर्याय है, वह आकाश का गुण नहीं है, क्योंकि आकाश तो सदैव अमूर्तिक है और शब्द मूर्तिक है। वह कानों से टकराता है, उसकी आवाजरूप – ध्वनिरूप गर्जना होती है। – इस प्रकार शब्द, इन्द्रिय द्वारा ज्ञात होता है, इसलिए वह पुद्गल है।

जगत् में भाषावर्गणा नाम के पुद्गलों की जाति भरी पड़ी है; वे अपने काल में, अपने कारण स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं। जिस समय वे पुद्गल, शब्दरूप परिणमित होते हैं, उस समय कोई न कोई जीव या अन्य पदार्थ निमित्त होता है, किन्तु वास्तव में भाषावर्गणा, जीव के कारण परिणमित नहीं होती। जब भाषावर्गणा

शब्दरूप परिणमित होती है, उस समय जीव की इच्छा अथवा योग हो तो वह निमित्तमात्र है।

प्रश्न 86 – शब्द को आकाश का गुण माना जाए तो क्या दोष आयेगा?

उत्तर – शब्द, मूर्तिक पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय है और आकाश अमूर्तिक द्रव्य है, इसलिए वह अमूर्त द्रव्य का गुण नहीं है, क्योंकि '...गुण-गुणी को अभिन्न प्रदेशपना होने के कारण वे (गुण-गुणी) एक वेदन द्वारा वेद्य होने से अमूर्त द्रव्य को भी श्रवणेन्द्रिय के विषयभूतपना आ जायेगा।' ***(श्री प्रवचनसार, गाथा 132 की टीका)***

'नैयायिक, शब्द को आकाश का गुण मानते हैं, किन्तु वह मान्यता अप्रमाण है। गुण-गुणी के प्रदेश अभिन्न होते हैं, इसलिए जिस इन्द्रिय से गुण ज्ञात हो, उसी इन्द्रिय से गुणी भी ज्ञात होना चाहिए। शब्द, कर्णेन्द्रिय से ज्ञात होते हैं, इसलिए आकाश भी कर्णेन्द्रिय द्वारा ज्ञात होना चाहिए, किन्तु आकाश तो किसी इन्द्रिय द्वारा ज्ञात नहीं होता, इसलिए शब्द, आकाशादि अमूर्तिक द्रव्यों का गुण नहीं है।' ***(श्री प्रवचनसार, गाथा 132 का फुटनोट)***

प्रश्न 87 – (1) जीभ द्वारा शब्द (वाणी) बोले जाते हैं? (2) क्या वे जीव की इच्छा से बोले जाते हैं?

उत्तर – (1) नहीं, क्योंकि जीभ आहारवर्गणा में से बनती है और शब्द (वाणी) की रचना भाषावर्गणा में से होती है। आहारवर्गणा और भाषावर्गणा के बीच अन्योन्याभाव है; इसलिए जीभ द्वारा वाणी नहीं बोली जाती।

(2) नहीं; क्योंकि जीव और वाणी के बीच अत्यन्ताभाव है।

इच्छा के बिना भी केवलज्ञानी की वाणी खिरती है; सशक्त मनुष्य जिस समय बोलने की इच्छा करे, उसी समय कभी-कभी भाषा नहीं बोल सकता। जिसे लकवा हो अथवा जो तोतला हो, वह मनुष्य व्यवस्थितरूप से बोलने की बहुत इच्छा करता है, फिर भी व्यवस्थित भाषा नहीं निकलती। जब पुद्गल की भाषारूप परिणमित होने की योग्यता हो, तभी भाषा निकलती है और तभी इच्छादि निमित्तभूत होते हैं।

प्रश्न 88 – तीर्थङ्कर भगवान को इच्छा नहीं है, फिर भी योग के कारण वाणी खिरती है, वह सच है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि वहाँ भी पुद्गल की शक्ति की योग्यता से वाणीरूप पर्याय उसके अपने काल में ही होती है। वाणी हो, तब योग तो निमित्तमात्र है।

जीव के योग गुण की पर्याय और पुद्गल की शक्ति में अत्यन्त अभाव है। यदि योग से वाणी होती हो तो तेरहवें गुणस्थान में उनके निरन्तर योग गुण का कम्पन है, इसलिए निरन्तर वाणी होना चाहिए, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है।

और मूककेवली योगसहित हैं, तथापि उनके वाणी नहीं होती; इसलिए वाणी, जीव के योग के आधीन नहीं है तथा इच्छा के भी आधीन नहीं है, परन्तु वह स्वतन्त्ररूप से उसके अपने काल में, अपने कारण अपनी योग्यतानुसार परिणमित होती है।

प्रश्न 89 – कर्म बन्ध के कारण कौन से हैं ?

उत्तर –

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाय योगा बन्धहेतवः।

अर्थात् मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – यह पाँच कर्मबन्ध के कारण हैं। *(मोक्षशास्त्र, अध्याय - 8, सूत्र - 1)*

प्रश्न 90 – मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) किसे कहते हैं ?

उत्तर – प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान को तथा अदेव (कुदेव) को देव मानना, अतत्त्व को तत्त्व मानना, अधर्म (कुधर्म) को धर्म मानना, इत्यादि विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। (वह श्रद्धा गुण की विपरीत पर्याय है।)

प्रश्न 91 – मिथ्यादर्शन के कितने प्रकार हैं ?

उत्तर – दो प्रकार हैं – 1. अगृहीत मिथ्यात्व और 2. गृहीत मिथ्यात्व।

1. अगृहीत मिथ्यात्व – जीव, परद्रव्य का कुछ कर सकता है या शुभविकल्प से आत्मा को लाभ होता है – ऐसी अनादिकालीन मान्यता मिथ्यात्व है, और वह किसी के सिखाने से नहीं हुआ है, इसलिए अगृहीत है।

2. गृहीत मिथ्यात्व – जन्म होने के पश्चात् परोपदेश के निमित्त से जीव जो अतत्त्व श्रद्धा ग्रहण करता है, उसे गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं।

[अगृहीत] मिथ्यात्व को निसर्गज मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व को बाह्य प्राप्त मिथ्यात्व भी कहते हैं। जिसे गृहीत मिथ्यात्व हो, उसे अगृहीत मिथ्यात्व तो होगा ही।

प्रश्न 92 – गृहीत मिथ्यात्व के कितने भेद हैं ?

उत्तर – पाँच भेद हैं – (1) एकान्त मिथ्यात्व, (2) विपरीत

मिथ्यात्व, (3) संशय मिथ्यात्व, (4) अज्ञान मिथ्यात्व और (5) विनय मिथ्यात्व।

1. एकान्त मिथ्यात्व – आत्मा, परमाणु आदि पदार्थों का स्वरूप अनेकान्तमय (अनेक धर्मोंवाला) होने पर भी उन्हें सर्वदा एक ही धर्मवाला मानना, वह एकान्त मिथ्यात्व है; जैसे कि – आत्मा को सर्वथा क्षणिक अथवा सर्वथा नित्य ही मानना; गुण-गुणी का सर्वदा भेद या अभेद मानना आदि।

2. विपरीत मिथ्यात्व – आत्मा के स्वरूप को अन्यथा मानने की रुचि को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं; जैसे कि –

(1) शरीर को आत्मा मानना

(2) वस्त्र-पात्रादि सहित को (सग्रन्थ को) निर्ग्रन्थ गुरु मानना।

(3) स्त्री का शरीर होने पर भी उसे मुनिदशा और मोक्ष मानना।

(4) केवली भगवान को ग्रासाहार (कवलाहार), रोग, उपसर्ग, वस्त्र, पात्र, पाटादि सहित तथा क्रमिक उपयोग मानना।

(5) पुण्य से अर्थात् शुभराग से तथा निमित्त से धर्म मानना आदि।

3. संशय मिथ्यात्व – 'धर्म का स्वरूप ऐसा है अथवा वैसा है ?' इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दोनोंरूप श्रद्धान को संशय मिथ्यात्व कहते हैं; जैसे कि – आत्मा अपने कार्य का कर्ता होगा या परवस्तु के कार्य का कर्ता होता होगा ? निमित्त और व्यवहार के अवलम्बन से धर्म होगा या अपने शुद्धात्मा के आलम्बन से ? – इत्यादि प्रकार का संशय रहना।

4. अज्ञान मिथ्यात्व – जहाँ हित–अहित का कोई विवेक न हो, अथवा किसी प्रकार की परीक्षा किये बिना धर्म की श्रद्धा करना, वह अज्ञानी मिथ्यात्व है; जैसे कि – पशु–वध या पाप में धर्म मानना।

5. विनय मिथ्यात्व – समस्त देवों समस्त धर्ममतों को समान मानना, वह विनय मिथ्यात्व है।

(सर्व प्रकार के बन्ध का मूल कारण मिथ्यात्व है। सर्व प्रथम वह दूर हुए बिना अविरति आदि बन्ध के कारण भी दूर नहीं होते, इसलिए सर्व प्रथम गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व को दूर करना चाहिए।)

प्रश्न 93 – अविरति किसे कहते हैं?

उत्तर – (1) (चारित्र के विषय में) निर्विकार स्वसंवेदन से विपरीत अव्रत परिणामस्वरूप विकार को अविरति कहते हैं।

(2) षट्काय के जीवों की (पाँच स्थावर जीव और एक त्रस जीव की) हिंसा के त्यागरूप भाव न करना तथा पाँच इन्द्रियाँ और मन के विषयों में प्रवृत्ति करना – ऐसे बारह प्रकार की अविरति है।

प्रश्न 94 – प्रमाद किसे कहते हैं?

उत्तर – अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय और प्रत्याख्यानावरणीय (क्रोध, मान, माया, लोभ) के उदय में युक्त होने से तथा संज्वलन और नोकषाय के तीव्र उदय में युक्त होने से निरतिचार चारित्र के पालन में निरुत्साह तथा स्वरूप की असावधानी को प्रमाद कहते हैं। छठवें गुणस्थान में संज्वलन और नो कषाय के तीव्र उदय में युक्त होनेरूप प्रमाद होता है।

प्रश्न 95 – प्रमाद के कितने भेद हैं ?

उत्तर – पन्द्रह भेद हैं – चार विकथा (स्त्रीकथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा और राजकथा), चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), पाँच इन्द्रियों के विषय, एक निद्रा और एक प्रणय (स्नेह)।

प्रश्न 96 – कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर – मिथ्यात्व तथा क्रोध, मान, माया, लोभरूप आत्मा की अशुद्धपरिणति को कषाय कहते हैं ?

कषाय के 25 प्रकार हैं – 4 अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, 4 अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोधादि, 4 प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधादि, 4 संज्वलन क्रोधादि; इस प्रकार 16 कषाय और 9 नोकषाय – (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदरूप आत्मा की अशुद्ध परिणति को नोकषाय कहते हैं।)

प्रमाद और कषाय में सामान्य विशेष का अन्तर है। सातवें से दसवें गुणस्थान तक उस-उस स्थानयोग्य कषाय है।

प्रश्न 97 – योग किसे कहते हैं ?

उत्तर – मन, वचन, काय के आलम्बन से आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन होना, उसे योग कहते हैं।

(योग गुण की अशुद्धपर्याय में कम्पनपने को द्रव्ययोग और कर्म-नोकर्म के ग्रहण में निमित्तरूप योग्यता को भावयोग कहते हैं।)

योग के पन्द्रह भेद हैं —

चार मनोयोग — सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग; **सात काय योग** — औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण; **चार वचनयोग** — सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग और अनुभय वचनयोग)

चतुष्टय

प्रश्न 98 – स्वचतुष्टय और परचतुष्टय का क्या अर्थ ?

उत्तर – स्वचतुष्टय अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव; परचतुष्टय अर्थात अपने से भिन्न ऐसे पर पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

प्रश्न 99 – आत्मा के स्वचतुष्टय समझाइये।

उत्तर – (1) **स्वद्रव्य** – अपने ज्ञानादि गुणों और पर्यायों से अभिन्न, वह स्वद्रव्य है।

(2) **स्वक्षेत्र** – लोकप्रमाण अपने असंख्य प्रदेश हैं, वह आत्मा का स्वक्षेत्र है।

(3) **स्वकाल** – नित्य स्वभाव को छोड़े बिना निरन्तर क्रमबद्ध अपने-अपने अवसर में नयी-नयी पर्यायों का जो उत्पाद होता रहता है, उस निज परिणाम का नाम स्वकाल है।

(4) **स्वभाव** – द्रव्य के आश्रय में रहनेवाले त्रिकाली शक्तिरूप जो अनन्त गुण हैं, वह स्वभाव है।

प्रश्न 100 – पुद्गल परमाणु के स्वतुष्टय समझाओ।

उत्तर – (1) **द्रव्य** – अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अस्तित्व

आदि अनन्त गुणों तथा अपनी सर्व पर्यायोंरूप अखण्ड वस्तु, वह पुद्गल का स्वद्रव्य है।

(2) **क्षेत्र** – पुद्गल परमाणु का एक प्रदेश, वह उसका स्वक्षेत्र है।

(3) **काल** – नित्य स्वभाव को न छोड़कर निरन्तर क्रमबद्ध अपने-अपने अवसर में नयी-नयी पर्यायों का जो उत्पाद होता रहता है – इस पुद्गल के निज परिणाम का नाम स्वकाल है।

(4) **भाव** – पुद्गलद्रव्य के आश्रय में रहनेवाले जो स्पर्शादि अनन्त गुण हैं, वह उसका स्वभाव है।

प्रश्न 101 – क्षेत्र की अपेक्षा से द्रव्य-गुण-पर्याय की तुलना करो।

उत्तर – तीनों का क्षेत्र समान अर्थात् एक है।

प्रश्न 102 – काल की अपेक्षा से द्रव्य-गुण-पर्याय की तुलना करो।

उत्तर – द्रव्य और गुण त्रिकाल तथा पर्याय एक समय पर्यन्त की है।

प्रश्न 103 – द्रव्य और पर्याय में भेद-अभेद समझाओ।

उत्तर – संख्या से द्रव्य एक और उसकी पर्यायें अनन्त; काल से द्रव्य त्रिकाल और पर्याय एक समय की; भाव से भेद, क्योंकि द्रव्य और पर्याय का स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। क्षेत्र दोनों का समान अर्थात् एक है।

★★★★★

प्रकरण चौथा
चार अभाव अधिकार

प्रश्न 1 – अभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर – एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अस्तित्व न होने को अभाव कहते हैं।

प्रश्न 2 – अभाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर – चार भेद हैं – (1) प्रागभाव, (2) प्रध्वंसाभाव, (3) अन्योन्याभाव, (4) अत्यन्ताभाव।

प्रश्न 3 – प्रागभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर – वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में अभाव, उसे प्रागभाव कहते हैं।

प्रश्न 4 – प्रध्वंसाभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर – एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसी द्रव्य की आगामी (भविष्य की) पर्याय में अभाव, उसे प्राध्वंसाभाव कहते हैं।

(प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव - दोनों एक ही द्रव्य की पर्यायों को लागू होते हैं।)

प्रश्न 5 - श्रुतज्ञान (वर्तमान में) है; उसमें प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव बतलाओ ?

उत्तर - श्रुतज्ञान का मतिज्ञान में प्रागभाव है और श्रुतज्ञान का केवलज्ञान में प्रध्वंसाभाव है।

प्रश्न 6 - दही को वर्तमान पर्यायरूप में लेकर उसका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव समझओ।

उत्तर - दही की पूर्व पर्याय दूध थी, उसमें दही का अभाव था, इसलिए उसका प्रागभाव है; और मट्ठा दही की भविष्य की पर्याय है, उसमें दही का अभाव है, इसलिए उसका प्रध्वंसाभाव है।

प्रश्न 7 - अन्योन्याभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर - एक पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्याय में जो अभाव, उसे अन्योन्याभाव कहते हैं।

प्रश्न 8 - दूध, दही और मट्ठा - यह तीन वर्तमान वस्तुएँ हैं; उनमें कितने और कौन-कौन से अभाव हैं ?

उत्तर - तीनों पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्यायें हैं, इसलिए उनमें एक ही अन्योन्याभाव है।

प्रश्न 9 - छप्पर को दीवार का आधार है और नलियों को छप्पर का आधार है - यह ठीक है ?

उत्तर - नहीं, क्योंकि उनमें अन्योन्याभाव है। प्रत्येक की

भिन्न-भिन्न सत्ता होने के कारण सभी अपने-अपने क्षेत्र के आधार से हैं; एक परमाणु की पर्याय अन्य किसी द्रव्य पर आधारित नहीं है।

प्रश्न 10 - तैजस और कार्मण शरीर के बीच कौन-सा अभाव है ?

उत्तर - अन्योन्याभाव, क्योंकि दोनों पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्यायें हैं।

प्रश्न 11 - अत्यन्ताभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर - एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में (त्रिकाल) अभाव हो, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं।

प्रश्न 12 - कुम्हार और घड़े में तथा पुस्तक और जीव में कौन-सा अभाव है ?

उत्तर - (1) कुम्हार (जीव) और घड़े के बीच अत्यन्ताभाव;

(2) पुस्तक और जीव के बीच अत्यन्ताभाव है, क्योंकि - प्रत्येक में दोनों भिन्न-भिन्न जाति के द्रव्य हैं।

प्रश्न 13 - जीव ने सिद्ध परमात्मदशा प्रगट की, उसमें प्रागभाव बतलाओ।

उत्तर - सिद्धदशा का संसारदशा में अभाव, वह प्रागभाव है।

प्रश्न 14 - चार अभावों में द्रव्यसूचक और पर्यायसूचक अभाव कौन-से हैं ?

उत्तर - अत्यन्ताभाव द्रव्यसूचक है और शेष तीन - प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव - पर्याय सूचक हैं ?

प्रश्न 15 – चारों अभाव किस द्रव्य में लागू होते हैं ?

उत्तर – पुद्गलद्रव्य में।

प्रश्न 16 – प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव कितने द्रव्यों में लागू होता है ?

उत्तर – छहों द्रव्यों को अपनी-अपनी पर्यायों में।

प्रश्न 17 – अन्योन्याभाव कितने द्रव्यों में लागू होता है ?

उत्तर – परस्पर पुद्गलद्रव्यों की वर्तमान पर्याय में ही।

प्रश्न 18 – अत्यान्ताभाव कितने द्रव्यों में लागू होता है ?

उत्तर – छहों द्रव्यों में।

प्रश्न 19 – इन चार अभावों का न माना जाए तो क्या दोष आएगा ?

उत्तर – (1) प्रागभाव न मानने से कार्य अनादि सिद्ध होगा।

(2) प्रध्वंसाभाव न माने तो कार्य अनन्त काल रहेगा।

(3) अन्योन्याभाव न मानने से एक पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्याय का दूसरे से पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्याय में अभाव है, वह नहीं रहेगा।

(4) अत्यन्ताभाव न मानने से प्रत्येक पदार्थ की भिन्नता नहीं रहेगी। जगत् के सर्व द्रव्य एकरूप हो जाएँगे।

प्रश्न 20 – इन चार प्रकार के अभावों को समझने से धर्म सम्बन्धी क्या लाभ होगा ?

उत्तर – (1) प्रागभाव से ऐसा समझना चाहिए कि – अनादि काल से यह जीव, अज्ञान-मिथ्यात्व और रागादि दोष नये-नये

करता आ रहा है; उसने धर्म कभी नहीं किया, तथापि वर्तमान में नये पुरुषार्थ से धर्म कर सकता है, क्योंकि वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में अभाव वर्तता है।

(2) प्रध्वंसाभाव से ऐसा समझना चाहिए कि वर्तमान अवस्था में धर्म नहीं किया है, फिर भी जीव नवीन पुरुषार्थ से अधर्मदशा का तुरन्त ही व्यय (अभाव) करके अपने में सत्य धर्म प्रगट कर सकता है।

(3) अन्योन्याभाव से ऐसा समझना चाहिए कि एक पुद्‌गलद्रव्य की वर्तमान पर्याय दूसरे पुद्‌गलद्रव्य की वर्तमान पर्याय का (परस्पर अभाव के कारण) कुछ नहीं कर सकती; अर्थात् एक-दूसरे को असर, सहाय, मदद, प्रभाव, प्रेरणादि कुछ नहीं कर सकते। जब सजातियों में भी पर का कुछ नहीं कर सकते, तो वे (पुद्‌गल) जीव का क्या कर सकेंगे?

(4) अत्यन्ताभाव ऐसा समझना चाहिए कि प्रत्येक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का त्रिकाल अभाव है, इसलिए एक द्रव्य अन्य द्रव्य की पर्याय का कुछ नहीं कर सकता, अर्थात् मदद, सहायता, असर, प्रभाव, प्रेरणादि कुछ नहीं कर सकते।

शास्त्रों में अन्य का करने-कराने आदि का जो भी कथन है वह 'घी की घड़े' की भाँति मात्र व्यवहार का ज्ञान कराता है। वह सत्यार्थ स्वरूप नहीं है - ऐसा समझना चाहिए।

प्रश्न 21 - 'ज्ञानक्रियाभ्याम्मोक्ष:' - इस सूत्र का अर्थ: - 'आत्मा का ज्ञान और शरीर की क्रिया - इन दोनों से मोक्ष होता है' - ऐसा कहनेवाला किस अभाव को नहीं मानता?

उत्तर – अत्यन्ताभाव को, क्योंकि परस्पर अत्यन्ताभाव के कारण कोई आत्मा, शरीर की क्रिया नहीं कर सकता; मात्र परपदार्थ सम्बन्धी अहङ्कारवाली मान्यता करता है। शरीर की क्रिया से आत्मा को लाभ होता है – ऐसी मान्यतावाले को जीव–अजीव तत्त्व का अज्ञान वर्तता है।

प्रश्न 22 – निम्नोक्त जोड़ों में कौन–सा अभाव है?

(1) इच्छा और भाषा, (2) चश्मा और ज्ञान, (3) शरीर और वस्त्र, (4) शरीर और जीव।

उत्तर – (1) इच्छा और भाषा के बीच अत्यन्ताभाव है, क्योंकि इच्छा, जीव के चारित्र गुण की विकारी पर्याय है, और भाषा, पुद्गल की भाषावर्गणा की पर्याय है।

(2) चश्मा और ज्ञान के बीच अत्यन्ताभाव है, क्योंकि चश्मा, पुद्गल स्कन्ध है और ज्ञान, जीव के ज्ञान गुण की पर्याय है।

(3) शरीर और वस्त्र के बीच अन्योन्याभाव है, क्योंकि शरीर, पुद्गल पिण्ड है और वस्त्र भी पुद्गल स्कन्ध हैं।

(4) शरीर और जीव के बीच अन्यन्ताभाव है, क्योंकि दोनों भिन्न द्रव्य हैं।

प्रश्न 23 – कुम्हार ने चाक और दण्ड द्वारा घड़ा बनाया – ऐसा निश्चय से माननेवाले ने किस अभाव की भूल की और उसमें क्या दोष हुआ?

उत्तर – घड़े का चाक और दण्ड में अन्योन्याभाव है तथा कुम्हार और घड़े के बीच अत्यन्ताभाव है। वह इन दोनों अभावों

को भूल जाता है, इसलिए दो द्रव्यों में एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व होता है।

प्रश्न 24 – वर्तमान में सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, उसमें जो अभाव लागू हो, वह समझओ ?

उत्तर – सम्यग्दर्शन पर्याय का मिथ्यादर्शन पर्याय में **प्रागभाव,** और तत्पश्चात् श्रद्धा गुण में से नयी–नयी पर्यायें हो, उनमें वर्तमान सम्यग्दर्शन पर्याय का अभाव, वह प्राध्वंसाभाव है।

(शरीर, द्रव्यकर्म, देव, गुरु, शास्त्रादि सर्व परपदार्थों में उस सम्यग्दर्शन पर्याय का अत्यान्ताभाव है, अर्थात् शरीर, द्रव्यकर्मादि से सम्यग्दर्शन पर्याय की उत्पत्ति नहीं है।)

प्रश्न 25 – घातिकर्म के (ज्ञानावरण कर्म के) नाश से केवलज्ञान होता है – यह मान्यता ठीक है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि कर्म और ज्ञान के बीच अत्यन्ताभाव है। जीव जब शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञान दशा प्रगट करे, तब घाति द्रव्यकर्म का स्वयं आत्यन्तिक क्षय होता है। घातिकर्म (ज्ञानावरण कर्म के) क्षय से केवलज्ञान होता है – यह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहारनय का कथन है।

प्रश्न 26 – आत्मा पर का कार्य कर सकता है – ऐसा माननेवाले ने कौन–सा अभाव अथवा कौन–सा गुण नहीं माना ?

उत्तर – अत्यन्ताभाव और अगुरुलघुत्व गुण को नहीं माना।

प्रश्न 27 – कर्मोदय से जीव को मिथ्यात्व और रागादि होते हैं – ऐसा सचमुच माननेवाला किस अभाव को तथा किस गुण को भूलता है ? और उसका कारण क्या ?

उत्तर – वह अत्यन्ताभाव और अगुरुलघुत्व गुण को भूलता है, क्योंकि एक द्रव्य का (कर्म का) दूसरे द्रव्य में (जीव के मिथ्यात्वादि भावों में) अत्यन्ताभाव होने से कर्मोदय के कारण जीव में कोई विकार नहीं हो सकता। कर्मोदय से जीव को विकार होने का कथन आये, वहाँ समझना चाहिए कि – 'ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्त का ज्ञान कराने के लिए वह व्यवहार का कथन है'; निमित्त से उपादान का कार्य होता है – ऐसा ज्ञान कराने के लिए वह कथन नहीं है।

प्रश्न 28 – कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय से जीव में सचमुच (निश्चय से) औदायिक औपशमिकादि भाव होते हैं – ऐसा माननेवाला किस अभाव को तथा किस गुण को भूलता है?

उत्तर – वह अत्यन्ताभाव और अगुरुलघुत्व गुण को भूलता है। *(विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्व प्रश्न का उत्तर देखें)*

प्रश्न 29 – शरीर की क्रिया से (व्रत, उपवास, पूजदि में होनेवाली शरीर की क्रिया से) मोक्षमार्ग की साधना होती है – ऐसा माननेवाला किस अभाव को भूलता है?

उत्तर – शरीर की क्रिया, पुद्गलद्रव्य की पर्याय है और मोक्षमार्ग, जीवद्रव्य की पर्याय है, उन दोनों के बीच अत्यन्ताभाव है, उसे वह भूलता है।

मोक्षमार्ग स्वद्रव्याश्रित शुद्धपर्याय है, इसलिए स्वद्रव्य के आश्रयरूप एकाग्रता से ही मोक्षमार्ग की साधना हो सकती है। जहाँ वीतरागभावरूप सच्चा मोक्षमार्ग हो वहाँ बाह्य – नग्न निर्ग्रन्थदशा

तथा महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुणों के जो विकल्प उस भूमिका में सहचररूप से होते हैं, वे निमित्त कहलाते हैं।

प्रश्न : 30 – निमित्त से वास्तव में नैमित्तिक (कार्य) होता है – ऐसा माननेवाला किस अभाव को भूलता है ?

उत्तर – (1) किसी भी एक जीव के निमित्त से वास्तव में दूसरे जीव का कार्य होना माने अथवा जीव के निमित्त से पुद्गल का (शरीरादिक का) कार्य होना माने, वह अत्यन्ताभाव को भूलता है।

(2) एक पुद्गल अथवा अनेक पुद्गलों की पर्यायों के निमित्त से वास्तव में दूसरे पुद्गलों की पर्यायें होती हैं – ऐसा जो मानता है, वह अन्योन्याभाव को भूलता है।

प्रश्न 31 – आत्मा का ज्ञान, वह निश्चय और शरीर की क्रिया करना, वह व्यवहार – ऐसा माननेवाला (1) किस अभाव को तथा किस गुण को भूलता है ? (2) वह सात तत्त्वों में किस भेद को नहीं मानता ?

उत्तर – (1) वह अत्यन्ताभाव और अगुरुलघुत्व गुण को भूलता है।

(2) शरीर, पुद्गलपरमाणु द्रव्य की अवस्था होने से उसकी क्रिया (अवस्था) जीव कर सकता है – ऐसा माननेवला सात तत्त्वों में से जीव और अजीवतत्त्व की भिन्नता को नहीं समझता।

प्रश्न 32 – जीव, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को अनुकूल अथवा प्रतिकूल मानता है तो वह किस अभाव को भूलता है ?

उत्तर – वह अत्यन्ताभाव को भूलता है।

प्रश्न 33 – इससे वास्तव में समझें क्या ?

उत्तर – कोई भी परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव किसी जीव के लिए अनुकूल या प्रतिकूल हैं ही नहीं, वे तो मात्र ज्ञेय ही हैं। वास्तव में अज्ञान, राग-द्वेषरूप मलिनभाव जीव को अपने लिए प्रतिकूल हैं और निश्चयसम्यग्दर्शन, ज्ञान और वीतरागभाव ही अपने लिए अनुकूल हैं।

★ ★ ★ ★ ★

प्रकरण पाँचवाँ
छह कारक अधिकार

***प्रश्न** – कारक किसे कहते हैं ?

उत्तर – कार्य की उत्पादक सामग्री को कारक कहते हैं।

प्रश्न 1 – कर्ता किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो स्वतन्त्रता से, अर्थात् स्वाधीनतापूर्वक अपने परिणाम को करे, वह कर्ता है।

[प्रत्येक द्रव्य अपने में स्वतन्त्र व्यापक होने से अपने ही परिणाम का स्वतन्त्ररूप से कर्ता है।]

प्रश्न 2 – कर्म (कार्य) किसे कहते हैं ?

उत्तर – कर्ता जिस परिणाम को प्राप्त करता है, वह परिणाम उसका कर्म है।

प्रश्न 3 – करण किसे कहते हैं ?

उत्तर – उस परिणाम के साधकतम, अर्थात् उत्कृष्ट साधन को करण कहते हैं।

---

* *यह प्रश्न मूल में नहीं है।* *–सम्पादक*

प्रश्न 4 – सम्प्रदान किसे कहते हैं ?

उत्तर – कर्म, अर्थात् परिणाम–कार्य जिसे दिया जाए अथवा जिसके लिए किया जाए, उसे सम्प्रदान कहते हैं।

प्रश्न 5 – अपादान किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसमें से कर्म किया जाए, उस ध्रुव वस्तु को अपादान कहते हैं।

प्रश्न 6 – अधिकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसमें अथवा जिसके आधार से कर्म / कार्य किया जाए, उसे अधिकरण कहते हैं।

[सर्व द्रव्यों की प्रत्येक पर्याय में यह छह कारक एक साथ वर्तते हैं, इसलिए आत्मा और पुद्गल, शुद्धदशा में या अशुद्धदशा में स्वयं छहों कारकरूप परिणमन करते हैं और दूसरे कारकों की अर्थात् निमित्त कारणों की अपेक्षा नहीं रखते।]

(– देखो, पञ्चास्तिकाय, गाथा 62 संस्कृत टीका)

...निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकपने का सम्बन्ध नहीं है, कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए सामग्री (बाह्य साधन) खोजने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ ही) परतन्त्र होते हैं। *(– श्री प्रवचनसार, गाथा 16 की टीका)*

प्रश्न 7 – कारक कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर – यह छह कारक व्यवहार और निश्चय – ऐसे दो प्रकार के हैं। जहाँ पर के निमित्त से कार्य की सिद्धि कही जाए, वहाँ व्यवहार–कारक हैं और जहाँ अपने ही उपादानकारण से

कार्य की सिद्धि कही जाए वहाँ निश्चय-कारक हैं।

(- श्री प्रवचनसार, गाथा 16 भावार्थ)

प्रश्न 8 - व्यवहार-कारक को दृष्टान्त देकर समझाइये।

उत्तर - **कुम्हार कर्ता** है; घड़ा **कर्म** है; दण्ड; चक्र; डोरी आदि **करण** हैं; जल भरतेवाले के लिए कुम्हार घड़ा बनाता है, इसलिए जल भरनेवाला **सम्प्रदान** है; टोकरे में से मिट्टी लेकर घड़ा बनाता है, इसलिए टोकरा **अपादान** है; धरती के आधार से घड़ा बनाता है, इसलिए धरती **अधिकरण** है।

इसमें सभी कारक भिन्न-भिन्न हैं। अन्य कर्ता है, अन्य कर्म है, अन्य करण है, अन्य सम्प्रदान है, अन्य अपादान और अन्य अधिकरण है।

परमार्थतः कोई द्रव्य किसी का कर्ता-हर्ता नहीं हो सकता; इसलिए यह व्यवहार छह कारक असत्य हैं; वे मात्र उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय से कहे जाते हैं। **निश्चय से किसी द्रव्य को अन्य द्रव्य के साथ कारकपने का सम्बन्ध है ही नहीं।** *(- श्री प्रवचनसार, गाथा 16 भावार्थ)*

प्रश्न 9 - निश्चय-कारक को दृष्टान्त देकर समझाइये।

उत्तर - मिट्टी स्वतन्त्ररूप से घड़ारूप कार्य को पहुँचती है - प्राप्त करती है, इसलिए **मिट्टी कर्ता** और **घड़ा कर्म** है; अथवा घड़ा मिट्टी अभिन्न होने के कारण मिट्टी स्वयं ही कर्म है; अपने परिणमनस्वभाव द्वारा मिट्टी ने घड़ा बनाया, इसलिए मिट्टी स्वयं ही **करण** है; मिट्टी ने घड़ारूप कर्म अपने को ही दिया, इसलिए वह स्वयं ही **सम्प्रदान** है। मिट्टी ने अपने में से ही पिण्डरूप अवस्था

नष्ट करके घड़ारूप कर्म किया और स्वयं ध्रुव रही; इसलिए स्वयं ही **अपादान** है; मिट्टी ने अपने ही आधार से घड़ा बनाया, इसलिए स्वयं ही **अधिकरण** है।

इस प्रकार **निश्चय से छहों कारक एक ही द्रव्य में हैं।** परमार्थतः एक द्रव्य दूसरे को सहायक नहीं हो सकता, इसलिए और द्रव्य स्वयं ही अपने को, अपने द्वारा, अपने लिए, अपने में से, अपने में करता है; इसलिए **यह निश्चय छह कारक ही परम सत्य हैं।**

उपरोक्त रीति से द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण होने के कारण स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य उत्पन्न करने में समर्थ है; **उसे बाह्य सामग्री कोई सहायता नहीं कर सकती...** *(- श्री प्रवचनसार गाथा, 16 भावार्थ)*

प्रश्न 10 – आत्मा प्रज्ञा द्वारा भेदज्ञान करता है, उसमें कौन से कारक हैं ?

उत्तर – आत्मा कर्ता है; प्रज्ञा करण है; और भेदज्ञान कर्म है; – इस प्रकार तीन कारक हैं।

प्रश्न 11 – एक समय में कितने कारक होते हैं ?

उत्तर – प्रति समय छहों कारक होते हैं।

प्रश्न 12 – यह छह कारक क्या हैं ? द्रव्य हैं; गुण हैं या पर्याय ?

उत्तर – यह छह कारक द्रव्य में रहनेवाले सामान्य और अनुजीवी गुण हैं। प्रति समय उनकी छह पर्यायें नयी-नयी होती रहती हैं।

प्रश्न 13 – आत्मा में से ही, आत्मा द्वारा ही शुद्धता प्रगट होती है; उसमें कितने कारक हैं ?

उत्तर – आत्मा में से अपादान; आत्मा द्वारा करण; और शुद्धता प्रगट होती है, वह कर्म है; – इस प्रकार तीन कारक हैं।

प्रश्न 14 – एक द्रव्य का पर्यायरूपी कार्य वास्तव में दूसरों के द्वारा हो सकता है, दूसरों के आधार से हो सकता है – ऐसा मानने में कितने कारकों की भूल है ?

उत्तर – सभी कारकों की भूल है, क्योंकि जिसने एक भी कारक को स्वतन्त्र न मानकर पराधीन माना, उसने छहों कारक यथार्थ नहीं माने।

प्रश्न 15 – आत्मा, केवलज्ञान प्राप्त करता है, उसमें छहों कारक किस प्रकार लागू होते हैं ?

उत्तर – ...केवलज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले **आत्मा को बाह्य सामग्री की अपेक्षा रखकर परतन्त्र होना निरर्थक है।** शुद्धोपयोग में लीन आत्मा स्वयं ही छह कारकरूप होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है। **वह** आत्मा स्वयं ही अनन्त शक्तिवान् ज्ञायकस्वभाव द्वारा स्वतन्त्र होने से स्वयं ही **कर्ता** है; **स्वयं** अनन्त शक्तिवान केवलज्ञान को प्राप्त करता है, इसलिए केवलज्ञान **कर्म** है, अथवा केवलज्ञान से स्वयं अभिन्न होने के कारण आत्मा स्वयं ही **कर्म** है; **अपने** अनन्त शक्तिवान परिणमन–स्वभावरूप उत्कृष्ट साधन द्वारा केवलज्ञान करता है, इसलिए आत्मा स्वयं ही **करण** है; **स्वयं** को ही केवलज्ञान देता है, इसलिए आत्म स्वयं ही **सम्प्रदान** है; **अपने** में से मति–श्रुतादि अपूर्ण ज्ञान दूर करके

केवलज्ञान करता है, इसलिए और स्वयं ही सहज ज्ञानस्वभाव द्वारा ध्रुव रहता है, इसलिए स्वयं ही **अपादान** है; **अपने** में ही, अर्थात् अपने ही आधार से केवलज्ञान करता है, इसलिए स्वयं ही **अधिकरण** है।

इस प्रकार स्वयं छह कारकरूप होने से वह 'स्वयंभू' कहलाता है... *(- श्री प्रवचनसार, गाथा 16 भावार्थ)*

प्रश्न 16 - क्या व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्ता-कर्म की स्थिति हो सकती है?

उत्तर - नहीं; व्याप्य-व्यापकभाव के सम्भव बिना कर्ता-कर्म की स्थिति नहीं हो ही सकती।

व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ?

अर्थः - व्याप्य-व्यापकभाव के सम्भव बिना कर्ता-कर्म की स्थिति कैसी? *(- श्री समयसार गाथा 75, कलश 49)*

प्रश्न 17 - व्याप्य-व्यापकभाव का क्या अर्थ है?

उत्तर - 'जो सर्व अवस्थाओं में व्यापे, वह तो **व्यापक** है और कोई एक अवस्था विशेष, वह (उस व्यापक का) **व्याप्य** है; इस प्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है; द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही हैं... ऐसा होने से द्रव्य, पर्याय में व्याप्त होता है और पर्याय, द्रव्य द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसा व्याप्य-व्यापकपना तत्स्वरूप में ही अर्थात् अभिन्न सत्तावान् पदार्थ में ही होता है, अतत्स्वरूप में अर्थात् जिनकी सत्ता-सत्त्व भिन्न-भिन्न है - ऐसे पदार्थों में नहीं होता।

जहाँ व्याप्य-व्यापकभाव हो, वहीं कर्ता-कर्मभाव होता है;

व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्ता-कर्मभाव नहीं होता। जो ऐसा जानता है, वह पुद्‌गल और आत्मा में कर्ता-कर्मभाव नहीं है - ऐसा जानता है; ऐसा जानने से वह ज्ञानी होता है; कर्ता-कर्मभाव रहित होता है और ज्ञाता-दृष्टा अर्थात् जगत् का साक्षीभूत होता है।

(- श्री समयसार, कलश 49 भावार्थ)

व्याप्य-व्यापकभाव या कर्ता-कर्मभाव एक ही पदार्थ में लागू होते हैं, भिन्न-भिन्न पदार्थों में वे लागू नहीं हो सकते।

वास्तव में कोई दूसरों का भला-बुरा कर सकता है; कर्म जीव को संसार में परिभ्रमण कराते हैं - इत्यादि मानना, वह अज्ञान है।

निमित्त के बिना कार्य नहीं होता, निमित्त पाकर कार्य होता है - यह कथन व्यवहारनय के हैं। ऐसे कथनों को निश्चय का कथन मानना भी अज्ञानता है।

प्रश्न 18 - जीव के विकारी परिणाम और पुद्‌गल के विकारी परिणाम (कर्म) को परस्पर कर्ताकर्मपना है ?

उत्तर - नहीं; क्योंकि -

(1) जीव, कर्म के गुणों को नहीं करता, और कर्म, जीव के गुणों को नहीं करता परन्तु परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम जानो। **इस कारण आत्मा अपने ही भाव से कर्ता है, परन्तु पुद्‌गलकर्म द्वारा किये गये सर्व भावों का कर्ता नहीं है।**

(- श्री समयसार, गाथा 80-81-82)

(2) ...जिस प्रकार मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है; उसी प्रकार अपने भाव द्वारा अपना भाव किया जाता है, इसलिए जीव अपने भावों का कर्ता कदाचित् है, किन्तु जिस प्रकार मिट्टी द्वारा

वस्त्र नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार अपने भाव द्वारा परभाव किया जाना अशक्य होने से (जीव), पुद्गल भावों का कर्ता तो कदापि नहीं है – यह निश्चय है।

(– श्री समयसार, गाथा 80 से 82 की टीका)

(3) ...संसार और निःसंसार अवस्थाओं को पुद्गलकर्म के विपाक का सम्भव और असम्भव निमित्त होने पर भी, पुद्गलकर्म और जीव को व्याप्य–व्यापकभाव का अभाव होने से कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर संसार अथवा निःसंसार अवस्था में आदि–मध्य–अन्त में व्याप्त होकर **संसार अथवा निःसंसार – ऐसे अपने को करता हुआ, अपने एक को ही करता हुआ प्रतिभासित हो परन्तु अन्य को करता हुआ प्रतिभासित न हो...** *(– श्री समयसार, गाथा 83 की टीका)*

(4) आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो; पुद्गल के परिणाम को करता तो कभी प्रतिभासित न हो। आत्मा और पुद्गल – दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है – ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। जड़–चेतन की एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्य बदल जाने से सर्व का लोप हो जाए – यह महान दोष उत्पन्न होगा। *(– श्री समयसार, गाथा 83 का भावार्थ)*

(5) ...इसलिए जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जाननेवाला – ऐसा पुद्गलद्रव्य... परद्रव्य परिणामस्वरूप से कर्म को नहीं करता, इसलिए उस पुद्गलद्रव्य को जीव के साथ कर्ता–कर्मभाव नहीं है।

(– श्री समयसार, गाथा 79 की टीका)

(6) ...कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं;

किन्तु सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं। मात्र यह जीव व्यर्थ ही कषायभाव करके व्याकुल होता है और कदाचित् अपनी इच्छानुसार ही पदार्थ परिणमित हो, तो भी वह अपने परिणमित करने से परिणमित नहीं हुआ है, किन्तु जिस प्रकार बालक चलती हुई गाड़ी को धकेलकर ऐसा मानता है कि 'इस गाड़ी को मैं चला रहा हूँ' - इसी प्रकार वह असत्य मानता है।

(- श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार 4, पृष्ठ 92)

इससे सिद्ध होता है कि जीव के भाव का परिणमन और पौद्गलिक कर्म का परिणमन एक-दूसरे से निरपेक्ष स्वतन्त्र हैं; इसलिए जीव में रागादिभाव वास्तव में द्रव्यकर्म के उदय के कारण होते हैं; जीव सचमुच द्रव्यकर्म को करता है और उसका फल भोगता है - इत्यादि मान्यता, वह विपरीत मान्यता है। जीव के रागादिकभाव के कारण कर्म आये और कर्म का उदय आया, इसलिए जीव में रागादिभाव हुए - ऐसा है ही नहीं। जीव के भावकर्म और द्रव्यकर्म के बीच मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्मभाव नहीं है, क्योंकि दोनों में अत्यन्ताभाव है।

प्रश्न 19 - एक द्रव्य या द्रव्य की पर्याय के दो कर्ता हो सकते हैं?

उत्तर - नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र है, वह किसी परद्रव्य या निमित्त की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता; वह स्वयं कार्यरूप परिणमित होता है।

(1) **''यः परिणमति स कर्ता यः परिणामों भवेत्तु तत्कर्म।**
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतयो॥ 51॥

अर्थात् जो परिणमन होता है, वह कर्ता है; (परिणमित होनेवाले

का) जो परिणाम, वह कर्म है, और जो परिणति है, वह क्रिया है – यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं है।

(कर्ता, कर्म और क्रिया – यह तीनों एक द्रव्य की अभिन्न अवस्थाएँ हैं; प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं।)

(- श्री समयसार, गाथा 86, कलश 51)

(2) ''एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः॥ 52॥

अर्थात् वस्तु एक ही सदैव परिणमित होती है, एक के ही सदैव परिणाम होते हैं। (एक अवस्था से अन्य अवस्था एक की ही होती है) और एक की ही परिणति-क्रिया होती है क्योंकि अनेकरूप होने पर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है।

(- श्री समयसार, कलश 51)

(3) ''नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा॥ 53॥

अर्थात् दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का एक परिणमन नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति-क्रिया नहीं होती क्योंकि अनेक द्रव्य हैं, वे सदैव अनेक ही हैं; बदलकर एक नहीं हो जाते। *(- श्री समयसार, कलश 53)*

(4) ''नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणो न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात्॥ 54॥

अर्थात् एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रिया नहीं होती क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता। *(- श्री समयसार, कलश 54)*

इससे यह समझना चाहिए कि जीव, शरीरादि पर की क्रिया नहीं कर सकता तथा निमित्त से सचमुच कार्य होता है – ऐसा मानना, वह एक भ्रम है क्योंकि एक कार्य के दो कर्ता नहीं हो सकते।

प्रश्न 20 – आत्मा किसका कर्ता है?

उत्तर – आत्मा अपने परिणामों का ही – शुभ, अशुभ या शुद्धभावों का ही कर्ता है, किन्तु ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म का कभी कर्ता है ही नहीं, क्योंकि –

(1) अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित्॥ 61॥

अर्थात् इस प्रकार वास्तव में अपने को अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है; परभावों का (पुद्‌गलभावों का) कर्ता तो कभी है ही नहीं।

(– श्री समयसार, कलश 61)

(2) आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥ 62॥

अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ही ज्ञान है; वह ज्ञान के अतिरिक्त (जानने के अतिरिक्त) दूसरा क्या करेगा? आत्मा परभाव का कर्ता है – ऐसा मानना (तथा कहना), वह व्यवहारी जीवों का मोह / अज्ञान है। *(– श्री समयसार, कलश 62)*

(3) प्रथम तो आत्मा का परिणाम सचमुच स्वयं आत्मा ही है क्योंकि परिणामी, परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने के कारण परिणाम से अनन्य है; और जो उसका (आत्मा का) तथाविध परिणाम है, वह जीवमयी क्रिया ही है... और जो (जीवमयी)

क्रिया है, वह आत्मा द्वारा स्वतन्त्ररूप से प्राप्त होने से कर्म है, इसलिए परमार्थ से आत्मा अपने परिणामस्वरूप ऐसे उस भावकर्म का ही कर्ता है परन्तु पुद्गलपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्म का नहीं।

(- श्री प्रवचनसार, गाथा 122 की टीका)

(4) व्यवहार से (लोग) मानते हैं कि जगत् में आत्मा घड़ा, वस्त्र, रथ इत्यादि वस्तुओं को और इन्द्रियों को, अनेक प्रकार के क्रोधादि द्रव्यकर्मों को और शरीरादि नोकर्मों को करता है किन्तु ऐसा मानना, वह व्यवहारी जीवों का व्यामोह (भ्रान्ति अज्ञान) है क्योंकि - *(-श्री समयसार, गाथा 98 के आधार से)*

यदि निश्चय से यह आत्मा, परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे तो परिणाम-परिणामीपना अन्य किसी प्रकार नहीं बन सकता; इसलिए वह (आत्मा) नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाए परन्तु वह तन्मय तो नहीं हैं, क्योंकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यमय हो जाए तो उस द्रव्य के नाश की आपत्ति (दोष) आयेगा; इसलिए आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है।

(- श्री समयसार, गाथा 99 की टीका)

योग, अर्थात (मन-वचन-काय के निमित्त से) आत्मप्रदेशों का चलन और उपयोग, अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ उपयुक्त होना-जुड़ना। यह योग और उपयोग, घटादिक तथा क्रोधाधिक को निमित्त हैं; इसलिए उन्हें तो घटादिक तथा क्रोधादिक का निमित्त कर्ता कहा जाता है, किन्तु आत्मा को उनका कर्ता नहीं कहा जाता। आत्मा को संसारदशा में अज्ञान से मात्र योग-उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि से तो कोई द्रव्य, अन्य किसी

द्रव्य का कर्ता नहीं है परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य की पर्याय, किसी समय, किसी अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्त होती है; इसलिए इस अपेक्षा से एक द्रव्य के परिणाम, अन्य द्रव्य के परिणाम के निमित्तकर्ता कहलाते हैं। परमार्थतः द्रव्य अपने ही परिणामों का कर्ता है; अन्य के परिणामों का अन्य द्रव्य कर्ता नहीं है।

(- श्री समयसार, गाथा 100 की टीका)

जो इस प्रकार आत्मा का स्वरूप समझता है, उसे संयोग की पृथक्ता, विभाव की विपरीतता और स्वभाव के सामर्थ्य का भान होने से स्व-सन्मुखता प्राप्त होती है।

जो पुरुष इस प्रकार 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है' - ऐसा निश्चय करके वास्तव में परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता, वही पुरुष - जिसका परद्रव्य के साथ सम्पर्क रुक गया है और जिसके पर्यायें, द्रव्य के भीतर प्रलीन हो गयी हैं ऐसे - शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता है परन्तु अन्य कोई (पुरुष ऐसे शुद्ध आत्मा को उपलब्ध) नहीं करता।

(- श्री प्रवचनसार गाथा 126 की टीका)

प्रश्न 21 - क्या जीव, विकार स्वतन्त्ररूप से करता है?

उत्तर - हाँ, क्योंकि -

(1) ...पूर्व काल में बँधे हुए द्रव्यकर्मों का निमित्त पाकर[1] जीव अपनी अशुद्धचैतन्य शक्ति द्वारा रागादि भावों का (विकार का) कर्ता बनता है; तब (उसी समय) पुद्‌गलद्रव्य, रागादि भावों

---

1. उपादान से होनेवाला यह कार्य विकारी है, स्वभावभाव नहीं है, किन्तु अवस्तुभाव है - ऐसा बतलाने के लिए तथा निमित्त का ज्ञान कराने के लिए 'निमित्त पाकर' (इस) शब्द का उपयोग किया जाता है।

(आत्मावलोकन, पृष्ठ 55)

का निमित्त पाकर अपनी शक्ति से **(अपने उपादानकारण से)** अष्ट कर्मरूप भाव को प्राप्त करता है।

जिस प्रकार चन्द्र या सूर्य के प्रकाश का निमित्त पाकर सन्ध्या के समय आकाश में अनेक रङ्ग, बादल, इन्द्रधनुष, मण्डलादिक नाना प्रकार के पुद्गल स्कन्ध अन्य किसी कर्ता की अपेक्षा रखे बिना **(अपनी शक्ति से)** ही अनेक प्रकार परिणमित होते हैं, उसी प्रकार जीवद्रव्य के अशुद्ध चेतनात्मक भावों का निमित्त पाकर पुद्गल वर्गणाएँ अपनी ही शक्ति से ज्ञानावरणादि आठ प्रकार से कर्मदशारूप होकर परिणमित होती है।

(पञ्चास्तिकाय, गाथा 66 की हिन्दी टीका)

(2) बन्ध प्रकरणवशात् अशुद्ध निश्चयनय से, जीव के रागादि विभाव परिणामों को भी (जीव का) स्वभाव कहा गया है।

(पञ्चास्तिकाय, गाथा 65 की श्री जयसेनाचार्यकृत टीका)

(3) यद्यपि निश्चय से अपने निजरस से ही सर्व वस्तुओं का अपने स्वभावभूत ऐसे स्वरूप परिणमन में समर्थपना है, तथापि (आत्मा को) अनादि से अन्य वस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तपना होने से, आत्मा के उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति – ऐसा तीन प्रकार का परिणाम विकार है...।

(समयसार, गाथा 89 की टीका)

(4) आत्मा के रागादि उत्पन्न होते हैं, वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। निश्चय से विचार किया जाए तो अन्य द्रव्य, रागादिक का उत्पन्न करनेवाला नहीं है; अन्य द्रव्य उनका निमित्तमात्र है क्योंकि अन्य द्रव्य के अन्य द्रव्य, गुण–पर्याय उत्पन्न नहीं करते – ऐसा नियम है। जो ऐसा मानते हैं (ऐसा एकान्त करते हैं) कि

'परद्रव्य ही मुझे रागादिक उत्पन्न कराते हैं;' वे नय विभाग को नहीं समझते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। यह रागादिक जीव के सत्व में उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र हैं – ऐसा मानना वह सम्यग्ज्ञान है... *(समयसार, गाथा 371 की टीका का भावार्थ)*

(5) ...परमार्थ से आत्मा अपने परिणामस्वरूप, ऐसे उस भावकर्म का ही कर्ता है --- परमार्थ से पुद्गल अपने परिणाम -स्वरूप, ऐसे उस द्रव्यकर्म का ही कर्ता है, परन्तु आत्मा के कर्मस्वरूप भावकर्म का नहीं। *(प्रवचनसार, गाथा 122 की टीका)*

(6) ... जब तक स्व-पर का भेदज्ञान न हो, तब तक तो उसे रागादिक का – अपने चेतनरूप भावकर्मों का कर्ता मानो, और भेदविज्ञान होने के पश्चात् शुद्ध विज्ञानघन, समस्त कर्तापने के भाव से रहित एक ज्ञाता ही मानो; इस प्रकार एक ही आत्मा में कर्तापना तथा अकर्तापना – यह दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध होते हैं। ऐसा स्वाद्वाद मत जैनों का है.... ऐसा (स्याद्वाद अनुसार) मानने से पुरुष को संसार-मोक्ष आदि की सिद्धि होती है; सर्वथा एकान्त मानने से सर्व निश्चय-व्यवहार का लोप होता है।

(समयसार, कलश 205 भावार्थ)

(7) जीव यह विकार अपने दोष से करता है; इसलिए वे स्वकृत हैं, किन्तु उन्हें स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ द्वारा अपने में से दूर किया जा सकता है... अशुद्ध निश्चयनय से वह स्वकृत है और दूर किया जा सकता है, इसलिए निश्चय से वह परकृत है... किन्तु वे परकृतादि नहीं हो जाते, मात्र अपने में दूर किये जा सकते हैं, इतना ही वे दर्शाते हैं। *[पञ्चाध्यायी (गुजराती) उत्तरार्द्ध, गाथा 72 का भावार्थ]*

'पञ्चाध्यायी उत्तरार्द्ध' में – इस विकारी भाव को गाथा 76 में '**तद्‌गुणाकृति**' कहा है; गाथा 105 में '**तद्‌गुणाकार संक्रान्ति**' कहा है; गाथा 130 में '**परगुणाकार स्वगुणच्युति**' कहा है तथा गाथा 242 में '**स्वस्वरूपच्युत**' कहा है और उस पर्याय में अपना ही दोष है, अन्य किसी का उसमें किञ्चित् दोष व हस्तक्षेप नहीं है – ऐसा बतलाने के लिए उसे गाथा 60 और 73 में '**जीव स्वयं अपराधवान् है**' – ऐसा कहा है। इसलिए परद्रव्य या कर्म का उदय जीव में विकार करता–कराता है – ऐसा मानना मिथ्या है। जो निमित्तकारण है, वह उपचरित कारण है, किन्तु वास्तविक कारण नहीं है; इसलिए उसे गाथा 352 में '**अहेतुवत्**' – '**अकारण समान**' कहा है। *[पञ्चाध्यायी (गुजराती) उत्तरार्द्ध, गाथा 72 का भावार्थ]*

(8) विकार, वह आत्मद्रव्य का त्रिकाली स्वभाव नहीं है, किन्तु क्षणिक योग्यतारूप पर्याय स्वभाव है; वह उदयभाव होने के कारण पर्याय अपेक्षा से जीव का स्वतत्त्व है।

जड़कर्म के साथ जीव का अनादि (निमित्त–नैमित्तिक) सम्बन्ध है और जीव उसके वश होता है, इसलिए विकार होता है, किन्तु कर्म के कारण विकारभाव नहीं होता – ऐसा भी औदयिकभाव सिद्ध करता है।' *(मोक्षशास्त्र, हिन्दी आवृत्ति पृष्ठ 211)*

कोई निमित्त विकार नहीं कराता, किन्तु जीव स्वयं निमित्ताधीन होकर विकार करता है। जीव जब पारिणामिकभावरूप अपने स्वभाव की ओर का लक्ष्य करके स्वाधीनता प्रगट करता है, तब निमित्ताधीनपना दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है – ऐसा औपशमिकभाव, साधकदशा का क्षायोपशमिकभाव और

क्षायिकभाव – यह तीनों सिद्ध करते हैं।

(मोक्षशास्त्र, हिन्दी आवृत्ति अध्याय – 2, सूत्र 1 की टीका)

(9) बन्ध का संक्षिप्त स्वरूप ऐसा है कि –

रागपरिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य पापरूप द्वैत है; रागपरिणाम का ही आत्मा कर्ता है, उसी का ग्रहण–त्याग करनेवाला है; – यह शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय है...

(प्रवचनसार, गाथा 189 की टीका)

(10) मनुष्यादि पर्यायों में कर्म कही जीव के स्वभाव का हनन नहीं करता या उसे आच्छादित नहीं करता परन्तु वहाँ जीव स्वयं ही अपने दोष से कर्मानुसार परिणमित होता है, इसलिए उसे अपने स्वभाव की उपलब्धि नहीं है। जिस प्रकार पानी का प्रवाह प्रदेश की अपेक्षा से वृक्षोंरूप परिणमित होता हुआ अपने प्रवाहीपनेरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता – अनुभव नहीं करता, और स्वाद की अपेक्षा से वृक्षोंरूप परिणमित होता हुआ अपने स्वादिष्टपनेरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता; उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश की अपेक्षा से स्व–कर्म अनुसार परिणमित होता हुआ अपने अमूर्तपनेरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता और भाव की अपेक्षा से स्व–कर्मरूप परिणमित होता हुआ उपरागरहित विशुद्धिवानपनेरूप अपने स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता। इससे ऐसा निर्धार होता है कि मनुष्यादि पर्यायों में जीवों को अपने ही दोष से अपने स्वभाव की अनुपलब्धि है, कर्मादिक अन्य किसी कारण से नहीं। 'कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करते हैं' – ऐसा कहना तो उपचार कथन है, परमार्थ ऐसा नहीं है।

(प्रवचनसार, गाथा 118 का भावार्थ)

प्रश्न 22 – विकारीभाव अहेतुक है या सहेतुक?

उत्तर – निश्चय से विकारीभाव अहेतुक है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपना परिणमन स्वतन्त्ररूप से करता है, किन्तु विकारी पर्याय के समय निमित्त का आश्रय होता है; इसलिए व्यवहारनय से वह सहेतुक है।

...परमार्थ से अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता, इसलिए जो चेतन के भाव हैं, उनका कर्ता चेतन ही होता है। इस जीव को अज्ञान से जो मिथ्यात्वादि भावरूप परिणाम हैं, वे चेतन हैं, जड़ नहीं हैं; अशुद्ध निश्चयनय से उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है। इस प्रकार वे परिणाम चेतन होने से उनका कर्ता भी चेतन ही है क्योंकि चेतन कर्म का कर्ता चेतन ही होता है – यह परमार्थ है। अभेददृष्टि में तो जीव शुद्ध चेतनामात्र ही है, परन्तु जब वह कर्म के निमित्त से परिणमित होता है, तब उन-उन परिणामों से युक्त होता है और तब परिणाम-परिणामी की भेददृष्टि में अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव ही है। अभेददृष्टि में तो कर्ता-कर्मभाव ही नहीं है; शुद्ध चेतनामात्र जीववस्तु है... *

(समयसार, गाथा 328 से 331 का भावार्थ)

पुनश्च, दूसरे प्रकार से देखने पर आत्मा स्वतन्त्ररूप से विकार करता है, इसलिए वह अपना हेतु है; इसलिए उस अपेक्षा से वह सहेतुक है; और पर उसका सच्चा हेतु नहीं है, इसलिए उस अपेक्षा से अहेतुक है।

प्रश्न 23 – क्या एक जीव, दूसरे जीव का घात कर सकता है?

---

* *अधिक स्पष्टीकरण के लिए देखिये, अगले प्रश्न का उत्तर।*

उत्तर – नहीं, क्योंकि –

(1) अस्तित्वगुण के कारण किसी जीव या पदार्थ का कभी नाश नहीं होता; इसलिए कोई किसी को मार या जिला नहीं सकता।

(2) संयोगरूप जड़ शरीर भी स्वतन्त्र पुद्गलद्रव्य है, उसका भी कोई नाश नहीं कर सकता।

(3) जिस शरीर का वियोग हो, उसका व्यवहार से घात (नाश) कहलाता है। जीव और शरीर का वियोग अपनी-अपनी योग्यता से होता है; उसमें आयुकर्म पूरा हुआ, वह निमित्त है।

(4) घात करनेवाला जीव, दूसरे का घात करने का कषायभाव करके मात्र अपने शुद्ध चैतन्यभाव का ही घात कर सकता है, अन्य कुछ नहीं कर सकता।

(5) 'परमार्थ से कोई द्रव्य किसी का कर्ता हर्ता नहीं हो सकता।' *(प्रवचनसार, गाथा 16 का भावार्थ)*

(6) जगत् में छहों द्रव्य नित्य-स्थिर रहकर प्रति समय अपनी अवस्था का उत्पाद-व्यय करते रहते हैं; इस प्रकार अनन्त जड़-चेतन द्रव्य एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं; इसलिए वास्तव में किसी का नाश नहीं होता, कोई नया उत्पन्न नहीं होता और न दूसरे उनकी रक्षा कर सकते हैं; अर्थात् इस जगत् में कोई पर को उत्पन्न करनेवाला, पर की रक्षा करनेवाला या विनाश करनेवाला है ही नहीं।

(7) ...जीव, पर जीवों को सुखी-दुःखी आदि करने की बुद्धि करता है, परन्तु पर जीव तो अपने करने से सुखी-दुःखी नहीं

होते; इसलिए वह बुद्धि निरर्थक होने से मिथ्या है – झूठी है।

(समयसार, गाथा 266 का भावार्थ)

प्रश्न 24 – रोग के कारण दु:ख और उसके अभाव में सुख होता है – ऐसी मान्यता में सत्यासत्यता क्या है ?

उत्तर – रोग, शरीर की अवस्था है। शरीर तो पुद्गल / जड़ है, उसे सुख–दु:ख होता ही नहीं। जीव अपने अज्ञानपने से शरीर में एकत्वबुद्धि करे तो उसे सुख–दु:ख मालूम होता है; और सच्चे ज्ञान द्वारा पर में एकत्वबुद्धि न करे तो उसे सुख–दु:ख की वृत्ति उत्पन्न न हो।

ज्ञानी, शरीर को रोगग्रस्त दशा के कारण अपने को किञ्चित् दु:ख नहीं मानते। उन्हें अपनी सहनशक्ति की निर्बलता से अल्प दु:ख होता है, किन्तु वह गौण है, क्योंकि वे दु:ख के स्वामी नहीं बनते। अपने ध्रुवस्वभाव की दृष्टि के बल से उनके राग–द्वेष दूर होते जाते हैं और ज्यों–ज्यों कषाय का अभाव होता जाता है, त्यों –त्यों उन्हें सुख का अनुभव निरन्तर वर्तता रहता है।

...सुखी–दु:खी होना इच्छानुसार समझना किन्तु बाह्य कारणों के आधीन नहीं...इच्छा होती है, वह मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम से होती है तथा इच्छामात्र आकुलतामय है और आकुलता ही दु:ख है... मोह के सर्वथा अभाव से जब इच्छा का सर्वथा अभाव हो, तब सर्व दु:ख दूर होकर सच्चा सुख प्रगट होता है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 75-76)

प्रश्न 25 – क्या जीव, कर्म के उदय अनुसार विकार करता है ?

उत्तर – नहीं; क्योंकि –

(1) मोहकर्म का विपाक होने पर जीव जिस प्रकार का विकार करे, तदनुसार जीव ने फल भोगा कहलाता है। उसका अर्थ इतना है कि जीव को विकार करने में मोहकर्म का विपाक निमित्त है। कर्म का विपाक कर्म में होता है, जीव में नहीं होता। जीव को अपने विभावभाव का अनुभव हो, वह जीव का विपाक / अनुभव है। *(मोक्षशास्त्र, अध्याय - 8, सूत्र 21 टीका)*

(2) ...'औदयिकभाव' में सर्व औदयिकभाव बन्ध के कारण हैं – ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु मात्र मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग – यह चार भाव, बन्ध के कारण हैं – ऐसा जानना। *(श्री धवला पुस्तक 7, पृष्ठ - 9-10)*

(3) **औदयिका भावाः बन्धकारणम्** – इसका अर्थ इतना ही है कि यदि जीव, मोह के उदय में युक्त हो तो बन्ध होता है। **'द्रव्यमोह का उदय होने पर भी यदि जीव, शुद्धात्मभावना के बल द्वारा भावमोहरूप परिणमित न हो तो बन्ध नहीं होता।** यदि जीव को कर्म के उदयमात्र से बन्ध होता हो तो संसारी को सर्वदा कर्म के उदय की विद्यमानता से सर्वदा बन्ध ही होता रहे, कभी मोक्ष होगा ही नहीं; इसलिए ऐसा समझना कि कर्म का उदय बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु जीव का **भावमोहरूप** परिणमन होना ही बन्ध का कारण है।

(प्रवचनसार, गाथा 45 की श्री जयसेनाचार्य कृत टीका)

(4) तेषां जीवगतरागादि भावप्रत्ययानामभावे, द्रव्यप्रत्ययेषु - विद्यमानेष्वपि, सर्वेष्टानिष्टविषयममत्वा भावपरिणता जीवा न बध्यन्त इति। तथापि - यदि जीवगतरागाद्यभावेऽपि द्रव्यप्रत्ययोदया -मात्रेण बंधो भवति तर्हि सर्वज्ञदेव बन्ध एव। कस्मात्। संसारिणां सर्वदैव कर्मौदयस्य विद्यमानत्वादिति।

अर्थात् द्रव्यास्रव विद्यमान होने पर भी, जीव के रागादि भावास्रव के अभाव से, सर्व इष्ट-अनिष्ट विषयों में ममत्वभावरूप परिणमित न होनेवाले जीव बँधते नहीं है; और **यदि जीव को रागादि का अभाव होने पर भी द्रव्यास्रव के उदयमात्र से बन्ध हो तो संसारी जीवों को सर्वदा ही कर्मों का उदय होने से, सर्वदा बन्ध ही हो।**

(श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 149 की जयसेनाचार्य कृत टीका)

(5) ...ज्ञानी को यदि पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान है तो भले हों, तथापि वे (ज्ञानी) तो निरास्रव ही हैं क्योंकि कर्मोदय का कार्य जो राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव, उसके अभाव में द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण नहीं है (जिस प्रकार पुरुष को रागभाव हो, तभी यौवन प्राप्त स्त्री उसे वश कर सकती है; उसी प्रकार जीव को आस्रवभाव हो तभी उदय प्राप्त द्रव्यप्रत्यय नवीन बन्ध कर सकते हैं।) *(श्री समयसार गाथा 173 से 176 की टीका)*

(6) इससे सिद्ध होता है कि कर्मोदय, जीव को विकार कराता है, अर्थात् कर्मों का जैसा उदय हो, तदनुसार जीव को विकार करना पड़ता है - ऐसा नहीं है। जीव अपनी अज्ञानतावश कर्मोदय में युक्त हो, तभी वह कर्मोदय अपने विकार में निमित्तभूत कहलाता है, किन्तु यदि वह अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होकर कर्मोदय में युक्त न हो तो वह कर्मोदय उसमें विकार का निमित्त नहीं होगा और न कर्म के नवीन बन्ध का निमित्तकारण बनेगा, किन्तु निर्जरा का कारण होगा।

(7) ... यह अविद्या तेरी ही फैलाई हुई है; तू अविद्यारूप

कर्म में न पड़कर स्व को युक्त न करे तो जड़ का (कर्म का) कोई जोर नहीं है।

(श्री दीपचन्दजी कृत अनुभवप्रकाश गुजराती आवृत्ति, पृष्ठ - 37)

(8) अज्ञानी जीव, राग-द्वेष की उत्पत्ति परद्रव्य (कर्मादि) से मानकर परद्रव्य पर कोप करता है कि 'यह परद्रव्य मुझे राग-द्वेष उत्पन्न करते हैं, उन्हें दूर करूँ।' - ऐसे अज्ञानी जीव को समझाने के लिए आचार्यदेव उपदेष देते हैं कि राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से आत्मा में ही होती है और वे आत्मा के ही अशुद्धपरिणाम हैं, इसलिए उस अज्ञान का नाश करो; सम्यग्ज्ञान प्रगट करो; **आत्मा ज्ञानस्वरूप है - ऐसा अनुभव करो;** परद्रव्य को राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाला मानकर उस पर कोप न करो।

(समयसार, कलश 220 का भावार्थ)

(9) कर्म का उदय, जीव को कोई असर नहीं कर सकता - यह बात श्री समयसार नाटक के सर्वविशुद्धि द्वार में निम्नानुसार समझाई है -

कोई शिष्य कहै स्वामी रागदोष परिनाम,
ताको मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है;
पुग्गल करम जोग किधौं इन्द्रिनिकौ भोग,
किधा धन किधौं परिजन किधौं भौन है ?

अर्थात् शिष्य पूछता है कि हे स्वामी ! राग-द्वेष परिणामों का मूल प्रेरक कौन है, वह आप कहिये। (क्या वह) पौद्गलिक कर्म है ? योग (मन-वचन-काय की क्रिया) है ? इन्द्रियों का भोग है ? धन है ? परिजन हैं ? या मकान है ?

गुरु, कहैं छहों दर्व अपने अपने रूप,
सबनिकौ सदा असहाई परिनौन है;
कोउ दरब काहुकौ न प्रेरक कदाचि तातैं,
रागदोष मोह मृषा मदिरा अचौन है।

अर्थात् गुरु समाधान करते हैं कि छहों द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में सदैव असहाय परिणमन करते हैं; इसलिए कोई द्रव्य, किसी द्रव्य की परिणति के लिए कभी भी प्रेरक नहीं होते, इसलिए राग-द्वेष का मूल कारण मोह / मिथ्यात्व का मदिरा पान है।

(समयसार नाटक, छन्द ....)

(10) भावकर्म का कर्ता अज्ञानी जीव ही है - ऐसा श्री आचार्यदेव **समयसार** में युक्ति द्वारा निम्नानुसार सिद्ध करते हैं -

'यदि मिथ्यात्व नाम की (मोहनीयकर्म की) प्रकृति, आत्मा को मिथ्यादृष्टि बनाती है - ऐसा माना जाए तो तेरे मत में अचेतन प्रकृति (मिथ्यात्वभाव की) कर्ता हुई! (इसलिए मिथ्यात्वभाव अचेतन सिद्ध हुआ।)' *(समयसार, गाथा - 328)*

'अथवा, यह जीव, पुद्‍गलद्रव्य के मिथ्यात्व को करता है - ऐसा माना जाए तो पुद्‍गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा! - जीव नहीं!' *(गाथा - 329)*

'अथवा यदि जीव और प्रकृति दोनों पुद्‍गलद्रव्य को मिथ्यात्व भावरूप करते हैं - ऐसा माना जाए तो, जो दोनों द्वारा किया गया, उसका फल दोनों भोगेंगे।' *(गाथा - 330)*

'अथवा यदि पुद्‍गलद्रव्य को मिथ्यात्वभावरूप न तो प्रकृति करती है और न जीव करता है; (दोनों में से कोई नहीं करता) -

ऐसा माना जाए तो पुद्गलद्रव्य स्वभाव से ही मिथ्यात्वभावरूप सिद्ध होगा। यह क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है।' *(गाथा - 331)*

(11) जीव ने ही अपनी अज्ञान से भूल की है; उसमें बेचारा कर्म क्या करे ? कहा है कि –

कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई,
अग्नि सहे घनघात लोह की संगति पाई।[1]

अर्थात् – कर्म बेचारा कौन ? (किस गिनती में ?) भूल तो मेरी ही बड़ी है। जिस प्रकार अग्नि, लोहे की सङ्गति करती है तो उसे घनों के आघात सहना पड़ते हैं, (उसी प्रकार यदि जीव, कर्मोदय में युक्त हो तो उसे राग–द्वेषादि विकार होते हैं।)

(12) ...और तत्त्वनिर्णय करने में कहीं कर्म का दोष तो है नहीं किन्तु तेरा ही दोष है। तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक में लगाता है ! परन्तु जिन आज्ञा माने तो ऐसी अनीति संभव न हो। तुझे विषय–कषायरूप ही रहना है, इसलिए झूठ बोलता है। यदि मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो तू ऐसी युक्ति क्यों बनायें ?...

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय 9 देहली से प्रकाशित, पृष्ठ 458)

(13) ''कर्म खलु... स्वयमेव षटकारकीरूपेण व्यवतिष्ठमान न कारकान्तरमपेक्षते। एवं जीव. स्वयमेव षटकारकीरूपेण

1. 'भद्राणमपि नश्यन्ति गुणाः येषां संसकर्गः खलैः।
वैश्वानरो लोहेन मिलितः तेन पिट्टयते घनैः॥

अर्थ - दुष्टों (कर्म) के साथ जिनका सम्बन्ध है, उन भद्र (विवेकी) पुरुषों के भी गुण नष्ट हो जाते हैं, जैसे अग्नि लोहे के साथ मिलती है, तब वह घनों से पीटी जाती है - कूटी जाती है।' (देखो, परमात्मप्रकाश, अध्याय 2, श्लोक - 110)

व्यवतिष्ठमानो न कारकान्तरमपेक्षते। अतः कर्मणः कर्तुनास्ति जीवः कर्ता, जीवस्य कर्तुर्नास्ति कर्म कर्तृ निश्चयेति!''

अर्थात् कर्म वास्तव में... स्वयं ही षट् कारकरूप परिणमित होता है, इसलिए अन्य कारकों (अन्य के षटकारकों) की अपेक्षा नहीं रखता। उसी प्रकार जीव... स्वयं ही षट् कारकरूप से परिणमित होता है, इसलिए अन्य के षट् कारकों की अपेक्षा नहीं रखता; इसलिए निश्चय से कर्म का कर्ता जीव नहीं है और जीव का कर्ता कर्म नहीं है।

भावार्थ – निश्चय से पुद्‌गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्म योग्य पुद्‌गल स्कन्धोंरूप परिणमित होता है और जीवद्रव्य भी अपने औदयिकादि भावोंरूप से स्वयं परिणमित होता है। जीव और पुद्‌गल दोनों एक-दूसरे के कर्तव्य की अपेक्षा नहीं रखते।

(श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 62 की संस्कृत टीका)

प्रश्न 26 – 'आत्मा अपनी योग्यता से ही राग (विकार) करता है; – ऐसा मानने से तो विकार, आत्मा का स्वभाव हो जाएगा; इसलिए रागादिक विकार को कर्मकृत मानना चाहिए' – क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर – विकार आत्मद्रव्य का त्रिकाली स्वभाव नहीं है, किन्तु क्षणिक योग्यतारूप पर्यायस्वभाव है। वर्तमान पर्याय में स्व को चूककर परद्रव्य का अवलम्बन किया जाए तो पर्याय में नया-नया विकार होता है, किन्तु यदि स्वसन्मुखता की जाए तो वह दूर हो सकता है। जीव, राग-द्वेषरूप विकार पर्याय में स्वयं करता है; इसलिए अशुद्ध निश्चयनय से वह जीव का है। स्वभाव में विकार

नहीं है; स्वभाव में लीन होने से वह विकार दूर हो जाता है। विकारी पर्याय अपनी है, इसलिए निश्चय कहा है, लेकिन विकार अपना स्थायी और असली स्वरूप नहीं है, इसलिए वह अशुद्ध है; इसलिए अशुद्ध निश्चयनय से वह जीवकृत है – ऐसा कहा है।

प्रश्न 27 – कभी-कभी जीव पर जड़कर्म का जोर बढ़ जाता है और कभी जड़कर्म पर जीव का जोर बढ़ जाता है – यह ठीक है ?

उत्तर – (1) नहीं; यह मान्यता यथार्थ नहीं है, क्योंकि जीव और जड़कर्म – यह दो पदार्थ त्रिकाल भिन्न-भिन्न हैं; उनका परस्पर अत्यन्त-अभाव है; इसलिए कोई किसी पर जोर नहीं चलाता।

(2) जीव जब विपरीत पुरुषार्थ करे, तब वह अपनी विपरीत वृत्ति को कर्म में युक्त करता है; उसे अपेक्षा से कर्म का जोर आरोप से कहा जाता है; और जब जीव अपने योग्य स्वभाव में सावधान होकर सीधा पुरुषार्थ करता है, तब वह अपना बल अपने में बढ़ाता हुआ, कर्म की ओर की वृत्ति क्रमशः छोड़ता जाता है; इसलिए ऐसा कहा जाता है कि जीव बलवान हुआ।

(3) प्रत्येक द्रव्य का बल और शक्ति उसके स्वद्रव्य में है। कर्म की शक्ति जीव में नहीं जा सकती; इसलिए कर्म, जीव को कभी भी आधीन नहीं कर सकता।

प्रश्न 28 – इन्द्रियों के विषय भी आत्मा को सुख-दुःख नहीं दे सकते – इसका कारण क्या ?

उत्तर – (1) स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ जिनका आश्रय करती हैं

– ऐसे इष्ट विषयों को प्राप्त करके (अपने अशुद्ध) स्वभावरूप परिणमित होता हुआ आत्मा स्वयमेव सुखरूप (इन्द्रियसुखरूप) होता है; देह सुखरूप नहीं होती है। *(प्रवचनसार, गाथा 65 अन्वयार्थ)*

(2) शरीर, सुख-दुःख नहीं करता। देव का उत्तम वैक्रियिक शरीर सुख का कारण नहीं है या नारकी का शरीर दुःख का कारण नहीं है। आत्मा स्वयं ही इष्ट-अनिष्ट विषयों के वश होकर सुख -दुःख की कल्पनारूप परिणमित होता है।

(श्री प्रवचनसार, गाथा 66 भावार्थ)

(4) स्व-पर के भेदज्ञान के अभाव से अज्ञानी जीव, पर में अर्थात् इन्द्रियों-विषयों में सुख-दुःख की मिथ्या कल्पना करके उनमें इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि करके अपने को सुखी-दुःखी मानता है, किन्तु विषय तो जड़ हैं; वे इष्ट-अनिष्ट हैं ही नहीं और वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि एक द्रव्य दूसरे का कुछ नहीं कर सकता।

(5) ...इस प्रकार पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना है नहीं। यदि पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना हो तो जो पदार्थ इष्टरूप हो, वह सबको इष्टरूप ही होगा, किन्तु ऐसा तो नहीं होता; मात्र यह जीव स्वयं ही कल्पना करके उसे इष्ट -अनिष्टरूप मानता है परन्तु वह कल्पना मिथ्या है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 159 देहली से प्रकाशित)*

प्रश्न 29 – क्या निमित्त के बल से या प्रेरणा से कार्य होता है?

उत्तर – (1) नहीं; बात यह है कि जिस प्रकार कोई भी कार्य अन्य के आधीन नहीं है, और वह (कार्य अन्य की) बुद्धि अथवा प्रयत्न के भी आधीन नहीं है क्योंकि कार्य तो अपनी परिणमनशक्ति से ही होता है। यदि उसका बुद्धि और प्रयत्न के साथ मेल बैठ गया

तो (अज्ञानी) ऐसा समझता है कि यह कार्य निमित्त से हुआ है, परन्तु तात्त्विकदृष्टि से देखें तो प्रत्येक कार्य अपनी-अपनी योग्यता से ही होता है क्योंकि उसके अन्वय और व्यतिरेक भी उसके साथ होते हैं; इसलिए निमित्त को किसी भी अवस्था में प्रेरक-कारण मानना उचित नहीं है।

(पण्डित फूलचन्दजी सम्पादित, श्री तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ 251)

(2) जिस प्रकार शंख परद्रव्य को भोगता - खाता है, फिर भी उसकी श्वेतता पर के द्वारा कृष्ण नहीं की जा सकती क्योंकि पर, अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त (निमित्तकारण) नहीं बन सकता...

(समयसार, गाथा 220 से 223 की टीका)

प्रश्न 30 - ज्ञानी-धर्मात्मा, परजीवों का भला करने के लिए उपदेश देते हैं - यह विधान सही है ?

उत्तर - नहीं; यह बात सही नहीं है क्योंकि ज्ञानी जानते हैं कि कोई जीव, पर आत्मा का भला-बुरा नहीं कर सकता। सामनेवाला जीव अपने योग्यता से (सत्य समझने के प्रयत्न द्वारा) समझे तो उपदेश को निमित्त कहा जाता है।

छद्मस्थ ज्ञानी को अपनी निर्बलता के कारण उपदेश देने का विकल्प उठता है और वाणी, वाणी के कारण निकलती है, उसमें उपदेश का विकल्प (राग) तो निमित्तमात्र है। ज्ञानी, राग और वाणी का स्वामी नहीं है, किन्तु राग और वाणी का व्यवहार से ज्ञाता है।

प्रश्न 31 - पुद्गल, जीव को विकाररूप परिणमित कराता है - यह बात ठीक है।

उत्तर – (1) नहीं; 'ऐसा तो कभी नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति का कर्ता नहीं होता।'

(आत्मावलोकन, पृष्ठ - 46)

(2) 'कोई द्रव्य किसी द्रव्य को परिणमित नहीं करता, क्योंकि कोई द्रव्य निःपरिणामी (अपरिणामी) नहीं है; सर्व द्रव्य परिणामी है...' *(आत्मावलोकन, पृष्ठ - 74)*

प्रश्न 31 – कोई ऐसा जाने कि चिद्‌विकाररूप तो जीव परिणमित होता है, किन्तु ऐसा होने में (परिणमित होने में) पुद्‌गल स्वयं निमित्तकार्ता होकर वर्तता है – यह ठीक है।

उत्तर – नहीं; ऐसा तो कभी नहीं हो सकता, क्योंकि –

(1) यदि पुद्‌गल, वह चिद्‌विकार होने में जान-बुझकर स्वयं कर्मनिमित्तरूप हो, तो वह ज्ञानवन्त हुआ। वह तो अनर्थ उत्पन्न हुआ। जो अचेतन था, वह चेतन हो गया – यह एक दूषण।

(2) यदि जीव को विकार होने में पुद्‌गल कर्मत्वरूप से निमित्त होता ही रहे, तो यह दूषण उत्पन्न हो कि कोई द्रव्य किसी द्रव्य का शत्रु नहीं है, तथापि यहाँ पुद्‌गल, जीव का शत्रु हुआ...

(आत्मावलोकन, पृष्ठ - 46-47)

✯✯✯✯✯

प्रकरण छठवाँ

उपादान-निमित्त तथा निमित्त-नैमित्तिक अधिकार

प्रश्न 1 – कार्य किस प्रकार होता है ?

उत्तर – **कारणानुविधायित्वादेव कार्याणि**

(समयसार, गाथा, 130-131 टीका)

'कारणानुविधायीनि कार्याणि' कारण का अनुसरण करके ही कार्य होते हैं। कार्य को कर्म, अवस्था, पर्याय, हालत, दशा, परिणाम और परिणति भी कहते हैं। *(समयसार, गाथा 68 टीका)*

(यहाँ कारण को उपादानकारण समझना, क्योंकि उपादानकारण ही सच्चा कारण है।)

प्रश्न 2 – कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – कार्य की उत्पादक सामग्री को कारण कहते हैं।

प्रश्न 3 – उत्पादक सामग्री के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – उपादान और निमित्त। उपादान को

निजशक्ति अथवा निश्चय कहते हैं और निमित्त को परयोग अथवा व्यवहार कहते हैं।

प्रश्न 4 – उपादानकारण किसे कहते हैं?

उत्तर – (1) जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादानकारण कहते हैं; जैसे कि – घड़े की उत्पत्ति मिट्टी उसका **त्रिकाली उपादानकारण है;** (द्रव्यार्थिकनय से है।)

(2) अनादि काल से द्रव्य में जो पर्यायों का प्रवाह चला आ रहा है, उसमें **अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय** उपादानकारण है और **अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय** कार्य है; जैसे कि – मिट्टी का घड़ा होने में मिट्टी का पिण्ड, वह घड़े की अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय है और घड़ारूप कार्य, वह पिण्ड की अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय है। **अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय** का व्यय, वह क्षणिक उपादानकारण कहा जाता है। (पर्यायार्थिकनय से है।)

(3) उस समय की **पर्याय की योग्यता**, वह उपादानकारण है और वहीं पर्याय कार्य है। उपादान ही सच्चा (वास्तविक) कारण (पर्यायार्थिकनय से) है। *[आधार - ध्रुवउपादान तथा क्षणिक उपादान के लिए देखो - (1) अष्टसहस्त्री श्लोक 58, टीका, पृष्ठ 210, (2) चिद्विलास, पृष्ठ 36, (3) ज्ञानदर्पण, पृष्ठ 25-40-56]*

प्रश्न 5 – योग्यता किसे कहते हैं?

उत्तर – योग्यतैव विषयप्रतिनियमकारणामिति।

(न्याय दीपिका, पृष्ठ 27)

(1) योग्यता ही विषय का प्रतिनियामक कारण है। [यह कथन ज्ञान की योग्यता (सामर्थ्य) को लेकर है परन्तु योग्यता का कारणपना सर्व में सर्वत्र समान है।]

(2) सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, लियाकत, ताकत, योग्यता, शक्ति यह 'योग्यता' शब्द के अर्थ हैं ?

प्रश्न 6 – निमित्तकारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप परिणमित न हो, परन्तु कार्य उत्पत्ति में अनुकूल होने का जिस पर आरोप आ सके, उस पदार्थ को निमित्तकारण कहते हैं; जैसे कि – घड़े की उत्पत्ति में कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि निमित्तकारण है। [निमित्त सच्चा कारण नहीं है; वह अकारणवत्–अहेतुवत[1] है, क्योंकि वह उपचारमात्र अथवा व्यवहार कारण है।]

प्रश्न 7 – निमित्तकारण के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं : (1) प्रेरक निमित्त और (2) उदासीन निमित्त।

प्रश्न 8 – प्रेरक निमित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर – गमन / क्रियावाले जीव, पुद्गल तथा इच्छादिवाले जीव प्रेरक निमित्त कहलाते हैं। प्रेरक निमित्त जबरन् उपादान में कार्य कर देते हैं या प्रभावादि डाल सकते हैं – ऐसा नहीं समझना, क्योंकि दोनों पदार्थों का एक–दूसरे में अभाव है। प्रेरक निमित्त, उपादान की प्रेरणा नहीं करता।

प्रश्न 9 – उदासीन निमित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और कालादि निष्क्रिय (गमन क्रियारहित) या रागरहित, द्रव्यों को उदासीन निमित्त कहते हैं।

---

1. पञ्चाध्यायी, भाग–2, गाथा 351

[निमित्तों के उपभेद बताने के लिए किन्हीं निमित्तों को प्रेरक और किन्ही को उदासीन कहा जाता है, किन्तु सर्व प्रकार के निमित्त, उपादान के लिए तो धर्मास्तिकायवत् उदासीन ही है। निमित्त के भिन्न-भिन्न प्रकारों का ज्ञान कराने के लिए ही उसके यह दो भेद किये गये हैं।]

प्रश्न 10 – 'कुम्हार ने चाक, दण्ड आदि से घड़ा बनाया' – उसमें घड़ारूप कार्य में (1) त्रिकाली और क्षणिक उपादानकारण कौन हैं ? (2) उदासीन और प्रेरक निमित्त कौन से हैं।

उत्तर – (1) त्रिकाली उपादानकारण मिट्टी; और घड़ारूप कार्य की अनन्तर पूर्ववर्ती पर्याय – मिट्टी के पिण्ड का अभाव (व्यय) तथा घड़ारूप होने की वर्तमान पर्याय की योग्यता – यह दोनों क्षणिक उपादान हैं ?

(2) घड़ा बनाने के रागवाला कुम्हार और क्रियावान् चाक, दण्डादि प्रेरक निमित्त हैं।

चाक की कीली, काल, आकाश, धर्म-अधर्म आदि उदासीन निमित्त है; क्योंकि वे गमनक्रिया रहित और राग (इच्छा) रहित हैं।

प्रश्न 11 – उदासीन निमित्त, उपादान में कुछ नहीं कर सकते, परन्तु प्रेरक निमित्त तो कुछ कार्य – प्रभाव, असर करते होंगे ?

उत्तर – नहीं; उदासीन या प्रेरक निमित्त, उपादान में कुछ करते ही नहीं क्योंकि पर के लिए सभी निमित्त उदासीन ही हैं। श्री पूज्यपाद आचार्य, इष्टोपदेश की 35 वीं गाथा में कहते हैं कि –

नाज्ञो विज्ञत्वामायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥ 35॥

अर्थात् अज्ञानी विशेष प्रकार के ज्ञानभाव को प्राप्त नहीं करता और विशेष ज्ञानी, अज्ञानपने को प्राप्त कहीं करता। गति को जिस प्रकार धर्मास्तिकाय निमित्त है; उसी प्रकार अन्य तो निमित्तमात्र है।

भावार्थ – तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए अयोग्य अभव्यादि जीव, धर्माचार्यादिकों के हजारों उपदेशों से भी तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते।

'कार्य की उत्पत्ति करने के लिए कोई भी प्रयत्न स्वाभाविक गुण की अपेक्षा किया करता है। सैकड़ों व्यापारों से (प्रयत्नों से) भी बगुले को तोते की भाँति नहीं पढ़ाया जा सकता।'

यहाँ शङ्का यह होती है कि ऐसे तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जाएगा। इस विषय में उत्तर यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक हैं, वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में तथा विध्वंसन (नाश) में केवल निमित्तमात्र हैं। **वास्तव में कोई कार्य होने में या बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है...**

(परमश्रुत प्रभावक मण्डल, मुम्बई से प्रकाशित - इष्टोपदेश, गाथा 35 की टीका)

प्रश्न 12 – कभी-कभी प्रेरक निमित्त, जैसे कि शीघ्र गति करती मोटर, ट्रेन आदि द्वारा अनिच्छित स्थान में गति आदि देखे जाते हैं, इसलिए उपादान को प्रेरक निमित्तों के आधीन परिणमित होना पड़ता है – यह ठीक है ?

उत्तर – नहीं; किसी भी प्रेरक निमित्तों के आधीन उपादान को परिणमित होना पड़ता है – ऐसा नहीं है, परन्तु इतना निश्चित होता है कि गतिक्रिया जीव की इच्छानुसार नहीं हो सकी। वास्तविक

रीति से देखा जाए तो शरीर और जीव की क्रियावतीशक्ति की उस समय की योग्यता ही वैसी थी; इसलिए तदनुसार गति हुई।

प्रश्न 13 – शीघ्र गति करती मोटरादि तो उसमें निमित्तमात्र है, किन्तु पुद्गलकर्म, मन, वचन, काय, इन्द्रियों का भोग, धन, परिजन, मकान, इत्यादि तो जीव को राग-द्वेषरूप परिणाम करने में प्रेरक हैं ?

उत्तर – छहों द्रव्य सर्व, अपने-अपने स्वरूप से सदैव असहाय (स्वतन्त्र) परिणमन करते हैं; कोई द्रव्य किसी का प्रेरक कभी नहीं है; इसलिए **कोई भी द्रव्य राग-द्वेष का प्रेरक नहीं है** परन्तु जीव का मिथ्यात्व मोहरूप भाव है, वही (अनन्तानुबन्धी) राग-द्वेष का कारण है। *(देखो, प्रकरण 5, प्रश्न 371 का उत्तर)*

प्रश्न 14 – पुद्गलकर्म की बलजबरी से जीव को राग -द्वेष करना पड़ता है; पुद्गलद्रव्य कर्मों का वेष धारण करके जहाँ-जहाँ बल करता है, वहाँ-वहाँ जीव को राग-द्वेष अधिक होते हैं – यह बात सत्य है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि जगत् में पुद्गल का संग तो सदैव रहता है। यदि उसकी बलजबरी से जीव को रागदि विकार हों तो शुद्धभावरूप होने का कभी अवसर ही नहीं आ सकेगा; इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि शुद्ध या अशुद्ध परिणमन करने में चेतन स्वयं समर्थ है। *(समयसार नाटक, सर्व अधिकार द्वार, कवित्त 61 से 66)*

प्रश्न 15 – निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर – जब उपादान स्वयं स्वत: कार्यरूप परिणमित होता है, तब **भावरूप** या **अभावरूप** किस उचित (योग्य)

निमित्तकारण का उसके साथ सम्बन्ध है, वह बतलाने के लिए उस कार्य को **नैमित्तिक** कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों के स्वतन्त्र सम्बन्ध को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध परस्पर की परतन्त्रता का सूचक नहीं है, परन्तु नैमित्तिक के साथ कौन निमित्तरूप पदार्थ है - उसका वह ज्ञान कराता है।

जिस कार्य को निमित्त की अपेक्षा से नैमित्तिक कहा है, उसे अपने उपादान की अपेक्षा से उपादेय भी कहते हैं।

(1) निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दोनों स्वतन्त्र पर्यायों के बीच होता है।

(2) निमित्त और नैमित्तिक का स्वचतुष्टय (द्रव्य-क्षेत्र -काल-भाव) भिन्न-भिन्न है।

(3) उपादान-उपादेय सम्बन्ध **एक ही पदार्थ को लागू होता है।**

(4) कार्य की निमित्त द्वारा पहिचान कराते हुए वह नैमित्तिक कहलाता है और उसी कार्य की उपादान द्वारा पहिचान कराते हुए वह उपादेय कहलाता है।

प्रश्न 16 - प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त के दृष्टान्त दीजिये।

उत्तर - (1) घट की उत्पत्ति में दण्ड, चक्र, कुम्हारादि प्रेरक निमित्त हैं, क्योंकि दण्ड, चक्र और कुम्हार का हाथ गतिमान है और कुम्हार उस समय घड़ा बनाने की इच्छावाला है। धर्मास्तिकाय और चक्र को घूमने की धुरी, वे उदासीन निमित्त हैं परन्तु वे सभी

निमित्त, मिट्टीरूप उपादान के प्रति (धर्मास्तिकायवत्) उदासीन कारण हैं।

(2) कोई मनुष्य घोड़े पर बैठकर बाहर गाँव जाता है, उसमें घोड़ा गतिमान होने से प्रेरक निमित्त है; धर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है परन्तु वे निमित्त, उपादानरूप सवारी करनेवाले मनुष्य के प्रति (धर्मास्तिकायवत्) उदासीन कारण है।

[जो प्रेरक निमित्तकारण है, वे गति या इच्छपना बतलाने के लिए प्रेरणा करते हैं – ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है, किन्तु वास्तव में किसी द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय को प्रेरक नहीं हो सकती।]

प्रश्न 17 – भावरूप निमित्त और अभावरूप निमित्त के दृष्टान्त दीजिये।

उत्तर – (1) जिस प्रकार उत्तरङ्ग (तरङ्गे उठनेवाली) और निस्तरङ्ग (तरङ्ग रहित) दशाओं को वायु का चलना या न चलना निमित्त होने पर भी, वायु और समुद्र में व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव के कारण कर्ता-कर्मपने की असिद्धि होने से, समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्ग अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्ग ऐसा अपने को करता हुआ, अपने एक को ही करता प्रतिभासित होता है परन्तु अन्य को करता प्रतिभासित नहीं होता...

(2) ...उसी प्रकार संसार और निःसंसार अवस्थाओं को पुद्गलकर्म के विपाक का सम्भव* (उत्पत्ति) और असम्भव

** सम्भव = होना, उत्पत्ति।*

निमित्त होने पर भी, पुद्गलकर्म और जीव के बीच व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने के कारण कर्ता-कर्मपने की असिद्धि होने से जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर संसार अथवा नि:संसार अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर अपने को ससंसार या नि:संसार करता हुआ, अपने एक को ही करता हुआ प्रतिभासित हो परन्तु अन्य को करता प्रतिभासित न हो...

(समयसार, गाथा 83 की टीका)

[दृष्टान्त में वायु का चलना, वह सद्भावरूप निमित्त है और उनका असम्भव, वह अभावरूप निमित्त है ।]

प्रश्न 18 - कर्म के उदय से जीव में सचमुच विकारभाव होता है - यह विधान ठीक है ?

उत्तर - (1) नहीं, क्योंकि 'जीव में होनेवाले विकारभाव वह स्वयं करता है, तब कर्म का उदय निमित्त है, किन्तु उन कर्म के रजकणों ने जीव को कुछ भी किया या उस पर असर / प्रभाव डाला - ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है । (उसी प्रकार जीव, विकार करता है, तब पुद्गल कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूप परिणमित होती है - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ।) जीव को विकारीरूप से कर्म का उदय परिणमाता है और नवीन कर्मों को जीव परिणमाता है - यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलानेवाला व्यवहार कथन है । वास्तव में जीव, जड़ को कर्मरूप परिणमित नहीं कर सकता और कर्म, जीव को विकारी नहीं कर सकता - ऐसा समझना। गोम्मटसारादि कर्म शास्त्रों के इस प्रकार अर्थ करना ही न्यायसंगत है ।'

(स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट से प्रकाशित हिन्दी आवृत्ति मोक्षशास्त्र - अध्याय 1, परिशिष्ट 1)

(2) कर्म के उदय से जीव को विकार होता है – ऐसी मान्यता भ्रममूलक है। श्री दीपचन्दजी कृत 'आत्मावलोकन' पृष्ठ 143 में कहा है कि –

'हे मित्र... अन्यलोक, स्वांग (पुद्‌गलकर्म), स्कन्ध, परज्ञेय द्रव्यों का दोष न देख और ऐसा न जान कि 'परज्ञेय की सन्निधि (निकटता) निमित्तमात्र देखकर उसने (निमित्त ने) मेरा द्रव्य मलिन (विकारयुक्त) किया।' जीव स्वयं ऐसा झूठा भ्रम करता है, परन्तु उन परज्ञेयों से कभी तेरी भेंट (स्पर्श) भी नहीं हुई है; तथापि तू उनका दोष देखता है – जानता है, यह तेरा हरामजादीपना है। एक तू ही झूठा है, उनका कोई दोष नहीं है; वे तो सदैव सच्चे हैं।

प्रश्न 19 – जब कर्मों का तीव्र उदय हो, तब पुरुषार्थ नहीं हो सकता; ऊपर के गुणस्थानों से भी जीव नीचे गिर जाता है – ऐसे कथन का क्या अर्थ है?

उत्तर – (1) यह व्यवहारनय का कथन है। जीव में ऐसी योग्यता हो, तब कैसा निमित्त होता है? – उसका ज्ञान कराने के लिए यह कथन है।

(2) जीव स्वयं अपने विपरीत पुरुषार्थ से तीव्र दोष करता है, तभी कर्म के उदय को तीव्र उदय कहा जाता है, किन्तु यदि जीव यथार्थ पुरुषार्थ करे तो कर्म का चाहे जैसा उदय होने पर भी उसे निर्जरा कहा जाता है। कर्मोदय के कारण जीव गिरता ही नहीं।

(3) प्रवचनसार गाथा 45 की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि – 'द्रव्यमोह का उदय होने पर भी, यदि शुद्ध

आत्मभावना के बल से मोहभावरूप परिणमित न हो तो बन्ध नहीं होता। पुनश्च, कर्म के उदयमात्र से बन्ध नहीं होता। यदि उदयमात्र से बन्ध होता हो तो संसारी को सर्वदा ही कर्म का उदय विद्यमान होने से सदैव ही बन्ध होता रहेगा; मोक्ष कभी होगा ही नहीं।'

(4) 'द्रव्यकर्मरूप प्रत्ययों (आस्रवों) का विद्यमानपना होने पर भी यदि जीव, रागादिभाव न करे तो बँधता नहीं है। यदि रागादि के अभाव में द्रव्यप्रत्यय के उदयमात्र से जीव को बन्ध हो तो सर्वदा बन्धन चालू ही रहेगा, क्योंकि संसारी को सर्वदा कर्मोदय विद्यमान होता है।'

(पञ्चास्तिकाय, गाथा 149 की श्रीजयसेनाचार्यकृत टीका)

प्रश्न 20 – परिणमन में (कार्य में) उपादान और निमित्त – यह दोनों कारण होते हैं तो उसमें निमित्तकारण का कार्यक्षेत्र कितना?

उत्तर – (1) कार्य होने से पूर्व किसी को निमित्त नहीं कहा जाता। कार्य के काल में जो उचित (अनुकूल) संयोगरूप परवस्तु उपस्थित हो, उसे निमित्तकारण कहते हैं।

उपादान के बिना पर के कार्य का निमित्त नहीं कहा जा सकता; निमित्त तो मात्र किस उपादान ने कार्य किया, वह बतलानेवाला व्यजंक है। *(पञ्चाध्यायी भाग-2, गाथा 358 के आधार से)*

(2) निमित्त तो साक्षीभूत है; जिस प्रकार दुपहरिया (दोपहर के समय खिलनेवाला) फूल को विकासरूप होने में दोपहर के सूर्य का होना साक्षीभूत प्रत्यक्ष अवश्य दिखाई देता है।

(आत्मावलोकन, पृष्ठ 102)

(3) निमित्त परवस्तु है। उपादान को परिणमित होने में उसकी

आवश्यकता होती है या नहीं ? – यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जब निश्चय कारण – उपादान के कार्यरूप परिणत होने का काल होता है, तब निमित्त की उपस्थिति स्वयमेव होती है; वह न हो ऐसा कभी नहीं होता।

– इस विषय में पण्डित फूलचन्दजी द्वारा सम्पादित तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 5, सूत्र 30 की टीका में कहा है कि –

'...वे (निमित्त) हैं; अतः माने गये हैं, इसलिए उनकी आवश्यकता और अनावश्यकता का तो प्रश्न नहीं उठता।'

प्रश्न 21 – देह, इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियों के विषयों के निकट रहने से ही मनुष्यों को ज्ञान और सुख होता है, इसलिए वे देहादि पदार्थ ज्ञान और सुख के लिए अकिञ्चित्कर कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर – (1) उपादानकारण के आश्रय से – सामर्थ्य से ही निमित्त को हेतु कहा जाता है, किन्तु उपादान के बिना पर को कार्य का निमित्त नहीं कहा जा सकता। निमित्त तो मात्र किस उपादान ने कार्य किया, उसे बतलानेवाला (अभिव्यञ्जक) है।

(पञ्चाध्यायी भाग-2, गाथा 358 के आधार से)

(2) उपरोक्त कथन का साधक दृष्टान्त यह है कि अग्नि, अगर (चन्दन) द्रव्य की गन्ध का व्यजंक होता है...

(पञ्चाध्यायी भाग-2, गाथा 359)

(3) उसी प्रकार यद्यपि देह, इन्द्रिय और उनके विषय किसी स्थान पर ज्ञान और सुख के अभिव्यञ्जक होते हैं, किन्तु वे स्वयं ज्ञान और सुखरूप नहीं हो सकते। ***(पञ्चाध्यायी भाग-2, गाथा 360)***

(4) ...जहाँ आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित होता है, वहाँ विषय क्या करते हैं ? *(प्रवचनसार, गाथा 67)*

(5) अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुण की उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इसलिए (यह सिद्धान्त है कि) सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। *(समयसार, गाथा 372)*

इससे सिद्ध होता है कि आत्मा को इन्द्रियजन्य ज्ञान तथा सुख होने में शरीर-इन्द्रियाँ अनुत्पादक होने से अकिञ्चित्कर हैं।

निमित्तकारण, वह कथनमात्र कारण हैं; वास्तविक कारण नहीं है। सच्चा कारण तो एक उपादानकारण ही है। उसका कथन दो प्रकार से है - निश्चय से और व्यवहार से। निश्चय कारण ही सच्चा कारण है; व्यवहार कारण तो मात्र सहचारी पदार्थ का ज्ञान कराने के लिए ही कहा जाता है।

प्रश्न 21 - जीव को संसारदशा में तो विषय, ज्ञान और सुख उत्पन्न करते हैं न ?

उत्तर - (1) नहीं; जीव, संसार और मोक्ष दोनों अवस्थाओं में ज्ञानादि स्वरूपवाला ही है, इसलिए यह आत्मा ही स्वयं ज्ञान अथवा सुखमय होता है। *(पञ्चध्यायी, भाग 2, गाथा 352)*

(2) मतिज्ञानादि के समय में जीव ही स्पर्शादि विषयों को विषय करके स्वयं ही उस ज्ञान और सुखमय हो जाता है; इसलिए आत्मा को उस ज्ञान तथा सुख में वे अचेतन (जड़) स्पर्शादि पदार्थ क्या कर सकते हैं ? *(पञ्चध्यायी, भाग 2, गाथा 353)*

(3) मतिज्ञानादि के उत्पत्ति के समय में आत्मा ही उपादान कारण है तथा देह-इन्द्रियाँ और उनके विषयभूत पदार्थ मात्र बाह्य

हेतु हैं, इसलिए वे अहेतु समान (अहेतुवत्) हैं।

(पञ्चाध्यायी, भाग 2, गाथा 351)

(4) यदि स्पर्शादिक विषय स्वतन्त्ररूप से ज्ञान को उत्पन्न करते हों तो उन ज्ञानशून्य घटादिक में भी वे ज्ञान क्यों उत्पन्न नहीं करते? *(पञ्चाध्यायी, भाग 2, गाथा 354)*

(5) यदि ऐसा कहा जाए कि चेतन द्रव्य में ही किसी जगह वे स्पर्शादिक पदार्थ ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, किन्तु यदि आत्मा स्वयं चेतन है तो फिर अचेतन पदर्थों ने उसमें क्या उत्पन्न किया? अर्थात् कुछ भी नहीं। *(पञ्चाध्यायी, भाग 2, गाथा 355)*

(6) इसलिए ऐसा निश्चित् होता है कि आत्मा को ज्ञान और सुख उत्पन्न करने में शरीर, पाँचों इन्द्रियाँ तथा उनके विषयों का अकिञ्चित्करपना है। *(पञ्चाध्यायी, भाग 2, गाथा 356)*

[जो हेतु कुछ भी नहीं करता, वह अकिञ्चित्कर कहलाता है] *(समयसार, गाथा 267 का भावार्थ)*

प्रश्न 22 – अन्तरङ्ग कारण से (उपादानकारण से) ही कार्य की उत्पत्ति होती है – ऐसा न माना जाए तो क्या दोष आयेगा?

उत्तर – (1) कार्य की उत्पत्ति में स्वस्थिति कारण होती है, उसमें अन्य हेतु (कारण) नहीं है। फिर भी 'कोई हेतु' है – ऐसा माना जाए तो अनवस्था का दोष आयेगा।

(पञ्चाध्यायी, भाग 2, गाथा 799, पण्डित फूलचन्दजी द्वारा सम्पादित)

(2) यहाँ मित्रद्वैत से एक उपादान और दूसरा सहकारी कारण लिया गया है ...वस्तु में कार्यकारीपने की योग्यता अन्य वस्तु के निमित्त से नहीं आती, यह तो उसका स्वभाव है। इस पर

से यदि किसी वस्तु में कार्यकारीपने की योग्यता अन्य वस्तु की सहकारिता से मानी जाए तो उस अन्य वस्तु में ऐसी योग्यता उससे भिन्न अन्य वस्तु के निमित्त से मानना पड़ेगी, और इस प्रकार उत्तरोत्तर हेतु – परम्परा की कल्पना करने से अनवस्था दोष प्राप्त होगा... *(पण्डित फूलचन्दजी सम्पादित, पञ्चाध्यायी भाग 1, गाथा 402-404 का विशेषार्थ)*

(3) ...सर्व कार्य एकान्त से बाह्य अर्थ की अपेक्षा करके ही उत्पन्न नहीं होते; अन्यथा चावल धान्य के बीज से जव के अंकुर की उत्पत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, किन्तु तीनों काल में किसी क्षेत्र में ऐसा द्रव्य नहीं है कि जिसके बल से चावल धान्य के बीज को जव के अंकुररूप उत्पन्न करने की शक्ति हो सके। यदि ऐसा होने लगेगा तो अनवस्था दोष प्राप्त होगा; इसलिए किसी भी स्थान पर (सर्वत्र) अन्तरङ्ग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है – ऐसा निश्चय करना चाहिए। *(धवल पुस्तक 6, पृष्ठ 164)*

प्रश्न 23 – वस्तु का प्रत्येक परिणमन अपनी योग्यतानुसार ही होता है, यह बात सत्य है ?

उत्तर – (1) हाँ; वास्तव में कोई भी कार्य होने में या बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है।

'नन्हेवंबांह्यनिमित्तपेक्षः प्राप्नोतीत्यत्राह। अन्यः पुनर्गुरु-विपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्यतामेव साक्षात् साधकत्वात्।'

अर्थात् यहाँ ऐसी **शङ्का** होती है कि इस प्रकार तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जाएगा। उसका **उत्तर** यह है कि

अन्य जो गुरु, शत्रु आदि हैं, वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में या विध्वंस में सिर्फ निमित्तमात्र हैं। वहाँ **योग्यता** में ही साक्षात् साधकपना है। *(इष्टोपदेश, गाथा 35 की टीका)*

(2) ...वैभाविक परिणमन निमित्त सापेक्ष होकर भी वह अपनी इस काल में प्रगट होनेवाली **योग्यतानुसार** ही हैं।... अपनी योग्यतावश ही जीव संसारी है और अपनी **योग्यतावश** ही वह मुक्त होता है। जैसे परिणमन का साधारण कारण होते हुए भी, द्रव्य अपने उत्पादव्ययस्वभाव के कारण ही परिणमन करता है; काल उसका कुछ प्रेरक नहीं है। आगम में निमित्त विशेष का ज्ञान कराने के लिए ही कर्म का उल्लेख किया गया है। **उसे कुछ प्रेरक कारण नहीं मानना चाहिए।** जीव पराधीन है – यह कथन निमित्त विशेष का ज्ञान कराने के लिए ही किया जाता है। तत्त्वत: प्रत्येक परिणमन होता है **अपनी योग्यतानुसार ही।**

(पण्डित फूलचन्दजी द्वारा सम्पादित पञ्चाध्यायी, गाथा 61 से 70 का विशेषार्थ)

(3) श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 580 की संस्कृत टीका के श्लोंक में कहा है कि

निमित्तांतरं तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता।
यहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितं तत्त्वदर्शिभिः॥ 1॥

अर्थात् उस वस्तु में विद्यमान परिणमनरूप जो **योग्यता, वह अन्तरङ्ग निमित्त है** और उस परिणमन का निश्चयकाल बाह्य निमित्त (कारण) है – ऐसा तत्त्वदर्शियों ने निश्चय किया है।

[यहाँ अन्तरङ्ग निमित्त का अर्थ उपादानकारण होता है।]

योग्यता शब्द का उपयोग निम्नोक्त शास्त्रों में किया गया है। उसे पढ़कर योग्यता का सच्चा अर्थ समझने का जिज्ञासुओं से नम्र अनुरोध है –

1. **प्रवचनसार** – गाथा 44, 167, 168, 169 टीका।

2. **समयसार** – गाथा 13, 275, 318, 373 टीका

3. **नियमसार** – गाथा 63 टीका

4. **पञ्चास्तिकाय** – गाथा 64, 66, 99 टीका।

5. **इष्टोपदेश** – गाथा 35 टीका, तथा गाथा 2, मूल में (योग्योपादान – योगेन)

6. **अष्टसहस्त्री** – श्लोक 88 टीका।

7. **अष्टशती** – श्लोक 88 टीका।

8. **प्रमेयकमलमार्तण्ड** – पृष्ठ 105, 'योग्यता एवं शरणम्'

9- **प्रमाणपरीक्षा** – पृष्ठ 52, 67।

10. **तत्त्वार्थसूत्र** – अध्याय 8, सूत्र 2।

11. **तत्त्वार्थसार** – पृष्ठ 37, 95, 164, 166, 176, 182, 183, 284, 286, 305, 309 योग्यता एवं शरणम्

12. **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक** – पृष्ठ 230, 249, संस्कृत।

13. **परीक्षामुख** – द्वितीय अध्याय,सूत्र 9

14. **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** – गाथा 52, 190–286

प्रश्न 24 – निमित्त को वास्तव में अकिञ्चितकर क्यों कहा ?

उत्तर – (1) संसार में या मोक्ष में आत्मा अपने आप सुखरूप

परिणमित होता है; उसे विषय **अकिञ्चितकर** हैं, अर्थात कुछ नहीं करते। अज्ञानी लोग विषयों को सुख का कारण मानकर व्यर्थ ही उनका अवलम्बन करते हैं। *(प्रवचनसार, गाथा 67 का भावार्थ)*

(2) 'जो हेतु कुछ भी नहीं करता, वह **अकिञ्चितकर** कहलाता है। *(श्री समयसार गाथा 267 की टीका)* एक द्रव्य का व्यापार दूसरे द्रव्य में होता ही नहीं। उक्त कथन से सिद्ध होता है कि आत्मा को इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुख होने में शरीर, इन्द्रियाँ तथा उनके विषय अनुत्पादक होने से **अकिञ्चितकर** हैं...

(पञ्चाध्यायी, भाग 2, गाथा 356 का भावार्थ)

(3) तत्त्वदृष्टि से देखने पर राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य जरा भी (किंचनापि) दिखलाई नहीं देता।

(समयसार, कलश 219)

(4) इस आत्मा में जो राग-द्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है, वहाँ परद्रव्यों का कुछ भी दोष नहीं है; वहाँ तो स्वयं अपराधी ऐसा यह अज्ञान ही फैलता है... *(समयसार, कलश 220)*

(5) ...इस प्रकार अपने स्वरूप से ही जाननेवाले ऐसे आत्मा को अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होनेवाले शब्दादिक **किञ्चितमात्र** भी विकार नहीं करते। जिस प्रकार अपने स्वरूप से ही प्रकाशित ऐसे दीपक को घटपटादि पदार्थ विकार नहीं करते उसी प्रकार। ऐसा वस्तु स्वभाव है, तथापि जीव, शब्द को सुनकर, रूप को देखकर, गन्ध को सूँघकर, रस का आस्वादन कर, स्पर्श का स्पर्शन कर, गुण-द्रव्य को जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करते हैं, वह अज्ञान ही है।

(समयसार, गाथा 373 से 382 का भावार्थ)

(6) ...वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिए, तथा वस्तुस्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिए; आत्मा जिस प्रकार बाह्य पदार्थों की असमीपता में (अपने स्वरूप से ही जानता है), उसी प्रकार बाह्य पदार्थों की समीपता में भी अपने स्वरूप से ही जानता है। (इस प्रकार) अपने स्वरूप से ही जाननेवाले उस (आत्मा को), वस्तु स्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त ऐसे मनोहर या अमनोहर शब्दादि बाह्य **पदार्थ किञ्चित् विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।** *(समयसार, गाथा 373 से 382 का भावार्थ)*

प्रश्न 25- निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कब कहा जाता है?

उत्तर - जिस समय वस्तु कार्यरूप परिणमित हो, अर्थात् उपादान में कार्य हो, उसी समय संयोगरूप परवस्तु को निमित्त कहा जाता है। यदि कार्य न हो तो किसी सामग्री को निमित्तकारण नहीं कहा जाता क्योंकि कार्य होने से पूर्व निमित्त किसका? कार्य-कारण का समय एक ही होता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एक समय की वर्तमान पर्याय में ही होता है।

प्रश्न 26 - निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को दृष्टान्त देकर समझाइये।

उत्तर - (1) केवलज्ञान नैमित्तिक है और लोकालोकरूप समस्त ज्ञेय निमित्त हैं। *(प्रवचनसार, गाथा 26 की टीका)*

(2) सम्यग्दर्शन नैमित्तिक है और सम्यग्ज्ञानी के उपदेशादि निमित्त हैं। *(आत्मानुशासन, गाथा 10 की टीका)*

(3) सिद्धदशा नैमित्तिक है और पुद्गलकर्म का अभाव निमित्त है। *(समयसार, गाथा 83 की टीका)*

(4) जिस प्रकार अध:कर्म से उत्पन्न हुआ और उद्देश्य से उत्पन्न हुआ – ऐसा जो निमित्तभूत [आहारादि] पुद्‌गलद्रव्य का प्रत्याख्यान [त्याग] न करता हुआ आत्मा [मुनि], नैमित्तिकभूत बन्ध-साधकभाव का प्रत्याख्यान नहीं करता; उसी प्रकार समस्त परद्रव्यों का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्त से होनेवाले भावों को नहीं त्यागता। ***(समयसार गाथा 286-87 की टीका)***

इसमें बन्ध-साधकभाव नैमित्तिक है और अध:कर्म तथा उद्देशिक आहारादि परद्रव्य निमित्त हैं।

(1) जिस पापकर्म से आहार उत्पन्न होता है, उस पापकर्म को **अध:कर्म** कहा जाता है तथा उस आहार को भी अध:कर्म कहा है। जो आहार, ग्रहण करनेवाले के निमित्त से ही बनाया गया है, उसे **उद्देशिक** कहा जाता है। ऐसे आहार (अध:कर्म और उद्देशिक) के निमित्त से आत्मा के जो भाव होते हैं, वे नैमित्तिक बन्ध-साधक भाव हैं।

2. निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र कर्म और जीव के बीच ही होता है, यह बात यथार्थ नहीं है; कारण बतलाना हो, तब उपादानकारण और निमित्तकारण कहे जाते हैं।

3. निमित्तकारण और उसके साथ का सम्बन्ध बतलाना हो, तब उपादान का कार्य (निमित्त अपेक्षा से) नैमित्तिक कहलाता है।

प्रश्न 27 –

गुरु उपदेश निमित्त बिना, उपादान बलहीन;
ज्यों नर दूजे पाँच बिन, चलवे को आधीन।

(बनारसी विलास)

अर्थात् गुरु के उपदेशरूप निमित्त के बिना उपादान (शिष्यादि) बलहीन हैं (जैसे कि) दूसरे पाँव के बिना मनुष्य चल सकता है ?

उत्तर – यह मान्यता सत्य नहीं है – ऐसा बतलाने के लिए श्रीगुरु दोहे से उत्तर देते हैं कि –

(1) **ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिवमग धार;**
उपादान निहचै जहाँ तहाँ निमित्त व्योहार।

(बनारसी विलास)

अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञानरूप नेत्र; और स्थिरतारूप चरण (अर्थात् लीनतारूप क्रिया) – यह दोनों मिलकर मोक्षमार्ग जानो। **जहाँ उपादानरूप निश्चय कारण होता है, वहाँ निमित्तरूप व्यवहार कारण होता ही है।**

भावार्थ – उपादान तो निश्चय, अर्थात् सच्चा कारण है; निमित्त तो मात्र व्यवहार, अर्थात उपचार कारण है; सच्चा कारण नहीं है; इसीलिए तो उसे अकारणवत् (अहेतुवत्) कहा है। उसे उपचार (आरोपित) कारण इसलिए कहा है कि वह उपादान का कुछ कार्य करता–कराता नहीं है, तथापि कार्य के समय उस पर अनुकूलता का आरोप आता है; इस कारण उसे उपचारमात्र कहा है।

[सम्यग्ज्ञान और चारित्ररूप लीनता को मोक्षमार्ग जानो – ऐसा कहा; उसमें शरीराश्रित उपदेश, उपवासादिक क्रिया और शुभरागरूप व्यवहार को मोक्षमार्ग न जानो, यह बात आ जाती है।]

2. **उपादान जिनगुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय;**
भेदज्ञान परवान विधि, विरला बूझे कोय।

(बनारसी विलास)

[यह मान्यता सत्य है ? - ऐसा शिष्य का प्रश्न है।]

अर्थात् जहाँ **निजशक्तिरूप उपादान हो, वहाँ परनिमित्त होता ही है।** उसके द्वारा भेदज्ञान प्रमाण की विधि (व्यवस्था) है। यह सिद्धान्त कोई विरले ही समझते हैं।

भावार्थ – जहाँ उपादान की योग्यता हो, वहाँ नियम से निमित्त होता ही है। निमित्त की प्रतीक्षा करना पड़े – ऐसा नहीं होता; और निमित्त को हम जुटा सकते हैं – ऐसा भी नहीं होता। निमित्त की प्रतीक्षा करनी पड़ती है या उसे मैं ला सकता हूँ – ऐसी मान्यता, परपदार्थ में अभेदबुद्धि, अर्थात् अज्ञानसूचक है। उपादान और निमित्त दोनों असहायरूप स्वतन्त्र है, यह उनकी मर्यादा है।

(3) **उपादान बल जहँ तहाँ, नहिं निमित्त को दाव;**
एक चक्र सौं रथ चलै, रवि को यहै स्वभाव।

अर्थात् जहाँ देखो, वहाँ उपादान का ही बल है; (निमित्त होता है) परन्तु निमित्त का (कार्य करने में) कोई भी दाव (बल) नहीं है। एक चक्र से रवि (सूर्य) का रथ चलता है, वह उसका स्वभाव है। ***(बनारसी विलास)***

[उसी प्रकार प्रत्येक कार्य उपादान की योग्यता से (सामर्थ्य से) ही होता है।]

प्रश्न 28 –

हौं जानै था एक ही, उपादान सों काज,
थकै सहाई पौन बिन, पानी माँहि जहाज।

(बनारसी विलास)

अर्थात् अकेले उपादान से कार्य होता हो तो **पवन की सहायता के बिना** जहाज पानी में क्यों नहीं चलता?

उत्तर –

(1) **सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन;**
ज्यों जहाज परवाह में, तिरै सहज बिन पौन।

अर्थात् जहाँ प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्ररूप से अपनी अवस्था को (कार्य को) प्राप्त करती है, वहाँ निमित्त कौन है? जिस प्रकार जहाज प्रवाह में सहज ही बिना पवन के तरता है।

भावार्थ – जीव और पुद्गलद्रव्य, शुद्ध या अशुद्ध अवस्था में स्वतन्त्ररूप से ही अपने में परिणमन करते हैं। अज्ञानी जीव भी स्वतन्त्ररूप से निमित्ताधीन होकर परिणमन करता है; कोई निमित्त उसे आधीन नहीं कर सकता।

(1) **उपादान विधि निर्वचन, है निमित्त उपदेश;**
बसे जु जैसे देश में, करै सु तैसे भेष।

अर्थात् उपादान का कथन निर्वचन (अर्थात् एक 'योग्यता' द्वारा ही होता है) है; उपादान अपनी योग्यता से अनेक प्रकार से परिणमन करता है; तब उपस्थित निमित्त पर भिन्न-भिन्न कारणपने का आरोप (भेष) आता है; उपादान की विधि निर्वचन होने से निमित्त द्वारा यह कार्य हुआ – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

उपादान जब जैसा कार्य करता है, तब वैसे कारणपने का आरोप (भेष) निमित्त पर आता है; जैसे कि – कोई वज्रकायवान मनुष्य सातवें नरकगति के योग्य मलिनभाव धारण करता है, तो वज्रकाय पर नरक के कारणपने का आरोप आता है; और यदि जीव, मोक्ष के योग्य निर्मलभाव करता है तो उस वज्रकाय पर

मोक्षकारणपने का आरोप आता है। – इस प्रकार उपादान के कार्य के अनुसार निमित्त में कारणपने का भिन्न-भिन्न आरोप किया जाता है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि निमित्त से कार्य नहीं होता परन्तु कथन होता है; इसलिए उपादान सच्चा कारण है और निमित्त आरोपित कारण है।

वास्तव में तो निमित्त ऐसा प्रसिद्ध करता है कि नैमित्तिक स्वतन्त्र अपने कारण से परिणमन कर रहा है, तो उपस्थित दूसरी अनुकूल वस्तु को निमित्त कहा जाता है।

प्रश्न 29 – निमित्त के बिना कार्य होता है?

उत्तर – (1) निश्चय से तो निमित्त के बिना ही सर्वत्र स्वयं उपादान की योग्यता से ही कार्य होता है; उस काल उचित निमित्त होता है, यह व्यवहार कथन है।

नियम ऐसा है कि **निश्चय से उपादान के बिना कोई कार्य नहीं होता।** कार्य, वह पर्याय है और निश्चय से वह पर से (निमित्त से) निरपेक्ष होती है।[1]

(2) निमित्त, व्यवहारकारण है – ऐसा न माननेवाले को 'निमित्त के बिना कार्य नहीं होता' – ऐसा बतलाया जाता है, किन्तु व्यवहार के कथनों को निश्चय के कथन समझना, वह भूल है।

[समयसार गाथा 324, 327 तथा टीका का आशय]

(3) ऐसा नहीं है कि कभी कार्य के लिए निमित्त की प्रतीक्षा

---

1. *[देखो, (1) समयसार, गाथा 308 से 311 तथा उसकी संस्कृत टीका। (2) पञ्चास्तिकाय, गाथा 62 संस्कृत टीका। (3) बनारसीदासजी के उपादान-निमित्त दोहे; नम्बर 4, 5, 6। (4) प्रवचनसार, गाथा 100 की जयसेनाचार्य टीका तथा प्रवचनसार, गाथा 160 और उसकी अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका]*

करना पड़े, अथवा निमित्त मिलाना पड़े, अथवा निमित्त है, इसलिए उपादान में कार्य होता है।

(4) प्रति समय उपादान में निश्चित् कार्य होता है और उस काल में निमित्त भी निश्चित् होता ही है।

(5) प्रत्येक द्रव्य अनादि से अनन्त काल प्रति समय परिणमन करता ही है; वह परिणाम स्वयं कार्य है और प्रत्येक समय के कार्य के लिए उपादान और निमित्तकारण, अर्थात् उपादानरूप उत्पादक सामग्री और निमित्तरूप उत्पादक सामग्री होती ही है। किसी समय वह न हो – ऐसा होता ही नहीं। *(देखो प्रकरण पाँचवाँ, प्रश्न 363)*

प्रश्न 30 – पुद्गलकर्म की बलजबरी से जीव में राग-द्वेष के परिणाम होते हैं – यह ठीक है ?

उत्तर – (1) नहीं; श्री 'समयसार नाटक' में ऐसा प्रश्न करके उसका निम्नानुसार समाधान किया है –

कोऊ मूरख यों कहे, राग दोष परिनाम;
पुग्गल की जोरावरी, वरतै आतमराम।
ज्यों ज्यों पुग्गल बल करै, धरि धरि कर्मज भेष;
रागदोष कौ परिनमन, त्यों-त्यों होय विशेष।

अर्थात् कोई-कोई मूर्ख ऐसा कहते हैं कि आत्मा में राग-द्वेष के भाव, पुद्गल की बलजबरी से होते हैं। वे कहते हैं कि – पुद्गल, कर्मरूप परिणमन के उदय में जैसा-जैसा बल करता है, वैसी-वैसी बाहुल्यता से राग-द्वेष के परिणाम होते हैं।

इहि विधि जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोई;
सो नर राग विरोध सौं, कबहूँ भिन्न न होई।

सुगुरु कहैं जग में रहै, पुग्गल संग सदीव;
सहज सुद्ध परिनमनिकौ, अवसर लहै न जीव।
तातैं चिद्भावनि विषै, समरथ चेतन राउ,
राग-विरोध मिथ्यात में समकित में सिव भाउ।

(समयसार नाटक)

अर्थात् इस प्रकार कोई मनुष्य विपरीत पक्ष ग्रहण करके श्रद्धान करता है कि वह राग-विरोधरूप भावों से कभी भिन्न हो ही नहीं सकता।

सद्गुरु कहते हैं कि पुद्गल के संयोग से रागादि नहीं है। यदि हो तो जगत् में पुद्गल का सङ्ग सदैव है तो जीव को सहज शुद्धपरिणाम करने का अवसर ही नहीं मिलेगा; इसीलिए अपने (शुद्ध या अशुद्ध) चैतन्य परिणाम में चेतनराजा ही समर्थ है। राग-विरोधरूप परिणाम अपने मिथ्यात्वभाव में हैं और अपने सम्यक्त्व-परिणाम में शिव-भाव, अर्थात् ज्ञान-दर्शन-सुख आदि उत्पन्न होते हैं।

(2) अविद्या जड़ लघुशक्ति से तेरी महान् शक्ति का घात नहीं हो सकता परन्तु तेरी शुद्ध शक्ति भी बड़ी, तेरी अशुद्ध शक्ति भी बड़ी; तेरा (विपरीत) चिन्तवन तेरे गले पड़ा और उससे पर को देखकर आत्मा भूला; **यह अविद्या तेरी ही फैलाई हुई है; तू अविद्यारूप कर्म में न पड़कर स्व को न जोड़े तो जड़ का कुछ जोर नहीं है; इसलिए अपरम्पार शक्ति तेरी है...**

(श्री दीपचन्दजी कृत अनुभवप्रकाश)

प्रश्न 31 – संज्ञी पञ्चेन्द्रियपना, मनुष्यपना, कर्म का मन्द

उदय, सम्यग्ज्ञानी का उपदेश आदि निमित्तों के बिना वास्तव में मोक्षमार्ग प्रगट होता है ?

उत्तर – (1) हाँ, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव अपनेरूप से हैं और पररूप से नहीं हैं; इसलिए एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य की आवश्यकता होती ही नहीं। जहाँ निश्चयकारण / उपादानकारण होता है, वहाँ व्यवहारकारण / निमित्तकारण होता ही है।

(2) जीव निज शुद्ध ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की रुचि और उसमें लीनतारूप पुरुषार्थ न करे, तब तक किसी पदार्थ पर निमित्तपने का आरोप नहीं आता। जब जीव अपने में धर्म अवस्था प्रगट करे, तब उसके लिए उचित (अनुकूल) बाह्य पदार्थों पर निमित्तपने का आरोप आता है।

(3) निश्चयनय से तो निमित्त के बिना उपादान में स्व से ही कार्य होता है, किन्तु उस काल कैसे निमित्त होते हैं, उसका ज्ञान कराने के लिए 'निमित्त के बिना कार्य नहीं होता' – ऐसा व्यवहारनय का कथन होता है।

(4) जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है; उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' – ऐसा जानना चाहिए; तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे **ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है** – ऐसा जानना चाहिए... *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 251)*

(5) इस सम्बन्ध में श्री भगवतीदासजी ने 'ब्रह्मविलास' पृष्ठ 233 पर निमित्त-उपादान के संवादरूप में कहा है कि –

निमित्त – देव जिनेश्वर गुरु यति, अरु जिन आगमसार,
इहि निमित्ततैं जीव सब, पावत हैं भवपार।

उपादान – यह निमित्त इह जीव को, मिल्यो अनन्ती बार,
उपादान पलट्यो नहीं, तौ भटक्यो संसार।

निमित्त – कै केवली कै साधु कै, निकट भव्य जो होय,
सो क्षायिक सम्यक् लहै, यह निमित्त बल जोय।

उपादान – केवली अरु मुनिराज के, पास रहैं बहु लोय;
पै जाको सुलट्यो धनी, क्षायिक ताको होय।

– इससे समझ में आता है कि निमित्त तो जीव को पूर्व में अनन्त बार मिले हैं, किन्तु अपने क्षणिक उपादानकारण के बिना वह मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं कर सका और इसलिए संसार-वन में भटक रहा है।

प्रश्न 32 – निमित्त भले ही कुछ न करे, किन्तु निमित्त के बिना तो उपादान में कार्य नहीं होता?

उत्तर – (1) 'निमित्त बिना... कार्य नहीं होता' – यह व्यवहारनय का कथन है। उसका अर्थ यह है कि – 'ऐसा नहीं है,' किन्तु निमित्त का ज्ञान कराने के लिए वैसा कहा जाता है, क्योंकि प्रति समय के उत्पाद (कार्य) के समय उचित बहिरङ्ग साधनों की (निमित्तों की) सन्निधि अर्थात् उपस्थिति-निकटता होती ही है। उसका आधार यह है कि –

...जो उचित बहिरङ्ग साधनों की सन्निधि के सद्भाव में अनेक प्रकार की अनेक अवस्थाएँ करता है...

(प्रवचनसार, गाथा 95 की टीका)

(2) यहाँ आशय इतना ही है कि जहाँ कार्य हो, वहाँ उचित निमित्त होता ही है; न हो ऐसा नहीं होता।

(3) जगत् में प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय परिणमन हो ही रहा है और कार्य को अनुकूल निमित्त भी सदैव प्रति समय होता है; अत: फिर 'निमित्त के कारण कार्य हुआ', 'निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता' – इत्यादि तर्कों का अवकाश ही कहाँ रहा? कार्य की उत्पत्ति और उचित निमित्त की उपस्थिति के बीच सूक्ष्मदृष्टि से समयभेद है ही नहीं।

(4) निमित्त का अस्तित्व नैमित्तिक कार्य को प्रगट करता है, न कि उस कार्य की पराधीनता सूचित करता है।

(5) उपादान में कार्य हो, तभी उचित बहिरङ्ग साधन 'निमित्त' नाम प्राप्त करता है, इसके बिना वह निमित्त नहीं कहलाता।

(6) निमित्त, पर होने से वह उपादान में मिलकर या दूर रहकर उसे मदद, असर, सहायता, प्रभाव, प्रेरणा या आधार नहीं दे सकता क्योंकि उसका उपादान में अत्यन्त अभाव है।

(7) प्रति समय प्रत्येक द्रव्य त्रिस्वभावस्पर्शी, अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – इन तीन स्वभावयुक्त होता है और कार्य के उत्पाद के समय बहिरङ्ग साधनों, अर्थात् निमित्त की उपस्थिति होती ही है। *(प्रवचनसार, गाथा 102 की टीका)* इससे सिद्ध होता है कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य और बहिरङ्ग साधनों / निमित्त का समय एक ही होता है। ऐसा स्वाभाविक नियम ही है; इसलिए कार्य की उत्पत्ति के समय उचित निमित्त होता ही है; इसलिए निमित्त की उपस्थिति–अनुपस्थिति का या उसकी प्रतीक्षा करने का प्रश्न ही नहीं रहता।

(8) निमित्त के बिना उपादान बलहीन है और निमित्त की सहायता के बिना कार्य नहीं होता – ऐसे दो प्रश्न उपस्थित करके पण्डित बनारसीदासजी ने स्व-रचित दोहों द्वारा स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि यह मान्यता यथार्थ नहीं है।

◆ जहाँ उपादान / निश्चय होता है, वहाँ निमित्त / व्यवहार होता ही है।

◆ जहाँ उपादान / निजगुण हो, वहाँ निमित्त / पर होता ही है।

◆ जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही बल है, निमित्त का दाव कभी भी नहीं है।

◆ जहाँ प्रत्येक वस्तु असहाय, अर्थात् स्वतन्त्ररूप से सधती है / परिणमित होती है, वहाँ निमित्त कौन है ?*

प्रश्न 33 – निमित्त, उपादान को कुछ नहीं कर सकता, तो शरीर में सुई चुभ जाने से जीव को दु:ख क्यों होता है ?

उत्तर – (1) जीव सदैव अरूपी होने से उसे सुई का स्पर्श नहीं हो सकता। एक आकाश क्षेत्र में सुई का संयोग हुआ, वह दु:ख का कारण नहीं है, किन्तु अज्ञानी जीव को शरीर की अवस्था के साथ एकत्व-ममत्वबुद्धि होती है; इसलिए उसे जो दु:ख होता है, वह शरीर में सुई चुभने के कारण नहीं, किन्तु उस प्रसङ्ग पर प्रतिकूलता की मिथ्या कल्पना से होता है।

(2) ज्ञानी को निचलीदशा में जो अल्प राग है, वह शरीर के साथ एकत्वबुद्धि का राग नहीं है; अपनी क्षणिक निर्बलता के

---

* *यह दोहे जिज्ञासुओं को अवश्य समझने योग्य हैं, जो इस ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्टरूप से दिये गये हैं।*

कारण उसे जितना राग है, उतना दु:ख होता है। सुई के कारण ज्ञानी या अज्ञानी किसी को दु:ख नहीं होता। ज्ञानी, दु:खरूप विकार का ज्ञाता ही है, किन्तु उसका स्वामी नहीं है। अज्ञानी, पर के साथ एकत्वबुद्धि करके विकार का स्वामी बनकर दु:खी होता है।

3. ...सामग्री के आधीन सुख-दु:ख नहीं है, किन्तु साता -असाता का उदय होने पर मोह परिणामों के निमित्त से ही सुख -दु:ख मानते हैं।...

... मुनिराज, शारीरिक पीड़ा होने पर भी उसमें कोई दु:ख नहीं मानते, इसलिए सुख-दु:ख मानना मोह के आधीन है। मोहनीय और वेदनीय का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिए साता-असाता के उदय से सुख-दु:ख का होना भासित होता है।

...केवली भगवान के साता-असाता का उदय होने पर सुख-दु:ख के कारण सामग्री का भी संयोग है, परन्तु मोह के अभाव से उन्हें किञ्चित्मात्र भी सुख-दु:ख नहीं होता; इसलिए सुख-दु:ख को मोहजनित ही मानना। इसलिए तू सामग्री को (निमित्त को) दूर करने तथा स्थायी रखने के उपाय करके दु:ख मिटाना और सुखी होना चाहता है, किन्तु वे भी सभी उपाय झूठे हैं; तो फिर सच्चा उपाय क्या है? सम्यग्दर्शनादिक से भ्रम दूर हो जाए तो सामग्री से सुख-दु:ख भासित न होकर अपने परिणाम से ही सुख-दु:ख भासित हो... ***(मोक्षमार्गप्रकाशक गुजराती आवृत्ति, पृष्ठ 87)***

प्रश्न 34 – निमित्त प्राप्त करके उपादान परिणमित होता है – इस कथन का क्या अर्थ?

उत्तर – (1) जो गुणों को और पर्यायों को पाते – प्राप्त करते

– पहुँचते हैं... ऐसे 'अर्थ' वे द्रव्य हैं; जो द्रव्यों को आश्रयरूप से पाते–प्राप्त करते–पहुँचते हैं... ऐसे 'अर्थ' वे गुण है; जो द्रव्यों को क्रम–परिणाम से पाते–प्राप्त करते–पहुँचते है... ऐसे 'अर्थ' वे पर्यायें हैं। *(प्रवचनसार, गाथा 87 की टीका)*

(2) 'उपादान, निमित्त को पाकर परिणमित होता है' – यह कथन व्यवहारनय का है। यह मात्र निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है। उपादान कभी भी वास्तव में निमित्त को प्राप्त नहीं करता, इसलिए 'किसी स्थान पर व्यवहारनय को मुख्यतासहित व्याख्यान है उसे 'ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है' – ऐसा जानना चाहिए।'

(देहली से प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 369)

(3) ...उसी प्रकार जिसने पूर्व अवस्था प्राप्त की है – ऐसा द्रव्य भी – कि जो उचित बहिरङ्ग साधनों की सन्निधि के सद्भाव में अनेक प्रकार की अनेक अवस्थाएँ करता है, वह अन्तरङ्ग साधनभूत स्वरूप कर्ता के और स्वरूप करण के सामर्थ्यरूप स्वभाव द्वारा अनुगृहीत होने पर, उत्तर अवस्थारूप उत्पन्न होता हुआ उस उत्पाद द्वारा लक्षित होता है...

(श्री प्रवचनसार गाथा 95 की टीका)

इस प्रकार प्रति समय के उत्पाद (कार्य) के समय उचित बहिरङ्ग साधनों की (कर्मादि निमित्तों की) सन्निधि (उपस्थिति / निकटता) होती ही है – ऐसा यहाँ बतलाया है।

(4) ...ऐसा होने से, सर्व द्रव्यों को, निमित्तभूत अन्य द्रव्य अपने (अर्थात् सर्व द्रव्यों के) परिणाम के उत्पादक हैं ही नहीं; सर्व द्रव्य ही निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव का स्पर्श

न करते हुए, अपने स्वभाव से अपने परिणाम भावरूप उत्पन्न होते हैं। *(श्री समयसार गाथा 372 की टीका)*

(5) ...लोक में सर्वत्र जो भी जितने-जितने पदार्थ हैं, वे सब निश्चय से (निश्चित्) एकत्व निश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता प्राप्त करते हैं क्योंकि अन्य प्रकार से उनमें संकर, व्यतिकर आदि सर्व दोष आ पड़ेंगे। कैसे हैं वे सर्व पदार्थ ? अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहा हुआ अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बते हैं - स्पर्श करते हैं, फिर भी जो परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते... *(समयसार, गाथा 3 की टीका)*

प्रश्न 35 - सम्यग्दृष्टि जीवों का अभिप्राय नरक में जाने का नहीं होता, तथापि कोई सम्यग्दृष्टि नरक में जाता है तो वहाँ जड़कर्म का जोर है; और जड़कर्म जीव को नरक में ले जाता है, इसलिए जाना पड़ता है - यह बात यथार्थ है या नहीं ?

उत्तर - (1) यह बात यथार्थ नहीं है। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता; इसलिए जड़कर्म, जीव को नरक में ले जाता है - ऐसा नहीं होता।

(2) सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि कोई जीव नरक में नहीं जाना चाहते, तथापि जो-जो जीव नरकक्षेत्र में जाने योग्य हों, वे-वे जीव अपनी क्रियावतीशक्ति के परिणमन के कारण वहाँ जाते हैं। उस समय कार्मण और तैजस शरीर भी उनकी अपनी (पुद्गल परमाणुओं की) क्रियावतीशक्ति के परिणमन के कारण जीव के साथ उस क्षेत्र में जाते हैं।

(3) अभिप्राय तो श्रद्धागुण की पर्याय है तथा इच्छा, चारित्रगुण

की विकारी पर्याय है। द्रव्य का प्रत्येक गुण स्वतन्त्र और असहाय है; इसलिए जीव की इच्छा या अभिप्राय चाहे जिस प्रकार के होने पर भी, उसकी क्रियावतीशक्ति का परिणमन उनसे (अभिप्राय या इच्छा से) स्वतन्त्ररूप से उस समय की उस पर्याय के धर्मानुसार होता है...

(4) नरकगति के भव का बन्ध अपने पुरुषार्थ के दोष से हुआ था; इसलिए योग्य समय में उसके फलरूप से जीव की अपनी योग्यता के कारण नरक का क्षेत्र संयोगरूप से होता है; कर्म उसे नरक में नहीं ले जाता। कर्म के कारण जीव, नरक में जाता है – ऐसा कहना तो मात्र उपचार कथन है। जीव का कर्म के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाने के लिए शास्त्रों में वह कथन किया है परन्तु वास्तव में जड़कर्म, जीव को नरक में ले जाता है – ऐसा बतलाने के लिए नहीं किया।

(स्वाध्याय मन्दिर ट्रसट द्वारा प्रकाशित हिन्दी आवृति मोक्षशास्त्र, अध्याय 3, सूत्र 6 की टीका)

प्रश्न 36 – उपादान और निमित्त कारणों को अन्य किन नामों से कहा जाता है?

उत्तर – (1) उपादान को अन्तरङ्ग कारण और निमित्त को बहिरङ्ग कारण कहते हैं।

(2) उपादान को अनुपचार (निश्चय) और निमित्त को उपचार (व्यवहार) कारण कहा जाता है।

(3) निमित्तकारण को सहकारीकारण भी कहा जाता है।

प्रश्न 37 – निमित्त कारणों में कौन–कौन से भेद पड़ते हैं?

उत्तर – अनेक निमित्तकारणों में जो मुख्य हो, उसे अन्तरङ्ग (निमित्त) कारण कहा जाता है और गौण निमित्त हो, उसे बहिरङ्ग (निमित्त) कारण कहा जाता है। उसे दृष्टान्त –

(1) कर्म बन्धन के लिए आत्मा के योग को बहिरङ्ग (निमित्त) कारण और जीव के रागादिभाव को अन्तरङ्ग (निमित्त) कारण कहते हैं। *(पञ्चास्तिकाय, गाथा 148 की टीका)*

(2) ...और व्रत, दानादिक तो कषाय कम करने के **बाह्य निमित्त साधन** हैं और करणानुयोग का अभ्यास करने से वहाँ उपयोग लग जावे, तब रागादिक दूर होते हैं; इसलिए वह **अन्तरङ्ग निमित्त साधन है...** *(देहली से प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 427)*

(3) ...इस सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य सहकारीकारण वीतराग-सर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ, समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ, ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है। जो मुमुक्षु हैं, उनको भी **उपचार से** पदार्थ निर्णय के हेतुपने के कारण (सम्यक्त्व परिणाम का) **अन्तरङ्ग हेतु** कहा है, क्योंकि उनको दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं। *(नियमसार, गाथा 51 से 55 की टीका)*

(4) किसी पुरुष को बन्धन का **अन्तरङ्ग निमित्त** कर्म है, बन्धन का **बहिरङ्ग हेतु** किसी का काय व्यापार है; छेदन का भी **अन्तरङ्ग (निमित्त) कारण** कर्मोदय हैं; **बहिरङ्ग कारण** प्रमत्तजीव की काय क्रिया है; मरण का भी **अन्तरङ्ग (निमित्त) हेतु** आन्तरिक (निकट) सम्बन्ध का (आयुष्य का) क्षय है; **बहिरङ्ग कारण** किसी की कायविकृति है...

(नियमसार, गाथा 68 की टीका)

प्रश्न 38 – उत्पादनकारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – ''उत्पत्ति के कारण को उत्पादनकारण कहते हैं। **द्रव्यों की ध्रुवता तथा पूर्व पर्याय का व्यय, वह उत्पादनकारण है।** यदि ऐसा न माना जाये तो...'केवल सर्ग (उत्पाद) शोधनेवाले कुम्भ की (व्यय और ध्रौव्य से पृथक् मात्र उत्पाद करनेवाले घड़े की) उत्पादन कारण के अभाव के कारण, उत्पत्ति ही नहीं होगी; अथवा तो असत् का ही उत्पाद होगा। वहाँ (1) यदि कुम्भ की उत्पत्ति न हो तो सभी भावों की उत्पत्ति नहीं होगी, (अर्थात् जिस प्रकार कुम्भ की उत्पत्ति नहीं होगी, उसी प्रकार विश्व के किसी द्रव्य में किसी भी भाव का उत्पाद ही नहीं होगा – यह दोष आयेगा) अथवा (2) यदि असत् का उत्पाद हो तो व्योम पुष्प – (आकाश के फूल) आदि के भी उत्पाद होगा। (अर्थात् शून्य में से भी पदार्थ उत्पन्न होने लगेंगे – यह दोष आयेगा।)''

(प्रवचनसार, गाथा 100 की टीका)

प्रश्न 39– संहार (व्यय) कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – 'संहार (नाश, व्यय) के कारण को संहारकारण कहा जाता है। उत्पाद और ध्रौव्यरहित अकेले व्यय को माननेवाला संहार के कारण को नहीं मानता, **इसलिए व्यय (संहार) का कारण उत्पाद और ध्रौव्य है,** उसे न माना जाए तो – 'मात्र संहार आरम्भ करनेवाले मृत्तिका पिण्ड का (उत्पाद और ध्रौव्यरहित अकेला व्यय करनेवाले मृत्तिका पिण्ड का), **संहारकारण के अभाव के कारण** संहार ही नहीं होगा; अथवा तो सत् का ही उच्छेद हो जाएगा। वहाँ (1) यदि मृत्तिका पिण्ड का संहार न हो

तो सभी भावों का संहार ही नहीं होगा, (अर्थात् जिस प्रकार मृत्तिका पिण का व्यय नहीं होगा; उसी प्रकार विश्व के किसी भी द्रव्य में किसी भी भाव का व्यय ही नहीं होगा – यह दोष आयेगा); अथवा (2) यदि सत् का उच्छेद होगा तो चैतन्यादि का भी उच्छेद हो जाएगा, अर्थात् सर्व द्रव्यों का समूल नाश हो जाएगा – यह दोष आयेगा।' *(प्रवचनसार, गाथा 100 की टीका)*

[उत्पादनकारण और संहारकारण, ये उपादानकारण के भेद हैं।]

प्रश्न 40 – समर्थकारण किसे कहते हैं?

उत्तर – प्रतिबन्ध का अभाव तथा सहकारी समस्त सामग्रियों के सद्भाव को समर्थ कारण कहते हैं। समर्थकारण के होने से कार्य की उत्पत्ति नियम से होती है। उसके दृष्टान्त –

1. ... अब, यह आत्मा जिस कारण से (उपादानकारण से) कार्यसिद्ध अवश्य हो, **उस कारण उद्यम करे, वहाँ तो अन्य कारण (निमित्तकारण) अवश्य मिलेंगे ही और कार्य की सिद्धि भी अवश्य होगी ही...** इसलिए जो जीव श्री जिनेश्वर के उपदेशानुसार पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करता है, उसे तो काललब्धि और भवितव्य भी हो चुके, तथा कर्म के उपशमादि हुए हैं, तब तो वह ऐसा उपाय करता है; इसलिए जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करता है, उसे तो सर्व कारण मिलते हैं – ऐसा निश्चय करना और उसे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है...

(देहली से प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 456)

[नोट : यहाँ ऐसा बतलाया है कि जहाँ क्षणिक उपादान की

योग्यता हो, वहाँ निमित्तकारण होते ही हैं और उन दोनों को समग्ररूप से समर्थकारण कहते हैं।]

2. बनारसीविलास – उपादान–निमित्त–दोहा में कहा है कि –

''उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय;
भेदज्ञान प्रमाण विधि, विरला बूझे कोय''

अर्थात् जहाँ, निज शक्तिरूप उपादान तैयार हो, वहाँ परनिमित्त होता ही है; ऐसी भेदज्ञान प्रमाण की विधि (व्यवस्था है); यह सिद्धान्त कोई विरले ही समझते हैं।

[यहाँ उपादान–निमित्त दोनों को ही समग्ररूप से समर्थकारण कहा है।]

3. ...कोई कारण ऐसे हैं कि जिनके होने से कार्य अवश्य सिद्ध होगा ही तथा जिनके न होने से कार्य सर्वथा सिद्ध नहीं होगा; जैसे कि सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता होने से तो मोक्ष होता है और वैसा हुए बिना सर्वथा मोक्ष नहीं होता।

(देहली से प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 462)

[यहाँ क्षणिक उपादान को समर्थकारण कहा है, किन्तु वहाँ उचित कर्म का अभाव निमित्त कारण होता है – ऐसा समझना।]

प्रश्न 41 – असमर्थकारण किसे कहते है?

उत्तर – भिन्न–भिन्न प्रत्येक सामग्री को असमर्थकारण कहते हैं। असमर्थकारण, कार्य का नियामक नहीं है।

(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)

उसके दृष्टान्त इस प्रकार हैं –

(1) ...सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र में से एक

भी न हो तो वहाँ मोक्षमार्ग हो ही नहीं सकता...

(2) जिसे ऊपर कहे अनुसार भेदज्ञान है, वही उसके (भेदविज्ञान के) सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ इस प्रकार जानता है कि जिस प्रकार प्रचण्ड अग्नि द्वारा तप्त होने पर भी सुवर्ण सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता; **उसी प्रकार प्रचण्ड कर्मोदय द्वारा घिरा होने पर भी, (अर्थात् विघ्न किये जाने पर भी) ज्ञान ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता क्योंकि हजारों कारण एकत्रित होने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है,** क्योंकि उसे छोड़ने से स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जाएगा और वस्तु का उच्छेद तो होता नहीं है, क्योंकि सत् के नाश का असम्भव है। ऐसा जानता हुआ **ज्ञानी, कर्म से आक्रान्त (घिरा हुआ, आक्रमित हुआ) होने पर भी रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता, मोही नहीं होता, परन्तु शुद्ध आत्मा का ही अनुभवन करता है...**

(समयसार, गाथा 184-185 की टीका)

[यहाँ बाह्य हजार कारणों को तथा प्रचण्ड कर्मोदय को असमर्थ कारण कहा है।]

(3) अब, कारण तो अनेक प्रकार के होते हैं। कोई कारण तो ऐसे होते हैं कि जिनके हुए बिना कार्य न हो और जिनके होने से कार्य हो अथवा न भी हो; जैसे कि मुनिलिङ्ग धारण किये बिना तो मोक्ष नहीं होता, **परन्तु मुनिलिङ्ग धारण करने से मोक्ष हो अथवा न भी हो...** ***(मोक्षमार्गप्रकशक, पृष्ठ 462, दिल्ली प्रकाशन)***

◆ भावलिङ्गरहित बाह्य मुनिलिङ्ग, अर्थात् अट्ठाईस मूलगुण का पालन, नग्न दिगम्बरदशा को यहाँ असमर्थकारण कहा है।

◆ जहाँ क्षणिक उपादानकारण हो, वहाँ निमित्तकारण होता ही है। उन दोनों को समग्ररूप से समर्थकारण कहते हैं। अकेला क्षणिक उपादानकारण कभी होता ही नहीं; इसलिए भावलिङ्ग मुनिपना हो, वहाँ बाह्य मुनिलिङ्ग नियम से होता है – ऐसा समझना।

◆ **क्रोधोत्पत्ते पुनः बहिरङ्ग यदि भवेत् साक्षात्।**
न करोति किंचिदपि क्रोधं तस्य क्षमा भवति धर्म इति।

अर्थात् क्रोध उत्पन्न होने के **साक्षात् बाह्य कारण मिलने पर भी** जो अल्प भी क्रोध नहीं करता, उसके उत्तम क्षमाधर्म होता है। *(श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा - 71)*

[यहाँ बाह्य कारण अर्थात् निमित्तकारण अकेला है; इसलिए उसे असमर्थकारण कहा है।]

प्रश्न 42 – साधकतमकारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – क्षणिक उपादान की योग्यता को साधकतम कारण कहते हैं – *(विशेष के लिए देखिये, श्री प्रवचनसार गाथा 126 की टीका)* जीव संसारदशा में या धर्मदशा में अकेला ही स्वयं अपना कारण है, क्योंकि वह अकेला ही करण (कारण) था।

यहाँ अपने करण–साधन को साधकतम (उत्कृष्ट साधन) कहा है।

प्रश्न 43 – सहकारीकारण का क्या अर्थ है ? वह दृष्टान्त देकर समझाइये ?

उत्तर – स्वयमेव ही गमनादि कियारूप वर्तते हुए जो जीव–पुद्गल, उन्हें धर्मास्तिकाय सहकारीकारण है। **उसमें उनका**

कारणपना इतना ही है कि जहाँ धर्मादिक द्रव्य हों, वहीं जीव-पुद्गल गमनादि क्रियारूप वर्तते हैं।

(गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 567 बड़ी टीका)

प्रश्न 44 – अन्वयरूप कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि को साधकदशा में चारित्रगुण के परिणमन में मिश्रदशा होती है, उसमें शुद्धदशा, वह उपादानकारण है और उसके साथ अविनाभावरूप से रहनेवाला शुभभाव, निमित्त होने से उसे अन्वयकारण कहा जाता है।

दृष्टान्त – ...महाव्रत धारण किये बिना सकलचारित्र कभी नहीं होता, इसलिए उन व्रतों को (महाव्रतों को) **अन्वयरूप कारण जानकर,** कारण में कार्य का उपचार करके उसे चारित्र कहा है। जैसे अरिहन्तदेवादिक का श्रद्धान होने से तो सम्यक्त्व हो अथवा न भी हो, परन्तु अरिहन्तदेवादिक का श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व कभी भी नहीं होता; इसलिए अरिहन्तादिक के श्रद्धान को **अन्वयरूप कारण** जानकर कारण में कार्य का उपचार करके उस श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है...

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 481, दिल्ली प्रकाशन)

प्रश्न 45 – सहकारीकारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – निमित्तकारण को सहकारीकारण भी कहते हैं।

दृष्टान्त – अघातिकर्मों के उदय के निमित्त से शरीरादिक का संयोग आकुलता का **बाह्य सहकारीकारण** है। अन्तरङ्ग मोह के उदय से रागादिक हो और बाह्य अघातिकर्मों के उदय से रागादिक के कारणरूप शरीरादिक का संयोग हो, तब आकुलता उत्पन्न

होती है। मोह के उदय का नाश होने पर भी अघातिकर्मों का उदय रहता है, किन्तु वह कुछ भी आकुलता उत्पन्न नहीं कर सकता परन्तु पूर्व काल में आकुलता को **सहकारीकारण** था, इसलिए अघातिकर्मों का नाश भी आत्मा को इष्ट ही है...

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 452, दिल्ली प्रकाशन)

[यहाँ द्रव्य मोहकर्म के उदय को अन्तरङ्ग और शरीरादि को बाह्य सहकारीकारण कहा है। आकुलता में वे दोनों निमित्त –कारण हैं।]

प्रश्न 46 – जीव का दूसरे द्रव्य उपकार करते हैं – ऐसा कथन तत्त्वार्थसूत्र में आता है, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर – श्री परमात्मप्रकाश अध्याय 2, गाथा 26–27 में इस अर्थ से कहा है कि परद्रव्य जीव का उपकार करते हैं, वह व्यवहार कथन है, अर्थात् वास्तव में उपकार नहीं करते, किन्तु स्वसंवेदन लक्षण से विरुद्ध विभावपरिणति में रत हुए जीव को वे ही निश्चय से दुःख के कारण (निमित्तकारण) हैं।

उस गाथा के शीर्षक निम्नानुसार है–

1. अब, जीव का **व्यवहारनय द्वारा अन्य पाँचों द्रव्य उपकार करते हैं – ऐसा कहते हैं** तथा वे जीव को **निश्चय से दुःख के कारण हैं – ऐसा कहते हैं।**

2. अब, **परद्रव्य का सम्बन्ध निश्चयनय से दुःख का कारण है – ऐसा जानकर,** हे जीव! शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप मोक्षमार्ग में स्थित हो – ऐसा कहते हैं।*

**[यह गाथाएँ और उनकी टीका मुमुक्षुओं को अवश्य पढ़ने योग्य हैं।]*

प्रश्न 47 – कार्य, उपादानकारण सदृश (जैसा) होता है, या निमित्तकारण सदृश होता है अथवा दोनों जैसा होता है ?

उत्तर – (1) **उपादानकारण सदृश कार्य भवति** – अर्थात् उपादानकारण जैसा कार्य होता है।

आधार - हिन्दी समयसार श्री जयसेनाचार्यकृत टीका, पृष्ठ - 191, 196, 264, 304, 476 तथा परमात्मप्रकाश, अध्याय 2, गाथा 21 की टीका, पृष्ठ 151

(2) उपादानकारण जैसा कार्य होता है, इसलिए निमित्तकारण जैसा अथवा दोनों जैसा कोई कार्य नहीं होता। सदृश = समान, जैसा, समरूप, एक-सा।

[भगवत् गोमण्डल कोष (गुजराती) पृष्ठ 84-88]

प्रश्न 48 – निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जीव और द्रव्यकर्म के बीच ही होता है या उपादानकारण और निमित्तकारणरूप सम्बन्ध भी उनमें होता है ?

उत्तर – (1) दोनों प्रकार का सम्बन्ध होता है। मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही होता है, ऐसा नहीं है।

(2) रागादि विकाररूप परिणमन, वह जीव का स्वतन्त्र नैमित्तिक कार्य है और द्रव्यकर्म का उदय, वह पुद्गल का स्वतन्त्र कार्य है तथा जीव के विकार का वह निमित्तमात्र है।

(3) जीव के रागादि अज्ञानभाव, वह अशुद्ध उपादानकारण है – निश्चयकारण है और द्रव्यकर्म का उदय, वह निमित्तकारण है – व्यवहार कारण है। *(समयसार (हिन्दी), गाथा 164-65)*

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका में कहा है कि –

निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां मोहसहित कर्मोदयो

व्यवहारेण निमित्त भवति। निश्चयेन पुनः अशुद्धोपादान-कारणं स्वकीय रागादि अज्ञानभाव एव। 164-165।

(4) जीव का रागादि विकाररूप परिणमन निश्चय से (वास्तव में) निरपेक्ष है। ***(पञ्चास्तिकाय, गाथा 62 की टीका के आधार पर)***

(5) तत्त्वदृष्टि से आत्मा ज्ञाता है और कर्म ज्ञेय है, इसलिए उनके बीच ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध है परन्तु जो ऐसे ज्ञाता-ज्ञेय के सम्बन्ध को चूकते हैं, वे ही जीव, रागादि विकाररूप परिणमन करते हैं और उन्हें द्रव्यकर्म का उदय निमित्तमात्र कारण, अर्थात् व्यवहारकारण कहा जाता है।

– इससे ऐसा समझना कि निमित्त (परवस्तु) जीव को पराधीन करता है, बिगाड़ता है अथवा सुधारता है – ऐसी परतन्त्रता माननेरूप मिथ्यादृष्टिपना छोड़कर स्वाश्रयी सच्ची दृष्टि करना योग्य है।

प्रश्न 49 – साक्षात् और परम्पराकारण किसे कहते हैं?

उत्तर – उपादानकारण को साक्षात् कारण और निमित्त को परम्पराकारण कहा जाता है। उसके दृष्टान्त –

(1) ...यह चारों लक्षण (1. देव, गुरु, धर्म का श्रद्धान; 2. तत्त्वश्रद्धान; 3. स्व-पर का श्रद्धान; और 4. आत्मश्रद्धान) मिथ्यादृष्टि को आभासमात्र होते हैं तथा सम्यग्दृष्टि को सच्चे होते हैं। वहाँ आभासमात्र हैं, **वे नियमरहितरूप से** सम्यक्त्व के परम्परा कारण हैं तथा सच्चे हैं, **वे नियमरूप** (सम्यक्त्व के) **सक्षात् कारण हैं।** ***(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 491, दिल्ली प्रकाशन)***

(2) मिथ्यादृष्टि के राग के अंश से अनेक दोषों की परम्परा

होती है। मिथ्यादृष्टि का शुभाराग **सर्व अनर्थों की परम्परा का कारण है।**

(पञ्चास्तिकाय, गाथा 148 की जयसेनाचार्य कृत टीका के आधार से)

(3) पारम्पर्येण तु आस्रवक्रियया नास्ति निर्वाणम्।
संसारगमनकारणमिति निन्द्यं आस्रवं जानीति॥ 52॥

अर्थात् कर्म का आस्रव करनेवाली क्रिया द्वारा परम्परा से भी निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता; इसलिए संसार में भटकाने के कारणरूप आस्रव को निन्द्य जानो।

(श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा 59)

(4) मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय-केवलज्ञान अभेदरूप साक्षात् मोक्ष कारण है।

(समयसार (हिन्दी), गाथा 215, श्री जयसेनाचार्य कृत)

तीर्थङ्करप्रकृति आदि परम्परा निर्वाण का कारण है।

(समयसार (हिन्दी), गाथा 121-125, श्री जयसेनाचार्य कृत)

(5) ...विपरीत अभिनिवेशरहित श्रद्धानरूप ऐसा जो सिद्धि के **परम्परा हेतुभूत** भगवन्त पञ्च परमेष्ठी के प्रति चलता-मलिनता-अगाढ़तारहित उत्पन्न हुआ निश्चल भक्तियुक्तपना, वही सम्यक्त्व है... *(नियमसार, गाथा 51-55 की टीका)*

प्रश्न 50 - सम्यग्दृष्टि का शुभभाव परम्परा से धर्म का कारण है - ऐसा शास्त्र में कुछ स्थानों पर कहा जाता है, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकते, तब राग-द्वेष तोड़ने का पुरुषार्थ करते हैं, परन्तु पुरुषार्थ निर्बल होने से अशुभभाव दूर होता है और शुभ रह जाता है। उस

शुभभाव को वे धर्म या धर्म का कारण नहीं मानते, परन्तु उसे आस्रव जानकर दूर करना चाहते हैं; इसलिए जब वह शुभभाव दूर हो जाता है, उस समय जो शुभभाव टला, उसे शुद्धभाव (धर्म) का **परम्परा कारण** कहा जाता है; साक्षात्‌रूप से वह भाव शुभास्रव होने से बन्ध का कारण है, और जो बन्ध का कारण हो, वह संवर का कारण नहीं हो सकता।' *(स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित (हिन्दी आवृत्ति) मोक्षशास्त्र, अध्याय 7, की भूमिका)*

[अपनी प्रज्ञा के अपराध से शास्त्र के अर्थ को तथा आगे-पीछे की गाथाओं की सन्धि को न समझानेवाले, जीव की अवस्था में रागादि होने के सम्बन्ध में स्फटिक के दृष्टान्त द्वारा प्ररूपणा करते हैं, तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण -]

प्रश्न 51 - श्री सयमसार, बन्ध अधिकार, गाथा 278-79 में स्फटिक, स्वभाव से शुद्ध होने पर भी, लाल आदि रङ्गों के संयोग से लालादिरूप किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा स्वभाव से शुद्ध होने पर भी, अन्य द्रव्यों द्वारा रागी आदि किया जाता है - ऐसा कहा है, इससे ऐसा माना जाए कि 'जैसा कर्म का उदय हो, तदनुसार ही-तद्रुप ही-जीव को विकार करना पड़ता है - ऐसा वस्तु का स्वभाव है' - तो यह मान्यता ठीक हैं?

उत्तर - 1. नहीं; (यह मान्यता झूठी है)। इस विषय का स्पष्टीकरण श्री समयसार नाटक बन्धद्वार में निम्नानुसार किया है कि -

''जैसे नाना वरन पुरी बनाई दीजै हेठ,
उज्ज्वल विमल मनि सूरज-करांति है;

उज्जलता भासै जब वस्तु को विचार कीजै,
पुरी की झलक सौं वरन भाँति-भाँति है।
तेसें जीव दरव कौं पुग्गल निमित्तरूप,
ताकी ममता सो मोह-मदिरा की भाँति है;
भेदग्यान दृष्टिसौं सुभाव साधि लीजै तहाँ,
साँची सुद्ध चेतना अवाची सुख सांति है॥ 34॥

अर्थात् जिस प्रकार स्वच्छ और श्वेत सूर्यकान्त अथवा स्फटिक मणि के नीचे अनेक प्रकार के रङ्गीन डांक रखे जाएँ तो वे अनेक प्रकार के रङ्ग-बिरङ्गे दिखने लगते हैं, और यदि वस्तु के मूल स्वरूप का विचार किया जाए तो उज्ज्वलता ही दिखाई देती है। उसी प्रकार जीवद्रव्य को पुद्गल तो मात्र निमित्तरूप है, (किन्तु) उसकी ममता के कारण से मोह-मदिरा की उन्मत्तता होती है तथापि भेदविज्ञान द्वारा स्वभाव का विचार किया जाए तो सत्य और शुद्ध चैतन्य की वचनातीत सुख शान्ति प्रतीत होती है॥ 34॥

(2) ऊपर की गाथा, टीका और उसके कलश के अनुसंधान में समयसार गाथा 280 में इस विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। वहाँ बतलाया है कि - वस्तु-स्वभाव को जाननेवाले ज्ञानी (आत्मा) अपने शुद्धस्वभाव से ही च्युत नहीं होते, वे कर्म का उदय होने पर भी राग-द्वेष-मोहभाव के कर्ता नहीं होते; और गाथा 281 में कहा है कि वस्तु-स्वभाव को न जाननेवाले ऐसे अज्ञानी जीव, कर्म के साथ एकत्वबुद्धि करते हैं और भेदज्ञान नहीं करते; इसलिए वे कर्म के उदय में युक्त होकर राग-द्वेष-मोहादि भाव के कर्ता होते हैं।

(3) समयसार, बन्ध अधिकार की गाथाओं में ऐसा समझाया है कि आत्मा का ध्रुवस्वभाव अबन्ध है, उसका जो आश्रय नहीं करते, उन्हीं को भाव तथा द्रव्यबन्ध होता है और जो ध्रुवस्वभाव का आश्रय करते हैं, उन्हें भाव तथा द्रव्यबन्ध नहीं होता। [सम्यग्दृष्टि को अपनी निर्बलता के कारण अल्प बन्ध होता है, उसे गौण माना है।]

(4) समयसार, गाथा 312 से 315 में भी तदनुसार बतलाया है। गाथा 314 में तो कहा है कि जहाँ तक आत्मा, प्रकृति के निमित्त से उत्पन्न होना – नष्ट होना नहीं छोड़ता, वहाँ तक वह अज्ञायक है, मिथ्यादृष्टि है, असंयत है।

(5) प्रवचनसार, ज्ञेय अधिकार, गाथा 186 में अशुद्ध – परिणाम, आत्मद्रव्य से (द्रव्यजातस्य) स्व-द्रव्य से उत्पन्न होते हैं – ऐसा कहा है, अर्थात् रागादि विकार, जीव के अपने अशुद्ध उपादान के कारण होते हैं; द्रव्यकर्म तो निमित्तमात्र हैं। इसलिए कर्म का उदय जीव को विकार कराने के लिए निमित्त होकर आता है – ऐसा भी नहीं है, किन्तु संसारदशा में आत्मा, परद्रव्य परिणाम को (पुद्गलकर्मपरिणाम को) निमित्तमात्र करता है, (निमित्त बनाता है) – ऐसे केवल स्वपरिणाममात्र के (वे स्वपरिणाम स्वद्रव्यपनेरूप होने से) कर्तृत्व का अनुभव करता है।

भावार्थ – अभी संसारदशा में जीव, पौद्गलिक कर्मपरिणाम को निमित्तमात्र करके अपने अशुद्धपरिणाम का ही कर्ता होता है।

(प्रवचनसार, गाथा 186)

प्रश्न 52 – बलाधान का क्या अर्थ है ? तथा बलाधान कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – (1) बलाधान का व्युत्पत्ति अर्थ :– बल + आधान = बल का धारण – ऐसा होता है।

(2) उपादानकारण अपना कार्य करने का बल स्वयं अपने से धारण करे, उस समय जो निमित्त हो, उसे बलाधानकारण कहा जाता है। निमित्त वास्तव में उपादान को किञ्चित् बल नहीं दे सकता – ऐसा बतलाने के लिए बलाधान मात्र निमित्त को कहा जाता है। जिसके दृष्टान्त –

(1) ...वह इन्द्रियज्ञानवाला जीव स्वयं अमूर्त होने पर भी मूर्त ऐसे पञ्चेन्द्रियात्मक शरीर को प्राप्त होता हुआ, **ज्ञप्ति उत्पन्न होने में बल धारण का निमित्त होता है,** इसलिए जो उपलंभक (बतलानेवाला, जानने में निमित्तभूत) है, ऐसे उस मूर्त (शरीर) द्वारा मूर्त ऐसी स्पर्शादिप्रधान वस्तु को – कि जो योग्य हो उसका, अवग्रहण करके, कदाचित् उसके ऊपर-ऊपर की (अवग्रह से आगे-आगे की) शुद्धि के सद्भाव के कारण उसे जानता है...

(प्रवचनसार, गाथा 55 की टीका)

(2) तत्त्वार्थसार अध्याय 2, सूत्र 39 में कहा है कि –

क्रियाहेतुत्वमेतेषां निष्क्रियाणां न हीयते।
यतः खलु बलाधानमात्रमत्र विविक्षितम्॥ 39॥

अर्थात् धर्मास्तिकाय निष्क्रिय होने पर भी उसका क्रियाहेतुपना नाश को प्राप्त नहीं होता, जिससे उसे वास्तव में **बलाधान मात्र** कहा जाता है।

(3) जिस प्रकार उपकार और आलम्बन – इन शब्दों का अर्थ निमित्त होता है; उसी प्रकार **बलाधान का भी वैसा ही अर्थ**

होता है। राजवार्तिक अध्याय 5, सूत्र 16-17 के नीचे कारिका 16 में कहा है कि -

तयोःकर्तृत्वप्रसङ्ग इति चेन्नोपकारवचनाद् यष्ट्योदिवत्॥

उपरोक्त कारिका की संस्कृत टीका का अर्थ -

गति-स्थिति का धर्म और अधर्म कर्ता है - ऐसा अर्थ का प्रसङ्ग आता है, तो वैसा नहीं है। क्या कारण? उपकार-वचन के कारण। उपकार, बलाधान, अवलम्बनादि पर्यायवाची शब्द है। जिससे धर्म-अधर्म के, गति-स्थिति होने में, प्रधान कर्तृत्वपने का अस्वीकार हुआ है। जैसे - अपनी जाँघ के बल से जाते हुए अन्ध (मनुष्य) को अथवा अन्य किसी को लकड़ी आदि उपकारक होते हैं, न कि प्रेरक (होते हैं) उसी प्रकार अपनी शक्ति से स्वयमेव चलने-स्थिर रहनेवाले जीव-पुद्गलों को धर्म-अधर्म उपकारक हैं, न कि प्रेरक हैं।

प्रश्न 53 - मुख्य तथा उपचार कारणों का क्या अर्थ है?

उत्तर - उपादान, वह मुख्य कारण है और निमित्त, वह उपचार कारण है।

मुख्य का अर्थ निश्चय और उपचार का अर्थ व्यवहार होता है। ***(देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (कलकत्ता से प्रकाशित) गाथा 222 की हिन्दी टीका पृ. 122 और छहढाला - ढाल 6 का 14 वाँ छन्द।)***

प्रश्न 54 - निमित्त-उपादान के इन प्रश्नों में क्या सिद्धान्त निहित है?

उत्तर - 1. (1) कोई अकेले ध्रुव उपादानकारण को माने, किन्तु क्षणिक उपादान तथा निमित्तकारणों का न मानें, (2) कोई

ध्रुव उपादानकारण को तथा निमित्तकारण को माने, किन्तु क्षणिक उपादानकारण को न माने, (3) कोई क्षणिक उपादानकारण को माने, किन्तु ध्रुव उपादान तथा निमित्तकारणों को न माने, (4) कोई निमित्तकारण को ही माने, किन्तु ध्रुव और क्षणिक उपादानकारणों को न माने – उसकी यह चारों प्रकार की मान्यताएँ मिथ्या हैं।

2. उपादान का कार्य उपादान से ही होता है। निमित्तकारण, कार्य–काल में होता है, किन्तु उस निमित्तकारण की प्रतीक्षा करनी पड़ती है या उसे मिलाना पड़ता है – ऐसा कोई मानता है तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है।

3. निमित्त पर है, इसलिए उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता; तथापि कोई बाह्य सामग्रीरूप निमित्तकारण ढूँढ़ने के निरर्थक कार्य में रुके, तो उसे आकुलता हुए बिना नहीं रहेगी।

4. निमित्त के साथ का सम्बन्ध एक समय पर्यन्त होता है – ऐसा सूक्ष्मदृष्टिवान जानता है। छद्मस्थ का ज्ञानोपयोग असंख्यात समय का है, इसलिए निमित्त मिलाने की शोध व्यर्थ है।

5. निमित्त अपना उपादान है और स्व उपादानरूप से अपना कार्य अपने में करता है। यदि वह पर उपादान का कार्य अंशतः भी करे, अर्थात् पर उपादान को वास्तव में असर करे, उसे आधार दे, उस पर प्रभाव डाले, उसे लाभ–हानि करे, मदद करे, शक्ति दे – आदि; तो निमित्त ने दो कार्य किये – एक अपना और दूसरा पर–उपादान का – ऐसा सिद्ध होगा; और ऐसा माननेवाला द्विक्रियावादी होने से, वह अरिहन्त के मत का नहीं है।

6. गतिमानादि निमित्तों को (असद्भूत व्यवहारनय से)

निमित्तकर्ता–हेतुकर्ता कहा जाता है। अन्य निमित्तों से उनका प्रकार भिन्न बतलाने के लिए ऐसा कहा जाता है, किन्तु ऐसा ज्ञान कराने के लिए नहीं कि वे निमित्त, उपादान का कुछ भी कार्य करते हैं। 'सर्व प्रकार के निमित्त, उपादान के प्रति धर्मास्तिकायवत् उदासीन कारण हैं।' *(इष्टोपदेश, गाथा 35)*

7. जब जीव–पुद्गल गति करें, तब धर्मास्तिकाय की उपस्थिति न हो – ऐसा नहीं हो सकता; उसी प्रकार जब क्षणिक उपादान कार्य के लिए तैयार हो, तब अनुकूल निमित्त उपस्थिति न हो – ऐसा नहीं होता।

8. निमित्तकारण, उपादानकारण के प्रति निश्चय से (वास्तव में) **अकिञ्चित्कर** (कुछ न करनेवाला) है, इसलिए उसे **निमित्तमात्र, बलाधानमात्र, सहायमात्र, अहेतुवत्** – ऐसे शब्दों द्वारा सम्बोधित किया जाता है।

9. निमित्त ऐसा घोषित करता है कि उपादान का कोई कार्य मैंने नहीं किया; मुझमें उसका कार्य करने की शक्ति नहीं है, किन्तु वह कार्य उपादान अकेले ने किया है।

10. निमित्त, व्यवहार और परद्रव्य है अवश्य, किन्तु वे आश्रय करने योग्य नहीं है, इसलिए हेय हैं।

[देखो, श्री समयसार गाथा 116 से 120 की टीका - श्री जयसेनाचार्यकृत, द्रव्यसंग्रह गाथा 23 की टीका तथा सिद्धचक्र विधान पूजा छठवीं की जयमाला। (कवीश्वर सन्तलाल कृत) जय परनिमित्त व्यवहार त्याग...]

11. जितने कार्य हैं, उतने निमित्तों के स्वभाव के भेद हैं, किन्तु एक भी स्वभाव भेद ऐसा नहीं है कि जो पर का / उपादान का कोई कार्य वास्तव में करें।

12. किसी समय उपादानकारण, निमित्त में अतिशय रख देता है और कभी निमित्तकारण, उपादान में बलात्कार से नाना चमत्कार घुसा देता है – ऐसी मान्यता झूठी है। वह दो द्रव्यों की एकत्वबुद्धि बतलाती है। निमित्तकारण के लिए पाँचवी विभक्ति का उपयोग किया जाता है, इसलिए वह आरोपित कारण मिटकर निश्चय कारण नहीं हो जाता। निमित्तकारण होने के लिए परिश्रम, तीव्र यातना या घोर तपस्या करनी पड़ती है – यह मान्यता झूठी है।

13. कार्य की उत्पत्ति के समय उपादान और निमित्त दोनों अविकल कारण होते हैं; ऐसी वस्तु स्वभाव की स्थिति है।

14. पृथ्वी, जल, तेज और वायु – इन निमित्तों से चैतन्य उत्पन्न होता है – ऐसा माननेवाले को श्री आचार्य कहते हैं कि **उपादान बिना कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता।**

15. छहों द्रव्यों में अनादि-अनन्त प्रत्येक समय कार्य होता ही रहता है; किसी भी समय कोई भी द्रव्य कार्यरहित नहीं होता; उस प्रत्येक कार्य के समय उपादानकारण और निमित्तकारण – दोनों सुनिश्चित् रूप से होते ही हैं – न हों, ऐसा कभी नहीं होता।

16. उपादानकारण हो और चाहे जैसा निमित्तकारण हो – ऐसा माने, वह भी मिथ्यामति है क्योंकि उपादान के अनुकूल ही उचित निमित्तकारण होता है।

निमित्तकारण आये, तभी उपादान में कार्य होता है – ऐसी मान्यता भी झूठी है क्योंकि प्रत्येक क्षणिक उपादानकारण के समय निमित्तकारण होता ही है।

17. उपादान-निमित्त दोनों एकसाथ अपने-अपने कारण से होते हैं।

18. वास्तव में निश्चयकारण (उपादानकारण) ही सच्चा कारण है, परन्तु उसका कथन दो प्रकार से है। यह निम्नोक्त - 'मोक्षमार्ग सम्बन्धी सिद्धान्त' - भी इस कथन को समान रीति से लागू होता है —

'मोक्षमार्ग कहीं दो तो नहीं हैं, किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से होता है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण किया है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो नहीं है परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है अथवा सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहें, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है; अर्थात् सच्चा निरूपण, वह निश्चय तथा उपचार निरूपण, वह व्यवहार; इसलिए निरूपण की अपेक्षा दो प्रकार से मोक्षमार्ग जानना; किन्तु एक निश्चय मोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहार मोक्षमार्ग - इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है और उन निश्चय-व्यवहार दोनों का उपदेय मानता है वह भी भ्रम है, क्योंकि निश्चय - व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोधता सहित है...

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 248-249)

प्रश्न 55 - उपादान-निमित्त सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में कहे अनुसार पर निमित्त और व्यवहार हेय हैं तो ध्रुव उपादान के ही आश्रय से धर्म होता है - ऐसा बतलानेवाले कुछ शास्त्राधार दीजिये?

उत्तर - 1. श्री समयसार गाथा - 11

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥ 11॥

अर्थात् व्यवहारनय अभूतार्थ है और **शुद्धनय भूतार्थ है** – ऐसा ऋषीश्वरों ने दर्शाया है। **जो जीव, भूतार्थ का आश्रय करता है, वह** जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

2. श्री समयसार कलश 6, में कहा है कि –

इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न देखना (श्रद्धा करना) ही नियम से सम्यग्दर्शन है। कैसा है आत्मा? अपने गुण–पर्यायों में व्याप्त होनेवाला है। पुनश्च कैसा है? **शुद्धनय से एकत्व में** निश्चित किया गया है। पुनश्च कैसा है? **पूर्ण ज्ञानधन है।** पुनश्च, **जितना सम्यग्दर्शन है, उतना ही आत्मा है।** इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हैं कि **नव तत्त्वों की परिपाटी छोड़कर, यह एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो।**

3. श्री समयसार कलश 7 में कहा है कि –

तत्पश्चात् **शुद्ध नयाधीन** जो भिन्न आत्मज्योति है, वह प्रगट होती है, कि जो नव तत्त्वों में प्राप्त होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।

4. श्री समयसार गाथा 13–14–15 में कहा है कि –

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ 13॥

अर्थात् भूतार्थनय से जाने हुए जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – यह नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥ 14॥

अर्थात् जो नय, आत्मा को बन्धरहित और पर के स्पर्शरहित, अन्यपने रहित, चलाचलतारहित, विशेषरहित, अन्य के संयोग रहित – ऐसे पाँच भावरूप देखता है; हे शिष्य! उसे तू शुद्धनय जान।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥ 15॥

अर्थात् जो पुरुष, आत्मा को अबद्धस्पष्ट, अनन्य, अविशेष [तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त] देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है, कि जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

5. श्री समयसार गाथा 16 की टीका के नीचे कलश 18 में कहा है कि –

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः॥ 18॥

अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से देखा जाए तो प्रगट ज्ञायकज्योति मात्र से आत्मा एकस्वरूप है, क्योंकि शुद्ध-शुद्ध **द्रव्यार्थिकनय से सर्व अन्य द्रव्य के स्वभावों तथा अन्य के निमित्त से होनेवाले विभावों को दूर करनेरूप उसका स्वभाव है,** इसलिए वह 'अमेचक' है – शुद्ध एकाकार है।

6. श्री समयसार गाथा 179-80 की टीका में नीचे कलश 122 में कहा है कि –

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बन्ध एव हि॥ 122॥

अर्थात् यहाँ यही तात्पर्य है कि **शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है,** क्योंकि उसके अत्याग से (कर्म का) बन्ध नहीं होता और **उसके त्याग से बन्ध ही होता है॥ 122॥**

7. श्री समयसार गाथा 271 की टीका, कलश 173 में कहा है कि –

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्‌निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम्॥ 173॥

अर्थात् आचार्यदेव कहते हैं कि सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं, वे भी (अध्यवसान) जिन भगवन्तों ने, पूर्वोक्त रीति से त्यागने से योग्य कहे हैं; इसलिए हम ऐसा मानते हैं कि 'पर जिसका आश्रय है – ऐसा व्यवहार ही सारा छुड़ाया है' – तो फिर सत्पुरुष एक सम्यग्निश्चय को ही निष्कम्परूप से अङ्गीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में – (आत्मस्वरूप में) स्थिरता क्यों धारण नहीं करते?

8. बनारसीदास रचित समयसार नाटक के आस्रव अधिकार में 13 वें श्लोक में कहा है कि –

अशुद्धनय से बन्ध और शुद्धनय से मुक्ति :-

यह निचोर या ग्रन्थ कौ, यहै परम रस पोख,
तजै शुद्धनय बन्ध है, गहै शुद्धनय मोक्ख॥ 13॥

अर्थात् इस शास्त्र का निचोड़ यह है और यही परमतत्त्व का पोषक है कि **शुद्धनय की रीति छोड़ने से बन्ध और शुद्धनय की रीति ग्रहण करने से मोक्ष होता है।**

9. श्री समयसार नाटक के बन्धद्वार, श्लोक 32 में कहा है कि –

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं।
जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ,
ते नियत-लीन विवहारसौं मुकत हैं॥
निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि,
साधि जे सुगुन मोख पंथकौं ढुकत हैं।
तेई जीव परम दसामैं थिररूप ह्वैकै,
धरममैं धुके न करमसौं रुकत हैं॥ 32॥

अर्थात् असंख्यात लोक प्रमाण जो मिथ्यात्व भाव है, वह व्यवहारभाव है – ऐसा केवली भगवान कहते हैं। जिस जीव के मिथ्यात्व का नाश होने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह व्यवहार से मुक्त होकर निश्चय में लीन होता है और वह निर्विकल्प, निरुपाधिमय आत्मानुभव को साधकर सच्चे मोक्षमार्ग में लग जाता है और वही परमध्यान में स्थिर होकर निर्वाण प्राप्त करता है, कर्मों से नहीं रुकता।

10 – श्री मोक्षपाहुड़ गाथा 31 में कहा है कि –

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥ 31॥

अर्थात् जो योगी / ध्यानी मुनि व्यवहार में सोते हैं, वे अपने स्वरूप के कार्य में जागते हैं और जो व्यवहार में जागते हैं, वे अपने आत्मकार्य में सोते हैं।

11. श्री प्रवचनसार गाथा 200 में कहा है कि –

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि ॥ 200 ॥

अर्थात् इससे (अर्थात् शुद्धात्मा में प्रवृत्ति द्वारा ही मोक्ष होता होने से) इस प्रकार आत्मा को स्वभाव से ज्ञायक जानकर, मैं निर्ममत्व में स्थित रहता हुआ ममता का त्याग करता हूँ।

12. श्री नियमसार गाथा 38 तथा 50 में कहा है कि –

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ॥ 38 ॥

अर्थात् जीवादि बाह्यतत्व हेय (त्यागने योग्य) हैं; कर्मोपाधि –नजित गुण पर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा, आत्मा को उपादेय है।

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥ 50 ॥

अर्थात् पूर्वोक्त सर्व भाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं, इसलिए हेय हैं; अन्तःतत्त्व ऐसा स्वद्रव्य – आत्मा उपादेय है।

13. श्री नियमसार गाथा 14 की टीका, कलश 24 तथा गाथा 15 की टीका कलश 27 में कहा है कि –

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेकं
सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम्।

भजति निशितबुद्धिर्यः पुमान् शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥ 24 ॥

अर्थात् परभाव होने पर भी, सहज गुणमणि की खानरूप और पूर्ण ज्ञानवाले शुद्ध आत्मा को एक को जो तीक्ष्ण बुद्धिवाला शुद्धदृष्टि पुरुष भजता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का (मुक्ति सुन्दरी का) बल्लभ बनता है।

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः
सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः।
सपदि समयसारान्नन्यदस्तीति मत्त्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥ 27 ॥

अर्थात् बहुविभाव होने पर भी, सहज परमतत्त्व के अभ्यास में जिसकी बुद्धि प्रवीण है - ऐसा यह शुद्धदृष्टिवाला पुरुष, 'समयसार से अन्य कुछ भी नहीं हैं' - ऐसा मानकर शीघ्र परमश्री सुन्दरी का बल्लभ होता है।

14. श्री नियमसार गाथा 41 की टीका में कहा है कि -

...त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है - ऐसे निरंजन **निज परम पञ्चमभाव की (पारिणामिकभाव की) भावना से** मुमुक्षुओं, पञ्चम गति में जाते हैं; जायेंगे और जाते थे।

15. श्री समयसार गाथा 272 में कहा है कि -

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ 272 ॥

अर्थात् इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) (पराश्रित ऐसा)

व्यवहारनय, निश्चय द्वारा निषिद्ध जान; निश्चयनयाश्रित मुनि, निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

16. श्री समयसार गाथा 152 से 154 में कहा है कि –

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बेंति सव्वण्हू ॥152॥
वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति॥ 153॥
परमट्टबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं पि मोक्खहेदुं अजाणंता॥ 154॥

17. श्री समाधितन्त्र में श्री पूज्यपादाचार्य गाथा 78 में कहते हैं कि –

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥ 78॥

अर्थात् जो कोई व्यवहार में सोता है, अर्थात उसमें अप्रयत्नशील है, वह आत्मा के कार्य में – स्वसंवेदन में जागृत–तत्पर रहता है और जो इस व्यवहार में जागता है, उसकी साधना में तत्पर रहता है, वह स्वानुभव के विषय में सोता है।

18. श्री तत्त्वानुशासन में श्री नागदेवमुनि ने कहा है कि –

स्वपरज्ञपितरूपत्वान्न तस्य कारणान्तरम्।
ततशिंचतता परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यताम्॥162॥

अर्थात् आत्मा स्व–पर का ज्ञातास्वरूप होने से **उसका अन्य कोई कारण नहीं है; इसलिए अन्य कारणान्तरों की चिन्ता छोड़कर स्वसंवेदन द्वारा ही आत्मा का अनुभव करना चाहिए।**

19. श्री समयसार गाथा 413 में कहा है कि –

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं॥ 413॥

अर्थात् जो अनेक प्रकार के मुनिलिंग में अथवा गृहस्थलिङ्गों में ममत्व करते हैं, अर्थात् यह द्रव्यलिंग ही मोक्ष देनेवाला है – ऐसा मानते हैं, उन्होंने समयसार को नहीं जाना है।

टीका – जो वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ, मैं क्षमणोपासक (श्रावक) हूँ' – इस प्रकार द्रव्यलिंग में ममकार द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, **वे अनादिरूढ़ (अनादि से चले आ रहे) व्यवहार में मूढ़ (मोही) वर्तते हुए, प्रौढ़ विवेकवान निश्चय (निश्चयनय) पर अनारूढ़ वर्तते हुए,** परमार्थ सत्य (जो परमार्थत: सत्यार्थ है ऐसे) भगवान समयसार को (आत्मा को) नहीं देखते अनुभव नहीं करते।

20. श्री पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका के निश्चय – पञ्चाशत, गाथा 9 तथा 17 में कहा है कि –

व्यवहारोऽभूतार्थो भूताथे देशितस्तु शुद्धनयः।
शुद्धनय आश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम्॥ 9॥

अर्थात् व्यवहारनय तो असत्यार्थभूत कहा गया है और शुद्धनय सत्यार्थभूत कहा गया है और जो मुनि शुद्धनय के आश्रित हैं, वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

अस्पष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेससभ्रमोपेतः।
यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धयनिष्ठः॥ 17॥

अर्थात् जो पुरुष भ्रमरहित होकर आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, असंयुक्त, अविशेष मानता है, वही पुरुष शुद्धनय में स्थित है – ऐसा समझना चाहिए।

21. श्री पुरुषार्थसिद्धियुपाय (श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत) में कहा है कि –

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः॥ 5॥

अर्थात् आचार्यदेव, निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ वर्णन करते हैं। प्रायः सभी संसारी (मिथ्याज्ञानी) भूतार्थ, अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान से विमुख होते हैं।

22. श्री नियमसार गाथा 43 की टीका, कलश 65 में कहा है कि –

भवभोग पराङ्मुख हे यते!
पदमिदं भवहेतुविनाशनम्।
भजनिजात्मनिमग्नेमते पुन,
स्तव किमध्रुववस्तुति चिन्तया॥ 65॥

अर्थात् निज आत्मा में लीन बुद्धिवाले तथा भव से और भोग से पराङ्मुख हुए; हे यति! तू भवहेतु का विनाश करनेवाले ऐसे इस (ध्रुव) पद को भज; अध्रुव वस्तु की चिन्ता से तुझे क्या प्रयोजन है।

चारों अनुयोगों के कथन का सार यह है कि – शुद्ध निर्मल अभेद द्रव्यस्वभाव के आश्रय से धर्म का प्रारम्भ, वृद्धि और पूर्णता होती है।

नोट : इस प्रकरण के परिशिष्टरूप में गुरुदेवश्री के प्रवचन – 'स्वतन्त्रता की घोषणा' तथा 'निमित्त–उपादान की स्वतन्त्रता' दिये गये हैं, जो इस विषय को स्पष्ट करने में प्रयोजनभूत हैं। ज्ञात हो कि मूल गुजराती पुस्तक में उक्त प्रवचन नहीं हैं।

★★★★★

परिशिष्ट

स्वतन्त्रता की घोषणा

कर्ता–कर्म सम्बन्धी भेदज्ञान कराते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्ता है; अन्य के साथ उसका कर्ता–कर्म का सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त को आचार्यदेव ने समयसार कलश – 211 में इस प्रकार समझाया है –

(नर्दटक छन्द)

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥ 211 ॥

अर्थात्, *वास्तव में परिणाम ही निश्चय से कर्म है और परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है; अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम अपने–अपने द्रव्य के आश्रित हैं; अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता) और कर्म, कर्ता के बिना नहीं होता तथा वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्य–पर्यायस्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व, बाधासहित है); इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है।*

(इस कलश में स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को प्रतिपादित करनेवाले चार बोल इस प्रकार हैं –)

(1) परिणाम; अर्थात्, पर्याय ही कर्म; अर्थात्, कार्य है।

(2) परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के ही होते हैं, अन्य के नहीं होते, क्योंकि परिणाम अपने-अपने आश्रयभूत परिणामी (द्रव्य) के आश्रय से होते हैं; अन्य का परिणाम अन्य के आश्रय से नहीं होता।

(3) कर्ता के बिना कर्म नहीं होता; अर्थात्, परिणाम, वस्तु के बिना नहीं होता।

(4) वस्तु की निरन्तर एक समान स्थिति नहीं रहती, क्योंकि वस्तु, द्रव्य-पर्यायस्वरूप है।

इस प्रकार आत्मा और जड़ सभी वस्तुएँ स्वयं ही अपने परिणामस्वरूप कर्म की कर्ता हैं - ऐसा वस्तुस्वरूप का महान् सिद्धान्त आचार्यदेव ने समझाया है।

देखो! इसमें वस्तुस्वरूप को चार बोलों द्वारा समझाया है। इस जगत् में छह वस्तुएँ हैं - आत्मा, अनन्त; पुद्‌गलपरमाणु अनन्तानन्त; धर्म, अधर्म व आकाश, एक-एक और काल, असंख्यात। इन छहों प्रकार की वस्तुओं और उनके स्वरूप का वास्तविक नियम क्या है? सिद्धान्त क्या है? उसे यहाँ चार बोलों में समझाया जा रहा है।

(1) परिणाम ही कर्म है।

'ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः'; अर्थात्, परिणामी वस्तु का जो परिणाम है, वही निश्चय से उसका कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य; परिणाम अर्थात् अवस्था। पदार्थ की अवस्था ही वास्तव में उसका कर्म / कार्य है। परिणामी अर्थात् अखण्ड वस्तु; वह जिस भाव से परिणमन करे, उस भाव को परिणाम कहते हैं। परिणाम कहो, कार्य कहो, पर्याय कहो या कर्म कहो - ये सब शब्द वस्तु के परिणाम के पर्यायवाची ही हैं।

जैसे कि आत्मा ज्ञानगुणस्वरूप है; उसका परिणमन होने से जो

जानने की पर्याय हुई, वह उसका कर्म है – वर्तमान कर्म है। राग या शरीर, वह कोई ज्ञान का कार्य नहीं, परन्तु 'यह राग है, यह शरीर है' – ऐसा उन्हें जाननेवाला जो ज्ञान है, वह आत्मा का कार्य है। आत्मा के परिणाम, वह आत्मा का कार्य है और जड़ के परिणाम; अर्थात्, जड़ की अवस्था, वह जड़ का कार्य है। इस प्रकार एक बोल पूर्ण हुआ।

(2) परिणाम, वस्तु का ही होता है, दूसरे का नहीं।

अब, इस दूसरे बोल में कहते हैं कि जो परिणाम होता है, वह परिणामी पदार्थ का ही होता है; वह किसी अन्य के आश्रय से नहीं होता। जिस प्रकार सुनते समय जो ज्ञान होता है, वह कार्य है – कर्म है। यह ज्ञान, किस का कार्य है ? वह ज्ञान, शब्दों का कार्य नहीं है परन्तु परिणामी वस्तु जो आत्मा है, उसी का वह कार्य है। परिणामी के बिना परिणाम नहीं होता।

आत्मा, परिणामी है, उसके बिना ज्ञानपरिणाम नहीं होता – यह सिद्धान्त है परन्तु वाणी के बिना ज्ञान नहीं होता – यह बात सत्य नहीं है। शब्दों के बिना ज्ञान नहीं होता – ऐसा नहीं, परन्तु आत्मा के बिना ज्ञान नहीं होता – ऐसा है। इस प्रकार परिणामी आत्मा के आश्रय से ही ज्ञानादि परिणाम हैं।

देखो ! यह महासिद्धान्त है, वस्तुस्वरूप का अबाधित नियम है।

परिणामी के आश्रय से ही उसके परिणाम होते हैं। जाननेवाला आत्मा, वह परिणामी है, उसके आश्रित ही ज्ञान होता है; वे ज्ञानपरिणाम आत्मा के हैं, वाणी के नहीं। ज्ञानपरिणाम, वाणी के रजकणों के आश्रित नहीं होते, परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मवस्तु के आश्रय से होते हैं। आत्मा, त्रिकाल स्थित रहनेवाला परिणामी है, वह स्वयं रूपान्तरित होकर नवीन-नवीन अवस्थाओं को धारण करता है। ज्ञान-आनन्द

इत्यादि जो उसके वर्तमानभाव हैं, वे उसके परिणाम हैं।

परिणाम, परिणामी के ही हैं; अन्य के नहीं – इसमें जगत् के सभी पदार्थों का नियम आ जाता है। परिणाम, परिणामी के ही आश्रित होते हैं। ज्ञानपरिणाम, आत्मा के आश्रित हैं, भाषा आदि के आश्रित नहीं हैं; इसलिए इसमें पर की ओर देखना नहीं रहता, परन्तु अपनी -अपनी वस्तु के सामने देखकर स्वसन्मुख परिणमन करना रहता है, उसमें मोक्षमार्ग आ जाता है।

वाणी तो अनन्त जड़ परमाणुओं की अवस्था है, वह अपने जड़ परमाणुओं के आश्रित है। बोलने की जो इच्छा हुई, उस इच्छा के आश्रित भाषा के परिणाम तीन काल में भी नहीं हैं। जब इच्छा हुई और भाषा निकली, उस समय उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान, आत्मा के आश्रय से ही हुआ है; भाषा के आश्रय से तथा इच्छा के आश्रय से ज्ञान नहीं हुआ है।

परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के आश्रय से ही होते हैं; अन्य के आश्रय से नहीं होते। इस प्रकार यहाँ अस्ति-नास्ति से अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वरूप समझाया है। यह बात सत्य के सिद्धान्त की; अर्थात्, वस्तु के सत्‌स्वरूप की है। अज्ञानी इस बात को पहिचाने बिना मूढ़तापूर्वक अज्ञानता में ही जीवन पूर्ण कर डालता है।

भाई! आत्मा क्या है और जड़ क्या है? – इनकी भिन्नता समझकर वस्तुस्वरूप के वास्तविक सत् को समझे बिना ज्ञान में सत्‌पना नहीं आता; अर्थात्, सम्यग्ज्ञान नहीं होता; वस्तुस्वरूप के सत्यज्ञान के बिना सच्ची रुचि और श्रद्धा भी नहीं होती और सच्ची श्रद्धा के बिना वस्तु में स्थिरतारूप चारित्र प्रगट नहीं होता, शान्ति नहीं होती, समाधान और सुख नहीं होता; इसलिए वस्तु क्या है? उसे

प्रथम समझना चाहिए। वस्तुस्वरूप को समझने से मेरे परिणाम पर से और पर के परिणाम मुझ से होते हैं – ऐसी पराश्रितबुद्धि नहीं रहती; अर्थात्, स्वाश्रित स्वसन्तुख परिणाम प्रगट होता है, यही धर्म है।

आत्मा का जो ज्ञान होता है, उसको जाननेवाला परिणाम, आत्मा के आश्रित है; वह परिणाम, वाणी के आश्रय से नहीं होता है, कान के आश्रय से नहीं होता है तथा उस समय की इच्छा के आश्रय से भी नहीं होता है। यद्यपि इच्छा भी आत्मा का परिणाम है परन्तु उस इच्छापरिणाम के आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं है; ज्ञानपरिणाम, आत्मवस्तु के आश्रित है; इसलिए वस्तु के सन्मुख दृष्टि कर।

बोलने की इच्छा हो, होंठ हिलें, भाषा निकले और उस समय उस प्रकार का ज्ञान हो – ऐसी चारों क्रियाएँ एक साथ होते हुए भी कोई क्रिया किसी के आश्रित नहीं है; सभी अपने-अपने परिणामी द्रव्य के ही आश्रित हैं। जो इच्छा है, वह आत्मा के चारित्रगुण का परिणाम है। होंठ हिले, वह होंठ के रजकणों की अवस्था है; वह अवस्था इच्छा के आधार से नहीं हुई। भाषा प्रगट हो, वह भाषावर्गणा के रजकणों की अवस्था है; वह अवस्था इच्छा के आश्रित या होंठ के आश्रित नहीं हुई, परन्तु परिणामीरूप रजकणों के आश्रय से उत्पन्न हुई और उस समय का ज्ञान, आत्मवस्तु के आश्रित है; इच्छा अथवा भाषा के आश्रित नहीं है – ऐसा वस्तुस्वरूप है।

भाई! तीन काल-तीन लोक में सर्वज्ञ भगवान का देखा हुआ यह वस्तुस्वभाव है; अज्ञानी उसे जाने बिना और समझने की परवाह किये बिना अन्धे की भाँति चला जाता है परन्तु वस्तुस्वरूप के सच्चे ज्ञान के बिना किसी प्रकार कहीं भी कल्याण नहीं हो सकता। इस वस्तुस्वरूप को बारम्बार लक्ष्य लेकर परिणामों से भेदज्ञान करने के लिए यह बात है। एक वस्तु के परिणाम, अन्य वस्तु के आश्रित तो

हैं नहीं, परन्तु उस वस्तु में भी उसके एक परिणाम के आश्रित दूसरे परिणाम नहीं हैं। परिणामी वस्तु के आश्रित ही परिणाम हैं – यह महान् सिद्धान्त है।

प्रतिक्षण इच्छा, भाषा और ज्ञान – यह तीनों एक साथ होते हुए भी इच्छा और ज्ञान, जीव के आश्रित हैं और भाषा, जड़ के आश्रित हैं; इच्छा के कारण भाषा हुई और भाषा के कारण ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है; उसी प्रकार इच्छा के आश्रित भी ज्ञान नहीं है। इच्छा और ज्ञान – ये दोनों आत्मा के परिणाम हैं, तथापि एक के आश्रित दूसरे के परिणाम नहीं हैं। ज्ञानपरिणाम और इच्छापरिणाम दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जो ज्ञान हुआ, वह इच्छा का कार्य नहीं है और जो इच्छा हुई, वह ज्ञान का कार्य नहीं है। जहाँ इच्छा भी ज्ञान का कार्य नहीं, वहाँ जड़ भाषा आदि तो ज्ञान के कार्य कहाँ से हो सकते हैं? वे तो जड़ के ही कार्य हैं।

जगत् में जो भी कार्य होते हैं, वे सत् की अवस्थाएँ हैं। किसी वस्तु के ही परिणाम होते हैं परन्तु वस्तु के बिना अधर से नहीं होते। परिणामी का परिणाम होता है, नित्य स्थित वस्तु के आश्रित परिणाम होते हैं; पर के आश्रित नहीं होते।

परमाणु में होंठों का हिलना और भाषा का परिणमन – ये दोनों भी भिन्न वस्तुएँ हैं। आत्मा में इच्छा और ज्ञान – ये दोनों परिणाम भी भिन्न-भिन्न हैं।

होंठ हिलने के आश्रित, भाषा की पर्याय नहीं है। होंठ का हिलना, वह होंठ के पुद्गलों के आश्रित है; भाषा का परिणमन, वह भाषा के पुद्गलों के आश्रित है। होंठ और भाषा; इच्छा और ज्ञान – इन चारों का काल एक होने पर भी चारों परिणाम अलग हैं।

उसमें भी इच्छा और ज्ञान – ये दोनों परिणाम, आत्माश्रित होने

पर भी इच्छापरिणाम के आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं हैं। ज्ञान, वह आत्मा का परिणाम है, इच्छा का नहीं; इसी प्रकार इच्छा, वह आत्मा का परिणाम है, ज्ञान का नहीं। इच्छा को जाननेवाला ज्ञान, वह इच्छा का कार्य नहीं है; उसी प्रकार वह ज्ञान, इच्छा को उत्पन्न भी नहीं करता। इच्छापरिणाम, आत्मा का कार्य अवश्य है परन्तु ज्ञान का कार्य नहीं है। भिन्न-भिन्न गुण के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। एक ही द्रव्य में होने पर भी एक गुण के आश्रित दूसरे गुण के परिणाम नहीं हैं।

अहो! कितनी स्वतन्त्रता!! इसमें पर के आश्रय की बात ही कहाँ रही?

आत्मा में चारित्रगुण इत्यादि अनन्त गुण हैं। उनमें चारित्र का विकृतपरिणाम इच्छा है, वह चारित्रगुण के आश्रित है और उस समय इच्छा का ज्ञान हुआ, वह ज्ञानगुणरूप परिणामी का परिणाम है; वह कहीं इच्छा के परिणाम के आश्रित नहीं है। इस प्रकार इच्छापरिणाम और ज्ञानपरिणाम - इन दोनों का भिन्न-भिन्न परिणमन है; दोनों एक-दूसरे के आश्रित नहीं है।

भाई! सत् जैसा है, उसी प्रकार उसका ज्ञान करे तो सत् ज्ञान हो और सत् का ज्ञान करे तो उसका बहुमान एवं यथार्थ का आदर प्रगट हो, रुचि हो, श्रद्धा दृढ़ हो और उसमें स्थिरता हो; उसे ही धर्म कहा जाता है। सत् से विपरीत ज्ञान करे, उसे धर्म नहीं होता। स्व में स्थिरता ही मूलधर्म है परन्तु वस्तुस्वरूप के सच्चे ज्ञान बिना स्थिरता कहाँ करेगा?

आत्मा और शरीरादि रजकण भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं; शरीर की अवस्था, हलन-चलन, बोलना - ये सब परिणामी पुद्गलों के परिणाम हैं; उन पुद्गलों के आश्रिय वे परिणाम उत्पन्न हुए हैं, इच्छा

के आश्रित नहीं; उसी प्रकार इच्छा के आश्रित ज्ञान भी नहीं है। पुद्गल के परिणाम, आत्मा के आश्रित मानना और आत्मा के परिणाम, पुद्गलाश्रित मानना, इसमें तो विपरीतमान्यतारूप मूढ़ता है।

जगत् में भी जो वस्तु जैसी हो, उससे विपरीत बतलानेवाले को लोग मूर्ख कहते हैं तो फिर सर्वज्ञकथित यह लोकोत्तर वस्तुस्वभाव जैसा है, वैसा न मानकर विरुद्ध माननेवाला तो लोकोत्तर मूर्ख और अविवेकी ही है। विवेकी और विलक्षण कब कहा जाए? जबकि वस्तु के जो परिणाम हुए, उसे कार्य मानकर, उसे परिणामी - वस्तु के आश्रित समझे और दूसरे के आश्रित न माने, तब स्व-पर का भेदज्ञान होता है और तभी विवेकी है - ऐसा कहने में आता है। आत्मा के परिणाम, पर के आश्रित नहीं होते। विकारी और अविकारी जितने भी परिणाम जिस वस्तु के हैं, वे उस वस्तु के आश्रित हैं; अन्य के आश्रित नहीं।

पदार्थ के परिणाम, वे उसी पदार्थ का कार्य है - यह एक बात। दूसरी बात यह कि वे परिणाम, उसी पदार्थ के आश्रय से होते हैं; अन्य के आश्रय से नहीं होते - यह नियम जगत् के समस्त पदार्थों में लागू होता है।

देखो भाई! यह तो भेदज्ञान के लिए वस्तुस्वभाव के नियम बतलाये गये। अब, धीरे-धीरे दृष्टान्तपूर्वक युक्ति से वस्तुस्वरूप सिद्ध किया जाता है।

देखो! किसी को ऐसे भाव उत्पन्न हुए कि मैं सौ रुपये दान में दूँ, उसका वह परिणाम आत्मवस्तु के आश्रित हुआ है; वहाँ रुपये जाने की जो क्रिया होती है, वह रुपये के रजकणों के आश्रित है, जीव की इच्छा के आश्रित नहीं। अब उस समय उन रुपयों की

क्रिया का ज्ञान अथवा इच्छा के भाव का ज्ञान होता है, वह ज्ञानपरिणाम आत्माश्रित होता है। इस प्रकार परिणामों का विभाजन करके वस्तुस्वरूप का ज्ञान करना चाहिए।

भाई! तेरा ज्ञान और तेरी इच्छा – ये दोनों परिणाम, आत्मा में होते हुए भी जब एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं तो फिर पर के आश्रय की तो बात ही कहाँ रही? दान की इच्छा हुई और रुपये दिये गये; वहाँ रुपये जाने की क्रिया भी हाथ के आश्रित नहीं है, हाथ का हिलना इच्छा के आश्रित नहीं है और इच्छा का परिणमन, ज्ञान के आश्रित नहीं है; सभी अपने-अपने आश्रयभूत वस्तु के आधार से हैं।

देखो! यह सर्वज्ञ के पदार्थ-विज्ञान का पाठ है – ऐसे वस्तुस्वरूप का ज्ञान, सच्चा पदार्थ-विज्ञान है। जगत् के पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे सदा एकरूप नहीं रहते, परन्तु परिणमन करके नवीन-नवीन अवस्थारूप कार्य किया करते हैं – ये बात चौथे बोल में कही जाएगी। जगत् के पदार्थों का स्वभाव ऐसा है कि वे नित्य स्थायी रहें और उनमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन अवस्थारूप कार्य उनके अपने ही आश्रित हुआ करे। वस्तुस्वभाव का ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

– जीव को इच्छा हुई, इसलिए हाथ हिला और सौ रुपये दिये गये – ऐसा नहीं है।

– इच्छा का आधार आत्मा है; हाथ और रुपयों का आधार परमाणु है।

– रुपयों के ज्ञान से इच्छा हुई – ऐसा भी नहीं है।

– हाथ का हलन-चलन, वह हाथ के परमाणुओं को आधार से है।

– रुपयों का आना–जाना, वह रुपयों के परमाणुओं के आधार से है।

– इच्छा का होना, वह आत्मा का चारित्रगुण के आधार से है।

यह तो भिन्न–भिन्न द्रव्य के परिणामों की भिन्नता की बात हुई; यहाँ तो उससे भी आगे अन्दर की बात लेना है। एक ही द्रव्य के अनेक परिणाम भी एक–दूसरे के आश्रित नहीं हैं – ऐसा बतलाना है। राग और ज्ञान दोनों के कार्य भिन्न हैं; एक–दूसरे के आश्रित नहीं हैं।

किसी ने गाली दी और जीव को द्वेष के पापपरिणाम हुए; वहाँ वे पाप के परिणाम प्रतिकूलता के कारण नहीं हुए और गाली देनेवाले के आश्रित भी नहीं हुए, परन्तु चारित्रगुण के आश्रित हुए हैं। चारित्रगुण ने उस समय उस परिणाम के अनुसार परिणमन किया है; अन्य तो निमित्तमात्र हैं।

अब, द्वेष के समय उसका ज्ञान हुआ कि 'मुझे यह द्वेष हुआ' – यह ज्ञानपरिणाम, ज्ञानगुण के आश्रित है; क्रोध के आश्रित नहीं है। ज्ञानस्वभावी द्रव्य के आश्रित ज्ञानपरिणाम होते हैं; अन्य के आश्रित नहीं होते। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनपरिणाम, सम्यग्ज्ञानपरिणाम, आनन्द परिणाम इत्यादि में भी ऐसा ही समझना। यह ज्ञानादि परिणाम, द्रव्य के आश्रित हैं; अन्य के आश्रित नहीं हैं तथा परस्पर एक–दूसरे के आश्रित भी नहीं हैं।

गाली के शब्द अथवा द्वेष के समय उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान, शब्दों के आश्रित नहीं है और क्रोध के आश्रित भी नहीं है, उसका आधार तो ज्ञानस्वभावी वस्तु है; इसलिए उस पर दृष्टि लगा तो तेरी पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगट हो जाएगा। इस मोक्षमार्गरूपी कार्य का कर्ता भी तू ही है; अन्य कोई नहीं।

अहो ! यह तो सुगम और स्पष्ट बात है। लौकिक पढ़ाई अधिक न की हो, तथापि यह समझ में आ जाए – ऐसा है। जरा अन्तर में उतरकर लक्ष्य में लेना चाहिए कि आत्मा अस्तिरूप है, उसमें ज्ञान है, आनन्द है, श्रद्धा है, अस्तित्व है; इस प्रकार अनन्त गुण हैं। इन अनन्त गुणों के भिन्न-भिन्न अनन्त परिणाम प्रति समय होते हैं, उन सभी का आधार परिणामी – ऐसा आत्मद्रव्य है; अन्य वस्तु तो उनका आधार नहीं है परन्तु अपने में दूसरे गुणों के परिणाम भी उनका आधार नहीं है। जैसे कि श्रद्धापरिणाम का आधार ज्ञानपरिणाम नहीं है और ज्ञानपरिणाम का आधार श्रद्धापरिणाम नहीं है; दोनों परिणामों का आधार, आत्मा ही है। इसी प्रकार सर्व गुणों के परिणामों के लिये समझना। इस प्रकार परिणामी का ही परिणाम है; अन्य का नहीं।

इस 211 वें कलश में आचार्यदेव द्वारा कहे गये वस्तुस्वरूप के चार बोलों में से अभी दूसरे बोल का विवेचन चल रहा है। प्रथम तो कहा कि '**परिणाम एव किल कर्म**' और फिर कहा कि '**स भवति परिणामिन एव, न अपरस्य भवेत्**' परिणाम ही कर्म है और वह परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं – ऐसा निर्णय करके स्वद्रव्योन्मुख लक्ष्य जाने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।

सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शनपरिणाम हुआ, वह आत्मा का कर्म है, वह आत्मारूप परिणामी के आधार से हुआ है। पूर्व के मन्दराग के आश्रय से अथवा वर्तमान में शुभराग के आश्रय से सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान के परिणाम नहीं होते। यद्यपि राग भी है तो आत्मा का परिणाम, तथापि श्रद्धापरिणाम से रागपरिणाम अन्य हैं, वे श्रद्धा के परिणाम, राग के आश्रित नहीं हैं क्योंकि परिणाम, परिणामी के ही आश्रय से होते हैं; अन्य के आश्रय से नहीं होते।

उसी प्रकार चारित्रपरिणाम में-आत्मस्वरूप में स्थिरता, वह

चारित्र का कार्य है; वह कार्य श्रद्धापरिणाम के आश्रित नहीं है, ज्ञानपरिणाम के आश्रित नहीं, परन्तु चारित्रगुण धारण करनेवाले आत्मा के ही आश्रित है। शरीरादि के आश्रय से चारित्रपरिणाम नहीं है।

श्रद्धा के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।
ज्ञान के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।
स्थिरता के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।
आनन्द के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।

बस, मोक्षमार्ग के सभी परिणाम स्वद्रव्याश्रित हैं; अन्य के आश्रित नहीं हैं। उस समय अन्य (रागादि) परिणाम होते हैं, उनके आश्रित भी ये परिणाम नहीं हैं। एक समय में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र इत्यादि अनन्त गुणों के परिणाम होते हैं, वे कर्म हैं; उनका आधार धर्मी अर्थात् परिणमित होनेवाली वस्तु है; उस समय अन्य जो अनेक परिणाम होते हैं, उनके आधार से श्रद्धा इत्यादि के परिणाम नहीं हैं। निमित्तादि के आधार से तो नहीं हैं परन्तु अपने दूसरे परिणाम के आधार से भी कोई परिणाम नहीं है। एक ही द्रव्य में एक साथ होनेवाले परिणामों में भी एक परिणाम, दूसरे परिणाम के आश्रित नहीं है, द्रव्य के ही आश्रित सभी परिणाम हैं। सभी परिणामरूप से परिणमन करनेवाला 'द्रव्य' ही है; अर्थात्, द्रव्यसन्मुख लक्ष्य जाते ही सम्यक् पर्यायें प्रगट होने लगती हैं।

वाह! देखो, आचार्यदेव की शैली!! थोड़े में बहुत समा देने की अद्भुत शैली है। चार बोलों के इस महान् सिद्धान्त में वस्तुस्वरूप के बहुत से नियमों का समावेश हो जाता है। यह त्रिकाल सत्य, सर्वज्ञ द्वारा निश्चित किया हुआ सिद्धान्त है।

अहो! यह परिणामी के परिणाम की स्वाधीनता, सर्वज्ञदेव द्वारा

कहा हुआ वस्तुस्वरूप का तत्त्व है। सन्तों ने इसका विस्तार करके आश्चर्यकारी कार्य किया है, पदार्थ का पृथक्करण करके भेदज्ञान कराया है। अन्तर में इसका मन्थन करके देख, तो मालूम हो कि अनन्त सर्वज्ञों तथा सन्तों ने ऐसा ही वस्तुस्वरूप कहा है और ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

सर्वज्ञ भगवन्त दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा तत्त्व कहते आये हैं – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है किन्तु वस्तुतः दिव्यध्वनि तो परमाणुओं के आश्रित है।

कोई कहे कि अरे, दिव्यध्वनि भी परमाणु–आश्रित हैं? हाँ, दिव्यध्वनि, वह पुद्गल का परिणाम है और पुद्गलपरिणाम का आधार तो पुद्गलद्रव्य ही होता है; जीव उसका आधार नहीं हो सकता। भगवान का आत्मा तो अपने केवलज्ञानादि का आधार है। भगवान का आत्मा तो केवलज्ञान–दर्शन–सुख इत्यादि निज–परिणामरूप परिणमन करता है परन्तु कहीं देह और वाणीरूप अवस्था धारण करके परिणमित नहीं होता; उस रूप तो पुद्गल ही परिणमित होता है। परिणाम, परिणामी के ही होते हैं; अन्य के नहीं।

भगवान की सर्वज्ञता के आधार से दिव्यध्वनि के परिणाम हुए – ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। भाषारूप परिणाम, अनन्त पुद्गलाश्रित हैं और सर्वज्ञता आदि परिणाम, जीवाश्रित है; इस प्रकार दोनों की भिन्नता है। कोई किसी का कर्ता या आधार नहीं है।

देखो! यह भगवान आत्मा की अपनी बात है। समझ में नहीं आयेगी – ऐसा नहीं मानना; अन्तरलक्ष्य करे तो समझ में आये – ऐसी सरल है। देखो, लक्ष्य में लो कि अन्दर कोई वस्तु है या नहीं? और यह जो जानने के या रागदि के भाव होते हैं – इन भावों का कर्ता

कौन है ? आत्मा स्वयं उनका कर्ता है। इस प्रकार आत्मा को लक्ष्य में लेने के लिये दूसरी पढ़ाई की कहाँ आवश्यकता है ? यह अज्ञानी जीव, दुनियाँ की बेगार / मजदूरी करके दुःखी होता है, उसके बदले यदि वस्तुस्वभाव को समझे तो कल्याण हो जाए। अरे जीव! ऐसे सुन्दर न्याय द्वारा सन्तों ने वस्तुस्वरूप समझाया है, उसे तू समझ!

इस प्रकार वस्तुस्वरूप के दो बोल हुए।

अब, तीसरा बोल –

(3) कर्ता के बिना, कर्म नहीं होता

कर्ता; अर्थात्, परिणमित होनेवाली वस्तु और कर्म; अर्थात्, उसकी अवस्थारूप कार्य; कर्ता के बिना कर्म नहीं होता; अर्थात्, वस्तु के बिना पर्याय नहीं होती; सर्वथा शून्य में से कोई कार्य उत्पन्न हो जाए – ऐसा नहीं होता।

देखो! यह वस्तुविज्ञान के महान सिद्धान्त हैं, इस पर 211 वें कलश में चार बोलों द्वारा चारों पक्षों से स्वतन्त्रता सिद्ध की है। अज्ञानी, विदेशों में अज्ञान की पढ़ाई के पीछे हैरान होते हैं, उसकी अपेक्षा सर्वज्ञदेव कथित इस परमसत्य वीतरागी–विज्ञान को समझे तो अपूर्व कल्याण हो।

(1) परिणाम, सो कर्म – यह एक बात।

(2) वह परिणाम किसका ? कि परिणामी वस्तु का परिणाम है, दूसरे का नहीं। यह दूसरा बोल; इसका बहुत विस्तार किया।

अब, यहाँ इस तीसरे बोल में कहते हैं कि परिणामी के बिना परिणाम नहीं होता। परिणामी वस्तु से भिन्न अन्यत्र कहीं परिणाम हो – ऐसा नहीं होता। परिणामी वस्तु में ही उसके परिणाम होते हैं; इसलिए परिणामी वस्तु, वह कर्ता है; उसके बिना कार्य नहीं होता।

देखो, इसमें निमित्त के बिना नहीं होता – ऐसा नहीं कहा। निमित्त, निमित्त में रहता है, वह कहीं इस कार्य में नहीं आ जाता; इसलिए निमित्त के बिना कार्य होता है परन्तु परिणामी के बिना कार्य नहीं होता। निमित्त भले हो परन्तु उसका अस्तित्व तो निमित्त में है; इसमें (कार्य में) उसका अस्तित्व नहीं है। परिणामी वस्तु की सत्ता में ही उसका कार्य होता है।

आत्मा के बिना सम्यक्त्वादि परिणाम नहीं होते। अपने समस्त परिणामों का कर्ता आत्मा है, उसके बिना कर्म नहीं होता। **'कर्म कृतं शून्यं न भवति'** – प्रत्येक पदार्थ की अवस्था उस-उस पदार्थ के बिना नहीं होती। सोना नहीं है और गहने बन गये; वस्तु नहीं है और अवस्था हो गयी – ऐसा नहीं हो सकता। अवस्था है, वह त्रैकालिक वस्तु को प्रगट करती है – प्रसिद्ध करती है कि यह अवस्था इस वस्तु की है।

जैसे कि पुद्गल, जड़कर्मरूप होते हैं, वे कर्मपरिणाम, कर्ता के बिना नहीं होते। अब उनका कर्ता कौन? – तो कहते हैं कि उस पुद्गलकर्मरूप परिणमित होनेवाले रजकण ही कर्ता हैं; आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

– आत्मा, कर्ता होकर जड़कर्म का बन्ध करे – ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

– जड़कर्म, आत्मा को विकार करायें – ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

– मन्दकषाय के परिणाम, सम्यक्त्व का आधार हों – ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

– शुभराग से क्षायिकसम्यक्त्व हो – ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह सब तो विपरीत है, अन्याय है। भाई! तेरे यह अन्याय वस्तुस्वरूप को सहन नहीं होंगे। वस्तुस्वरूप को विपरीत मानने से तेरे आत्मा को बहुत दु:ख होगा – ऐसी करुणा सन्तों को आती है। सन्त नहीं चाहते कि कोई जीव दु:खी हो। जगत के सारे जीव सत्यस्वरूप को समझें और दु:ख से छूटकर सुख प्राप्त करें – ऐसी उनकी भावना है।

भाई! तेरे सम्यग्दर्शन का आधार, तेरा आत्मद्रव्य है; शुभराग कहीं उसका आधार नहीं है। मन्दराग, वह कर्ता और सम्यग्दर्शन उसका कार्य – ऐसा त्रिकाल में नहीं है। वस्तु का जो स्वरूप है, वह तीन काल में आगे-पीछे नहीं हो सकता। कोई जीव, अज्ञान से उसे विपरीत माने, उससे कहीं सत्य बदल नहीं जाता। कोई समझे या न समझे, सत्य तो सदा सत्यरूप ही रहेगा, वह कभी बदलेगा नहीं। जो उसे यथावत् समझेंगे, वे अपना कल्याण कर लेंगे और जो नहीं समझेंगे, उनकी तो बात ही क्या? वे तो संसार में भटक ही रहे हैं।

देखो! वाणी सुनी, इसलिए ज्ञान होता है न? परन्तु सोनगढ़वाले इन्कार करते हैं कि वाणी के आधार से ज्ञान नहीं होता – ऐसा कहकर कुछ लोग कटाक्ष करते हैं – लेकिन भाई! यह तो वस्तुस्वरूप है, त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा भी दिव्यध्वनि में यही कहते हैं कि ज्ञान, आत्मा के आश्रय से होता है; ज्ञान, आत्मा का कार्य है, दिव्यध्वनि के परमाणु का कार्य नहीं है। ज्ञानकार्य का कर्ता, आत्मा है; न कि वाणी के रजकण। जिस पदार्थ के जिस गुण का जो वर्तमान होता है, वह अन्य पदार्थ के अन्य गुण के आश्रय से नहीं होता। उसका कर्ता कौन? तो कहते हैं कि वस्तु स्वयं। कर्ता और उसका कार्य दोनों एक ही वस्तु में होने का नियम है, वे भिन्न वस्तु में नहीं होते।

यह लकड़ी ऊपर उठी, वह कार्य है; यह किसका कार्य है?

कर्ता का कार्य है। कर्ता के बिना कार्य नहीं होता। कर्ता कौन है ? कि लकड़ी के रजकण ही लकड़ी की इस अवस्था के कर्ता है; यह हाथ, अँगुली या इच्छा उसके कर्ता नहीं हैं।

अब, अन्तर का सूक्ष्म दृष्टान्त लें तो किसी आत्मा में इच्छा और सम्यग्ज्ञान दोनों परिणाम वर्तते हैं; वहाँ इच्छा के आधार से सम्यग्ज्ञान नहीं है और इच्छा, सम्यग्ज्ञान का कर्ता नहीं है। आत्मा ही कर्ता होकर उस कार्य को करता है। कर्ता के बिना कर्म नहीं है और दूसरा कोई कर्ता नहीं है; इसलिए जीव कर्ता द्वारा ज्ञान कार्य होता है। इस प्रकार समस्त पदार्थों के सर्व कार्यों में सर्व पदार्थ का कर्तापना है – ऐसा समझना चाहिए।

देखो भाई! यह तो सर्वज्ञ भगवान के घर की बात है, इसे सुनकर सन्तुष्ट होना चाहिए। अहा! सन्तों ने वस्तुस्वरूप समझाकर मार्ग स्पष्ट कर दिया है; सन्तों ने सारा मार्ग सरल और सुगम बना दिया है, उसमें बीच में कहीं अटकना पड़े – ऐसा नहीं है। पर से भिन्न ऐसा स्पष्ट वस्तुस्वरूप समझे तो मोक्ष हो जाए। बाहर से तथा अन्तर से ऐसा भेदज्ञान समझने पर, मोक्ष हथेली में आ जाता है। मैं तो पर से पृथक् हूँ और मुझमें एक गुण का कार्य दूसरे गुण से नहीं है – यह महान् सिद्धान्त समझने पर स्वाश्रयभाव से अपूर्व कल्याण प्रगट होता है।

कर्म अपने कर्ता के बिना नहीं होता – यह बात तीसरे बोल में कहीं और चौथे बोल में कर्ता की (वस्तु की) स्थिति एकरूप; अर्थात्, सदा एक समान नहीं होती, परन्तु वह नये-नये परिणामरूप से बदलती रहती है – यह बात कहेंगे। हर बार प्रवचन में इस चौथे बोल का विशेष विस्तार होता है; इस बार दूसरे बोल का विशेष विस्तार आया है।

कर्ता के बिना कार्य नहीं होता – यह सिद्धान्त है। वहाँ कोई

कहे कि यह जगत्, कार्य है और ईश्वर उसका कर्ता है – तो यह बात वस्तुस्वरूप की नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने पर्याय का ईश्वर है और वही कर्ता है; उससे भिन्न दूसरा कोई या अन्य कोई पदार्थ कर्ता नहीं है। पर्याय, वह कार्य और पदार्थ उसका कर्ता। कर्ता के बिना कार्य नहीं और दूसरा कोई कर्ता नहीं है।

कोई भी अवस्था हो – शुद्ध अवस्था, विकारी अवस्था या जड़ अवस्था; उसका कर्ता न हो – ऐसा नहीं होता तथा दूसरा कोई कर्ता हो – ऐसा भी नहीं होता।

प्रश्न – तो क्या भगवान उसके कर्ता हैं ?

उत्तर – हाँ, भगवान कर्ता अवश्य हैं परन्तु कौन भगवान है ? अन्य कोई भगवान नहीं, परन्तु यह आत्मा स्वयं अपना भगवान है, वह कर्ता होकर अपने शुद्ध-अशुद्धपरिणामों का कर्ता है। जड़ के परिणाम को जड़ पदार्थ करता है, वह अपना भगवान है। प्रत्येक वस्तु अपनी -अपनी अवस्था की रचयिता – ईश्वर है। प्रत्येक पदार्थ अपना / स्व का स्वामी है; उसे पर का स्वामी मानना मिथ्यात्व है।

संयोग के बिना अवस्था नहीं होती – ऐसा नहीं है परन्तु वस्तु परिणमित हुए बिना अवस्था नहीं होती – ऐसा सिद्धान्त है। पर्याय के कर्तृत्व का अधिकार वस्तु का अपना है, उसमें पर का अधिकार नहीं है।

इच्छारूपी कार्य हुआ, उसका कर्ता आत्मद्रव्य है। पूर्व पर्याय में तीव्र राग था, इसलिए वर्तमान में राग हुआ – इस प्रकार पूर्व पर्याय में इस पर्याय का कर्तापना नहीं है। वर्तमान में आत्मा वैसे भावरूप परिणमित होकर स्वयं कर्ता हुआ है। इसी प्रकार ज्ञानपरिणाम, श्रद्धापरिणाम, आनन्दपरिणाम, उन सबका कर्ता आत्मा है; पर नहीं।

पूर्व के परिणाम भी कर्ता नहीं तथा वर्तमान में उसके साथ वर्तते हुए अन्य परिणाम भी कर्ता नहीं हैं; आत्मद्रव्य स्वयं कर्ता है। शास्त्र में पूर्व पर्याय को कभी-कभी उपादान कहते हैं, वह तो पूर्व -पश्चात् की सन्धि बतलाने के लिये कहा है परन्तु पर्याय का कर्ता तो उस समय वर्तता हुआ द्रव्य है; वही परिणामी होकर कार्यरूप परिणमित हुआ है। जिस समय सम्यग्दर्शनपर्याय हुई, उस समय उसका कर्ता आत्मा ही है; पूर्व की इच्छा, वीतराग की वाणी या शास्त्र - वे कोई वास्तव में इस सम्यग्दर्शन के कर्ता नहीं हैं।

उसी प्रकार ज्ञानकार्य का कर्ता भी आत्मा ही है। इच्छा का ज्ञान हुआ, वहाँ वह ज्ञान कहीं इच्छा का कार्य नहीं है और वह इच्छा, ज्ञान का कार्य नहीं है। दोनों परिणाम एक ही वस्तु के होने पर भी उनमें कर्ता-कर्मपना नहीं है, कर्ता तो परिणामी वस्तु है।

पुद्गल में खट्टी-खारी अवस्था थी और ज्ञान के तदनुसार जाना; वहाँ खट्टे-खारे तो पुद्गल के परिणाम हैं और पुद्गल उनका कर्ता है; तत्सम्बन्धी जो ज्ञान हुआ, उसका कर्ता आत्मा है, उस ज्ञान का कर्ता वह खट्टी-खारी अवस्था नहीं है। अहो! कितनी स्वतन्त्रता!! उसी प्रकार शरीर में रोगादि कार्य हो, उसके कर्ता वे पुद्गल हैं; आत्मा नहीं और उस शरीर की अवस्था का जो ज्ञान हुआ, उसका कर्ता आत्मा है। आत्मा, कर्ता होकर ज्ञानपरिणाम को करता है परन्तु शरीर की अवस्था को वह नहीं करता।

भाई! यह तो परमेश्वर होने के लिये परमेश्वर के घर की बात है। परमेश्वर सर्वज्ञदेव कथित यह वस्तुस्वरूप है।

जगत् में चेतन या जड़ अनन्त पदार्थ अनन्तरूप से नित्य रहकर अपने वर्तमान कार्य को करते हैं, प्रत्येक परमाणु में स्पर्श -रङ्ग

आदि अनन्त गुण; स्पर्श की चिकनी आदि अवस्थाएँ; रङ्ग की काली आदि अवस्थाएँ उन-उन अवस्थाओं का कर्ता परमाणुद्रव्य है; चिकनी अवस्था, वह काली अवस्था की कर्ता नहीं है।

इस प्रकार आत्मा में - प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण हैं। ज्ञान में केवलज्ञान पर्यायरूप कार्य हुआ, आनन्द प्रगट हुआ, उसका कर्ता, आत्मा स्वयं है। मनुष्यशरीर अथवा स्वस्थ शरीर के कारण वह कार्य हुआ - ऐसा नहीं है। पूर्व की मोक्षमार्ग पर्याय के आधार से वह कार्य हुआ - ऐसा भी नहीं है। ज्ञान और आनन्द के परिणाम भी एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं, द्रव्य ही परिणमित होकर उस कार्य का कर्ता हुआ है। भगवान आत्मा स्वयं ही अपने केवलज्ञानादि कार्य का कर्ता है; अन्य कोई नहीं। यह तीसरा बोल हुआ।

(4) वस्तु की स्थिति सदा एकरूप (कूटस्थ) नहीं रहती।

सर्वज्ञदेव द्वारा देखा हुआ वस्तु का स्वरूप ऐसा है कि वह नित्य अवस्थित रहकर प्रतिक्षण नवीन अवस्थारूप परिणमित होती रहती है। पर्याय बदले बिना ज्यों का त्यों कूटस्थ ही रहे - ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। वस्तु, द्रव्य-पर्यायस्वरूप है; इसलिए उसमें सर्वथा अकेला नित्यपना नहीं है, पर्याय से परिवर्तनपना भी है। वस्तु स्वयं ही अपनी पर्यायरूप से पलटती है, कोई दूसरा उसे परिवर्तित करे - ऐसा नहीं है।

नयी-नयी पर्यायरूप होना, वह वस्तु का अपना स्वभाव है तो कोई उसका क्या करेगा? इन संयोगों से कारण यह पर्याय हुई - इस प्रकार संयोग के कारण जो पर्याय मानता है, उसने वस्तु के परिणमनस्वभाव को नहीं जाना है, दो द्रव्यों को एक माना है। भाई! तू संयोगों से न देख, वस्तुत्वभाव को देख! वस्तुस्वभाव ही ऐसा है

कि वह नित्य एकरूप न रहे। द्रव्यरूप से एकरूप रहे, परन्तु पर्यायरूप से एकरूप न रहे, पलटता ही रहे – ऐसा वस्तुस्वरूप है।

इन चार बोलों से ऐसा समझाया है कि वस्तु ही अपने परिणामरूप कार्य की कर्ता है – यह निश्चित सिद्धान्त है।

इस पुस्तक का पृष्ठ पहले ऐसा था और फिर पलट गया – वह हाथ लगने से पलटा हो – ऐसा नहीं है परन्तु उन पृष्ठों के रजकणों में ही ऐसा स्वभाव है कि सदा एकरूप उनकी स्थिति नहीं रहता, उनकी अवस्था बदलती रहती है; इसलिए वे स्वयं पहली अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्थारूप हुए हैं, दूसरे के कारण नहीं। वस्तु में भिन्न–भिन्न अवस्थाएँ होती ही रहती है; वहाँ संयोग के कारण वह भिन्न अवस्था हुई – ऐसा अज्ञानी का भ्रम है क्योंकि वह संयोग को ही देखता है परन्तु वस्तुस्वभाव को नहीं देखता। वस्तु स्वयं परिणमनस्वभावी है, इसलिए वह एक ही पर्यायरूप नहीं रहती – ऐसे स्वभाव को जाने तो किसी संयोग से अपने में या अपने से पर में परिवर्तन होने की बुद्धि छूट जाए और स्वद्रव्य की ओर देखना रहे; इसलिए मोक्षमार्ग प्रगट हो।

पानी पहले ठण्डा था और चूल्हे पर आने के बाद गर्म हुआ; वहाँ उन रजकणों का ही ऐसा स्वभाव है कि उनकी सदा एक अवस्थारूप स्थिति न रहे; इसलिए वे अपने स्वभाव से ही ठण्डी अवस्था को छोड़कर, गर्म अवस्थारूप परिणमित हुए हैं। इस प्रकार स्वभाव को न देखकर अज्ञानी, संयोग को देखता है कि अग्नि के आने से पानी गर्म हुआ। एक समय में तीन काल तीन लोक को जाननेवाले सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग तीर्थङ्करदेव की दिव्यध्वनि में आया हुआ यह तत्त्व है और सन्तों ने इसे प्रगट किया है। आचार्यदेव ने चार बोलों से स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप समझाया है, उसे समझ ले तो

कहीं भ्रम न रहे।

बर्फ के संयोग से पानी ठण्डा हुआ और अग्नि के संयोग से गर्म हुआ – ऐसा अज्ञानी देखता है परन्तु पानी के रजकणों में ही ठण्डा-गर्म अवस्थारूप परिणमित होने का स्वभाव है, उसे अज्ञानी नहीं देखता। भाई! वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है कि अवस्था की स्थिति एकरूप न रहे। वस्तु कूटस्थ नहीं है परन्तु बहते हुए पानी की भाँति द्रवित होती है – पर्याय को प्रवाहित करती है, उस पर्याय का प्रवाह वस्तु में से आता है; संयोग में से नहीं आता। भिन्न प्रकार के संयोग के कारण अवस्था की भिन्नता हुई अथवा संयोग बदले, इसलिए अवस्था बदल गयी – ऐसा भ्रम अज्ञानी को होता है परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

यहाँ चार बोलों द्वारा वस्तु का स्वरूप एकदम स्पष्ट किया है।

1. परिणाम ही कर्म है।

2. परिणामी वस्तु के ही परिणाम हैं; अन्य के नहीं।

3. वह परिणामरूपी कर्म, कर्ता के बिना नहीं होता।

4. वस्तु की स्थिति एकरूप नहीं रहती।

इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है – यह सिद्धान्त है।

इन चारों बोलों में तो बहुत रहस्य भर दिया है। उसका निर्णय करने से भेदज्ञान तथा द्रव्यसन्मुखदृष्टि से मोक्षमार्ग प्रगट होगा।

प्रश्न – संयोग के आने पर तद्नुसार अवस्था बदलती दिखाई देती है न?

उत्तर – यह सत्य नहीं है, वस्तुस्वभाव को देखने से ऐसा दिखायी नहीं देता; अवस्था बदलने का स्वभाव वस्तु का अपना है

– ऐसा दिखायी देता है। कर्म का मन्द उदय हो, इसलिए मन्दराग और तीव्र उदय हो, इसलिए तीव्रराग – ऐसा नहीं है। अवस्था एकरूप नहीं रहती, परन्तु अपनी योग्यता से मन्द-तीव्ररूप से बदलती है – ऐसा स्वभाव वस्तु का अपना है, वह कहीं पर के कारण नहीं है।

भगवान के निकट जाकर पूजा करे या शास्त्रश्रवण करे, उस समय अलग परिणाम होते हैं और घर पहुँचने पर अलग परिणाम हो जाते हैं, तो क्या संयोग के कारण वे परिणाम बदले? नहीं; वस्तु एकरूप न रहकर उसके परिणाम बदलते रहें – ऐसा ही उसका स्वभाव है; उन परिणामों का बदलना वस्तु के आश्रय से ही होता है; संयोग के आश्रय से नहीं। इस प्रकार वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्ता है – यह निश्चित सिद्धान्त है।

इन चार बोलों के सिद्धान्तानुसार वस्तुस्वरूप को समझे तो मिथ्यात्व की जड़ें उखड़ जाएँ और पराश्रितबुद्धि छूट जाए। ऐसे स्वभाव की प्रतीति होने से अखण्ड स्व-वस्तु पर लक्ष्य जाता है और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, उस सम्यग्ज्ञानपरिणाम का कर्ता आत्मा स्वयं है। पहले अज्ञानपरिणाम भी वस्तु के ही आश्रय से थे और अब ज्ञानपरिणाम हुए, वे भी वस्तु के ही आश्रय से हैं।

मेरी पर्याय का कर्ता, दूसरा कोई नहीं है; मेरा द्रव्य परिणमित होकर मेरी पर्याय का कर्ता होता है – ऐसा निश्चय करने से स्वद्रव्य पर लक्ष्य जाता है और भेदज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान होता है। अब, उस काल में चारित्रदोष से कुछ रागादि परिणाम रहे, वे भी अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा का परिणमन होने से आत्मा का कार्य है – ऐसा धर्मीजीव जानता है; उसे जानने की अपेक्षा से व्यवहार को उस काल में जाना

हुआ प्रयोजनवान कहते हैं।

धर्मी को द्रव्य का शुद्धस्वभाव लक्ष्य में आ गया है; इसलिए सम्यक्त्वादि निर्मल कार्य होते हैं और जो राग शेष रहा है, उसे भी वे अपना परिणमन जानते हैं परन्तु अब उसकी मुख्यता नहीं है। मुख्यता तो स्वभाव की हो गयी है। पहले अज्ञानदशा में मिथ्यात्वादि परिणाम थे, वे भी स्वद्रव्य के अशुद्धउपादान के आश्रय से ही थे परन्तु जब निश्चित किया कि मेरे परिणाम अपने द्रव्य के ही आश्रय से होते हैं, तब उस जीव को मिथ्यात्वपरिणाम नहीं रहते; उसे तो सम्यक्त्वादिरूप परिणाम ही होते हैं।

अब, जो रागपरिणमन, साधकपर्याय में शेष रहा, उसमें यद्यपि उसे एकत्वबुद्धि नहीं है, तथापि वह परिणमन अपना है – ऐसा वह जानता है। ऐसा व्यवहार का ज्ञान, उस काल का प्रयोजनवान है। सम्यग्ज्ञान होता है, तब निश्चय-व्यवहार का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है, तब द्रव्य-पर्याय का स्वरूप ज्ञात होता है; तब कर्ता-कर्म का स्वरूप ज्ञात होता है और स्वद्रव्य के लक्ष्य से मोक्षमार्गरूप कार्य प्रगट होता है; उसका कर्ता, आत्मा स्वयं है।

इस प्रकार इस 211 वें कलश में आचार्यदेव ने चार बोलों द्वारा स्पष्टरूप से अलौकिक वस्तुस्वरूप समझाया है, उसका विवेचन पूर्ण हुआ। ●●

(श्रावकधर्म प्रकाश में परिशिष्ट प्रवचन)

कण्ठपाठ परिशिष्ट - 1

कविवर पण्डित बनारसीदास कृत

उपादान-निमित्त दोहा

शिष्य का प्रश्न :

गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बलहीन।
ज्यों नर दूजे पाँव बिन, चलवे को आधीन॥ 1॥

हो जाने था एक ही, उपादान सों काज।
थकै सहाई पौन बिन, पानी मांहि जहाज॥ 2॥

उपादान की ओर से उत्तर :

ज्ञान नैन किरिया चरण, दोऊ शिवमग धार।
उपादान निश्चय जहाँ, तहाँ निमित्त व्यवहार॥ 3॥

प्रथम प्रश्न का समाधान :

उपादान निजगुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाण विधि, विरला बूझे कोय॥ 4॥

उपादान ही सर्वत्र बलवान है :

उपादान बल जहँ तहाँ, नहिं निमित्त को दाव।
एक चक्र सों रथ चले, रवि को यहै स्वभाव॥ 5॥

दूसरे प्रश्न का समाधान -

सधै वस्तु असहाय जहाँ, तहाँ निमित्त है कौन?
ज्यों जहाज परवाह में, तिरै सहज बिन पौन॥ 6॥

उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेश।
वसे जु जैसे देश में, धरे सु तैसे भेष॥ 7॥

कण्ठपाठ परिशिष्ट - 2

भैया भगवतीदास कृत

उपादान-निमित्त संवाद

मङ्गलाचरण

पाद प्रणमि जिनदेव के, एक उक्ति उपजाय।
उपादान अरु निमित्त को, कहूँ संवाद बनाय॥ 1॥

शिष्य का प्रश्न -

पूछत है कोऊ तहाँ, उपादान किह नाम।
कहो निमित्त कहिये कहा, कब के हैं इह ठाम॥ 2॥

शिष्य के प्रश्न का उत्तर -

उपादान निज शक्ति है, जिय को मूल स्वभाव।
है निमित्त परयोग तें, बन्यो अनादि बनाव॥ 3॥

निमित्त -

निमित्त कहै मोकों सबै, जानत है जगलोय।
तेरो नाम न जान हीं, उपादान को होय॥ 4॥

उपादान -

उपादान कहै रे निमित्त, तू कहा करै गुमान।
मोकों जानें जीव वे, जो है सम्यक्‌वान॥ 5॥

निमित्त -

कहैं जीव सब जगत के, जो निमित्त सोई होय।
उपादान की बात को, पूछे नाहीं कोय॥ 6॥

उपादान -

उपादान बिन निमित्त तू, कर न सके इक काज।
कहा भयौ जग ना लखै, जानत हैं जिनराज॥ 7॥

निमित्त -

देव जिनेश्वर गुरु यती, अरु जिन आगम सार।
इह निमित्त से जीव सब, पावत है भवपार॥ 8॥

उपादान -

यह निमित्त इस जीव के, मिल्यो अनन्तीवार।
उपादान पलट्यो नहीं, तो भटक्यो संसार॥ 9॥

निमित्त -

कै केवलि कै साधु के, निकट भव्य जो होय।
सो क्षायक सम्यक् लहै, यह निमित्त बल जोय॥ 10॥

उपादान -

केवलि अरु मुनिराज के, पास रहे बहु लोय।
पै जाको सुलट्यो धनी, क्षायिक ताकों होय॥ 11॥

निमित्त -

हिंसादिक पापन किये, जीव नर्क में जाहिं।
जो निमित्त नहिं काम को, तो इस काहे कहाहिं॥ 12॥

उपादान -

हिंसा में उपयोग जहाँ, रहे ब्रह्म के राच।
तेई नर्क में जात है, मुनि नहिं जाहिं कदाच॥ 13॥

निमित्त -

दया दान पूजा किये, जीव सुखी जग होय।
जो निमित्त झूठौ कहो, यह क्यों माने लोय॥ 14॥

उपादान -

दया-दान-पूजा भली, जगत माहिं सुखकार।
जहं अनुभव को आचरण, तहँ यह बन्ध विचार॥ 15॥

निमित्त –

यह तो बात प्रसिद्ध है, सोच देख उर माहिं।
नरदेही के निमित्त बिन, जिय क्यों मुक्ति न जाहिं॥ 16॥

उपादान –

देह पींजरा जीव को, रोकै शिवपुर जात।
उपादान की शक्ति सों, मुक्ति होत रे भ्रात॥ 17॥

निमित्त –

उपादान सब जीव पै, रोकनहारौ कौन?
जाते क्यों नहिं मुक्ति में, बिन निमित्त के हौन॥ 18॥

उपादान –

उपादान सु अनादि को, उलट रह्यौ जगमाहिं।
सुलटत ही सूधे चलें, सिद्धलोक को जाहिं॥ 19॥

निमित्त –

कहुँ अनादि बिन निमित्त ही, उलट रह्यौ उपयोग।
ऐसी बात न संभवै, उपादान तुम जोग॥ 20॥

उपादान –

उपादान कहे रे निमित्त, हम पै कही न जाय।
ऐसी ही जिन केवली, देखे त्रिभुवन राय॥ 21॥

निमित्त –

जो देख्यो भगवान ने, सो ही सांचो आहिं।
हम तुम संग अनादि के, बली कहोगे काहिं॥ 22॥

उपादान –

उपादान कहे वह बली, जाको नाश न होय।
जो उपजत विनशत रहे, बली कहाँ तैं सोय॥ 23॥

निमित्त -

उपादान तुम जोर हो, तो क्यों लेत अहार।
पर निमित्त के योग सों, जीवत सब संसार॥ 24॥

उपादान -

जो अहार के जोग सों, जीवत है जगमांहिं।
तो वासी संसार के, मरते कोऊ नांहिं॥ 25॥

निमित्त -

सूर सोम मणि अग्नि के, निमित्त लखें ये नैन।
अन्धकार में कित गयो, उपादान दृग दैन॥ 26॥

उपादान -

सूर सोम मणि अग्नि जो, करे अनेक प्रकाश।
नैन शक्ति बिना ना लखैं, अंधकार सम भास॥ 27॥

निमित्त -

कहे निमित्त वे जीव को, मो बिन जग के माहिं।
सबै हमारे वश परे, हम बिन मुक्ति न जाहिं॥ 28॥

उपादान -

उपादान कहै रे निमित्त! ऐसे बोल न बोल।
तोकों तज निज भजत हैं, ते ही करें किलोल॥ 29॥

निमित्त -

कहै निमित्त हमको तजै, ते कैसे शिव जात।
पंच महाव्रत प्रगट हैं, और हु क्रिया विख्यात॥ 30॥

उपादान -

पंच महाव्रत जोग त्रय, और सकल व्यवहार।
पर कौ निमित्त खपाय के, तब पहुँचे भवपार॥ 31॥

निमित्त –

कहै निमित्त जग में बड्यो, मो तै बड़ौ न कोय।
तीन लोक के नाथ सब, मो प्रसाद तें होय॥ 32॥

उपादान –

उपादान कहै तू कहा, चहुँगति में ले जाय।
तो प्रसाद तैं जीव सब, दुःखी होहिं रे भाय॥ 33॥

निमित्त –

कहै निमित्त जो दुःख सहै, सो तुम हमहिं लगाय।
सुखी कौन तैं होत है, ताको देहु बताय॥ 34॥

उपादान –

जो सुख को तू सुख कहै, सो सुख तो सुख नांहिं।
ये सुख दुःख के मूल हैं, सुख अविनाशी मांहिं॥ 35॥

निमित्त –

अविनाशी घट घट वसे, सुख क्यों विलसत नांहिं।
शुभ निमित्त के योग बिन, परे परे बिललाहिं॥ 36॥

उपादान –

शुभ निमित्त इह जीव को, मिल्यो कई भवसार।
पै इक सम्यक्दर्श बिन, भटकत फिर्यो गँवार॥ 37॥

निमित्त –

सम्यग्दर्शन भये कहा, त्वरित मुक्ति में जाहिं?
आगे ध्यान निमित्त है, ते शिव को पहुँचाहिं॥ 38॥

उपादान –

छोर ध्यान की धारणा, मोर योग की रीत।
तोरि कर्म के जाल को, जोर लई शिव प्रीत॥ 39॥

निमित्त द्वारा पराजय की स्वीकृति

तब निमित्त हार्यो तहाँ, अब नहिं जोर बसाय।
उपादान शिव लोक में, पहुँच्यो कर्म खपाय॥ 40॥

उपादान को लाभ –

उपादान जीत्यो तहाँ, निजबल कर परकाश।
सुख अनन्त ध्रुव भोगवे, अन्त न वरन्यो तास॥ 41॥

तत्त्व स्वरूप –

उपादान अरु निमित्त ये, सब जीवन पै वीर।
जो निजशक्ति संभार ही सो पहुँचें भव तीर॥ 42॥

उपादान की महिमा –

भैया महिमा ब्रह्म की, कैसे वरनी जाय?
वचन अगोचर वस्तु है, कहिवो वचन बताय॥ 43॥

इस संवाद से ज्ञानी और अज्ञानी का अभिप्राय –

उपादान अरु निमित्त को, सरस बन्यौ संवाद।
समदृष्टि को सरल है, मूरख को बकवाद॥ 44॥

संवाद के रहस्य को कौन जानता है?

जो जानै गुण ब्रह्म के, सो जानै यह भेद।
साख जिनागम सों मिलै, तो मत कीज्यो खेद॥ 45॥

ग्रन्थकर्ता का नाम और स्थान एवं रचनाकाल –

नगर आगरा अग्र है, जैनी जन को वास।
तिह थानक रचना करी, भैया स्वमति प्रकाश॥ 46॥

संवत् विक्रम भूप का, सत्तरहसैं पंचास।
फाल्गुन पहले पक्ष में, दशों दिशा परकाश॥ 47॥

उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता

उपादान है; निमित्त है; दोनों का अस्तित्व होते हुए भी दोनों स्वतन्त्र हैं, अपना-अपना कार्य स्वयं करते हैं – यह बात इस प्रवचन में अनेक उदाहरणों के द्वारा समझायी है।

उपादान-निमित्त

उपादान किसे कहना चाहिए और निमित्त किसे कहना चाहिए?

आत्मा की शक्ति को उपादान कहते हैं और पर्याय की वर्तमान योग्यता को भी उपादान कहते हैं। जिस अवस्था में कार्य होता है, उस समय की वह अवस्था स्वयं ही उपादानकारण है; और उस समय उसे अनुकूल परद्रव्य, निमित्त है। निमित्त के कारण उपादान में कुछ नहीं होता। यहाँ उपादान-निमित्त सम्बन्धी विविध प्रकार की मिथ्यामान्यताओं को दूर करने के लिए अनेक दृष्टान्तों के द्वारा उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त समझाया जा रहा है।

गुरु के निमित्त से ज्ञान नहीं होता

आत्मा में जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान आत्मा की पर्याय की शक्ति से होता है या शास्त्र के निमित्त से होता है?

आत्मा की पर्याय की योग्यता से ही ज्ञान होता है, निमित्त से ज्ञान नहीं होता। जिस समय आत्मा की पर्याय में पुरुषार्थ के द्वारा सम्यग्ज्ञान प्रगट करने की योग्यता होती है और आत्मा, सम्यग्ज्ञान

प्रगट करता है, उस समय गुरु को निमित्त कहा जाता है, किन्तु वह ज्ञान, गुरु से नहीं हुआ है। इस प्रकार दोनों की स्वतन्त्रता है।

जब जीव में प्रथम सम्यग्ज्ञान का पुरुषार्थ होता है, तब गुरु की देशना का योग होता ही है, किन्तु जब तक जीव का लक्ष्य वाणी की ओर है, तब तक राग है और जब जीव, वाणी का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव का निर्णय करता है, तब सम्यग्ज्ञान होता है और गुरु को उसका निमित्त कहा जाता है। गुरु के बहुमान से शिष्य यह भी कहता है कि मुझे गुरु से ज्ञान हुआ, गुरु ने बड़ा उपकार किया।

यह कहना कि मुझे 'गुरु से ज्ञान हुआ है', विनय का व्यवहार है।

प्रश्न — ज्ञान तो स्वयं से ही हुआ है, गुरु से नहीं हुआ, यह जानते हुए भी यों कहना कि गुरु से ज्ञान हुआ है, क्या कपट नहीं कहलायेगा?

उत्तर — व्यवहार में ऐसा ही कहा जाता है, यह कपट नहीं किन्तु यथार्थ सिद्धान्त है। गुरु के बहुमान का शुभविकल्प उत्पन्न हुआ है, इसलिए निमित्त में आरोप किया जाता है।

प्रश्न — गुरु के बहुमान का विकल्प उठता है, वह तो ठीक है, किन्तु यह क्यों कहा जाता है कि 'गुरु से ज्ञान हुआ है?'

उत्तर — बहुमान का विकल्प उठा है, इसलिए निमित्त में आरोप करके व्यवहार से वैसा कहा जाता है। आरोप की भाषा ऐसी ही होती है, किन्तु वास्तव में गुरु से ज्ञान नहीं हुआ है। यदि गुरु से ज्ञान होवे तो सभी को ज्ञान हो जाता। जो स्वयं पुरुषार्थ से ज्ञान करता है, उसी के लिए गुरु को निमित्तरूप में माना जाता है - यही सिद्धान्त है।

मिट्टी में घटरूप पर्याय होने की योग्यता सदा की नहीं, उसी समय की है।

मिट्टी से घड़ा बनता है, वह उसकी वर्तमान पर्याय की उस समय की योग्यता से ही बना है, वह कुम्हार के कारण नहीं बना है। कोई यह कहे कि मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता तो सदा विद्यमान है, किन्तु जब कुम्हार ने बनाया, तब घड़ा बना, तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। मिट्टी में घड़ारूप होने की योग्यता सदा नहीं है, किन्तु वर्तमान उसी समय की पर्याय में यह योग्यता है और जिस समय पर्याय में योग्यता होती है, उस समय ही अपने उपादान से घड़ा होता है। अन्य पदार्थों से मिट्टी को अलग पहचानने के लिए द्रव्यार्थिकनय से यह कहा जाता है कि 'मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता है' किन्तु वास्तव में तो जब घड़ा होता है, उसी समय उसमें घड़ा होने की योग्यता थी, उससे पूर्व उसमें घड़ा होने की योग्यता नहीं थी, किन्तु दूसरी पर्यायें होने की योग्यता थी।

शिष्य की श्रद्धा और गुरु की स्वतन्त्रता

आत्मा, पुरुषार्थ से सच्ची श्रद्धा करता है, यह उसकी पर्याय की वर्तमान योग्यता है और गुरु अपने कारण से उपस्थित हैं। ऐसा नहीं है कि जीव ने श्रद्धा की, इसलिए गुरु को आना पड़ा और ऐसा भी नहीं है कि गुरु आये, इसलिए उनके कारण जीव को श्रद्धा हुई; दोनों अपने कारण से हैं।

यदि ऐसा माने कि गुरु आये, इसलिए श्रद्धा हुई, तो गुरु कर्ता और शिष्य की श्रद्धा-पर्याय उनका कार्य; इस प्रकार दो भिन्न द्रव्यों में कर्ता-कर्मपना हो जाएगा। अथवा ऐसा माने कि जीव ने श्रद्धा की, इसलिए गुरु आ गये, तो श्रद्धा करना कारण और गुरु का आना

उसका कार्य कहलायेगा; इस प्रकार दो द्रव्यों में कर्ता-कर्मपना हो जाएगा, जो कि सिद्धान्त विरुद्ध है। जो श्रद्धा हुई, वह श्रद्धा की पर्याय के कारण हुई और जो गुरु आये, वह गुरु की पर्याय के कारण से आये। इस प्रकार दोनों स्वतन्त्र हैं।

शास्त्र और ज्ञान की स्वतन्त्रता

शास्त्र के सामने आ जाने से ज्ञान हो गया हो – ऐसी बात नहीं है, किन्तु उस समय ज्ञान की अपनी योग्यता है। उस क्षण जीव अपनी शक्ति से ज्ञानरूप परिणमन करता है और शास्त्र, निमित्त के रूप में विद्यमान है। ज्ञान होना हो, इसलिए शास्त्र को आना ही पड़े – ऐसी बात नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि शास्त्र आया, इसलिए ज्ञान हुआ है।

आत्मा के सामान्य ज्ञानस्वभाव का विशेषरूप परिणमन होकर ही ज्ञान होता है। वह ज्ञान, निमित्त के अवलम्बन के बिना और राग के आश्रय के बिना सामान्य ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही होता है।

कुम्हार और घड़ा दोनों की स्वतन्त्रता

मिट्टी की जिस समय की पर्याय में घड़ा बनने की योग्यता है, उसी समय वह अपने उपादान से ही घड़े के रूप में परिणमित होती है और उस समय कुम्हार की उपस्थिति स्वयं उसके कारण से रहती है अथवा नहीं भी रहती, क्योंकि बाद में कुम्हार की उपस्थिति नहीं होते हुए भी मिट्टी में घड़ारूप परिणमन चलता ही रहता है।

जब घड़ा बनता है, तब उस समय कुम्हार आदि नहीं हों –ऐसा नहीं हो सकता किन्तु कुम्हार आया, इसलिए मिट्टी की अवस्था घड़ारूप हो गई – यह बात भी नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि घड़ा बनना था, इसलिए कुम्हार को आना पड़ा। वस्तुतः मिट्टी में उस

समय की स्वतन्त्र पर्याय की योग्यता से घड़ा बना है और उस समय कुम्हार अपनी पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता से उपस्थित था, किन्तु कुम्हार ने घड़ा नहीं बनाया; कुम्हार और घड़ा दोनों के परिणमन स्वतन्त्र हैं।

एक पर्याय में दो प्रकार की भिन्न-भिन्न योग्यता नहीं होती

प्रश्न — जब तक कुम्हाररूप निमित्त नहीं था, तब तक मिट्टी में से घड़ा क्यों नहीं बना?

उत्तर — यहाँ यह विशेष विचारणीय है कि जिस समय मिट्टी में से घड़ा नहीं बना, उस समय क्या उसमें घड़ा बनने की योग्यता थी? अथवा उसमें घड़ा बनने की योग्यता ही नहीं थी?

यदि ऐसा माना जाए कि जब 'मिट्टी में से घड़ा नहीं बना था तब उस समय भी मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता थी, परन्तु निमित्त नहीं मिला, इसलिए घड़ा नहीं बना,' तो यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि जब मिट्टी में घड़ारूप अवस्था नहीं हुई, तब उसमें पिण्डरूप अवस्था है और उस समय वह अवस्था होने की ही उसकी योग्यता है। जिस समय मिट्टी की पर्याय में पिण्डरूप अवस्था की योग्यता होती है, उसी समय उसमें घड़ारूप अवस्था की योग्यता नहीं हो सकती क्योंकि एक ही पर्याय में एक साथ भिन्न-भिन्न दो प्रकार की योग्यताएँ कदापि नहीं हो सकती। यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्व का है; अत: इसे प्रत्येक जगह लागू करना चाहिए।

इस सिद्धान्त से यह निश्चित हुआ कि मिट्टी में जिस समय पिण्डरूप अवस्था थी, उस समय उसमें घड़ारूप अवस्था की योग्यता ही नहीं थी; इसलिए उससे घड़ा नहीं बना, परन्तु यह बात मिथ्या

है कि मिट्टी में घड़ारूप होने की योग्यता तो थी, परन्तु कुम्हार नहीं था, इसलिए घड़ा नहीं बना।

जीव निमित्तों को मिला या हटा नहीं सकता मात्र अपना लक्ष्य बदल सकता है।

जीव अपने में शुभभाव कर सकता है, किन्तु शुभभाव करने से वह बाहर के शुभ निमित्तों को प्राप्त कर सके अथवा अशुभ निमित्तों को दूर कर सके – यह बात नहीं है। जीव स्वयं अशुभ निमित्तों से अपना लक्ष्य हटाकर शुभ निमित्तों का लक्ष्य कर सकता है, किन्तु निमित्तों को निकट लाने अथवा दूर करने में वह समर्थ नहीं है।

किसी जीव ने जिनमन्दिर अथवा किसी अन्य धर्मस्थान का शिलान्यास करने का शुभभाव किया; इसलिए जीव के भाव के कारण बाह्य में शिलान्यास की क्रिया हुई – ऐसा नहीं है। जीव निमित्त का लक्ष्य कर सकता है अथवा लक्ष्य छोड़ सकता है, किन्तु वह निमित्तरूप परपदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, इसे समझना ही भेदज्ञान है।

पञ्च महाव्रत के राग और शुद्धचारित्रदशा की भिन्नता एवं चारित्र व वस्त्रत्याग दोनों की स्वतन्त्रता

जिसे आत्मा की निर्मल, वीतरागचारित्रदशा होती है, उसके वह दशा होने से पूर्व चारित्र अङ्गीकार करने का विकल्प उत्पन्न होता है। जो विकल्प उत्पन्न हुआ, वह तो राग है, उसके कारण वीतरागभावरूप चारित्र प्रगट नहीं होता; चारित्र तो उसी समय स्वरूप की लीनता से प्रगट हुआ है।

चारित्रदशा में मुनि के शरीर की नग्नदशा ही होती है। आत्मा को चारित्र अङ्गीकार करने का विकल्प उत्पन्न हुआ उसके कारण,

अथवा चारित्रदशा प्रगट की इसलिए शरीर से वस्त्र हट गये – ऐसी बात नहीं है, किन्तु उस समय वस्त्रों के परमाणुओं की अवस्था वैसी ही योग्यतावाली थी; इसलिए वे हट गये हैं। आत्मा ने विकल्प किया, इसलिए उस विकल्प के आधीन होकर वस्त्र छूट गये, यदि ऐसा हो तो विकल्प कर्ता हुआ और वस्त्र छूटना उसका कर्म हुआ अर्थात् चेतन व जड़ दोनों द्रव्य एक हो गये। तथा ऐसा भी नहीं है कि वस्त्र छूटना था, इसलिए जीव को विकल्प उठा क्योंकि यदि ऐसा हो तो वस्त्र की पर्याय कर्ता और विकल्प उसका कर्म कहलायेगा और इस प्रकार दो द्रव्य एक हो जाएँगे।

वास्तविकता यह है कि जब स्वभाव के भानपूर्वक चारित्र का विकल्प उत्पन्न होता है और जीव, चारित्र ग्रहण करता है, तब वस्त्र छूटने का प्रसङ्ग सहज ही उसके कारण से होता है, किन्तु 'मैंने वस्त्रों का त्याग किया' अथवा 'मेरे विकल्प से वस्त्र छूट गये' – ऐसी कर्तृत्वबुद्धि धर्मी के नहीं है। चारित्रदशा में पञ्च महाव्रतादि का विकल्प होता है, किन्तु उस विकल्प के आश्रय से चारित्रदशा नहीं होती।

चारित्र में पञ्च महाव्रत के विकल्प को निमित्त कहा जाता है। वास्तव में विकल्प तो राग है, उससे स्वभावोन्मुख नहीं हुआ जाता, किन्तु जब जीव, विकल्प को छोड़कर स्वभावसन्मुख होता है, तब विकल्प को निमित्त कहा जाता है। पञ्च महाव्रतादि के विकल्प को चारित्र का निमित्त कब कहा जाता है ? यदि स्वभाव में लीनता का पुरुषार्थ करके चारित्रदशा प्रगट करे तो विकल्प को उसका निमित्त कहा जा सकता है।

यह मान्यता मिथ्या है कि पञ्च महाव्रत के विकल्प के आश्रय से चारित्र प्रगट होता है तथा मैं व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान

और व्यवहारसम्यक्‌चारित्र के परिणाम करूँ, तो उससे निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्‌चारित्र प्रगट होते हैं - यह मान्यता भी मिथ्यात्व है।

समय-समय की स्वतन्त्रता और भेदज्ञान

यह प्रत्येक वस्तु के स्वतन्त्र स्वभाव की बात है। स्वभाव की स्वतन्त्रता को न समझे और यह माने कि 'निमित्त से कार्य होता है' तो वहाँ सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञान नहीं है और सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञान के बिना शास्त्र का पठन-पाठन सच्चा नहीं है, व्रत सच्चे नहीं हैं, त्याग सच्चा नहीं है। प्रत्येक वस्तु में समय-समय की पर्याय की स्वतन्त्रता है। प्रत्येक पदार्थ में उसी के कारण से अर्थात् समय-समय की उसकी पर्याय की योग्यता से कार्य होता है। पर्याय की योग्यता उपादानकारण है और उस समय, उस कार्य के लिए अनुकूलता का आरोप जिस पर आ सकता है - ऐसी योग्यतावाली दूसरी वस्तु को निमित्त कहा जाता है; किन्तु उस निमित्त के कारण वस्तु में कुछ परिवर्तन नहीं होता - ऐसी उपादान-निमित्त की भिन्नता की यथार्थ प्रतीति ही भेदज्ञान है।

आत्मा और जड़ सब की पर्याय स्वतन्त्र है। जीव को पढ़ने का विकल्प हुआ, इसलिए पुस्तक हाथ में आ गयी - ऐसी बात नहीं है अथवा पुस्तक आ गयी, इसलिए विकल्प उत्पन्न हुआ - ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान होना था, इसलिए पढ़ने का विकल्प उठा - ऐसा भी नहीं है और पढ़ने का विकल्प उठा, इसलिए ज्ञान हुआ - ऐसा भी नहीं है। ज्ञान, पुस्तक और विकल्प तीनों ने अपना-अपना कार्य किया है।

वीतरागी भेदविज्ञान यह बताता है कि प्रत्येक पदार्थ, प्रति समय अपने स्वतन्त्र उपादान से ही कार्य करता है। वस्तुस्वरूप ऐसा

पराधीन नहीं है कि निमित्त आये तो उपादान का कार्य हो; उपादान का कार्य स्वतन्त्र अपनी ही सामर्थ्य से ही होता है।

सूर्य का उदय और छाया से धूप - दोनों की स्वतन्त्रता

जिस समय परमाणु की अवस्था में छाया से धूप होने की योग्यता होती है, उसी समय धूप होती है और उस समय सूर्य इत्यादि निमित्तरूप हैं। यह बात मिथ्या है कि सूर्य का उदय हुआ, इसलिए छाया से धूप हो गयी अथवा छाया में से धूप अवस्था होनी थी, इसलिए सूर्य इत्यादि को आना पड़ा - यह बात भी मिथ्या है। सूर्य का उदय हुआ - यह उसकी उस समय की योग्यता है और जो परमाणु छाया से धूप के रूप में हुए हैं - यह उनकी उस समय की वैसी ही योग्यता है।

केवलज्ञान और वज्रवृषभनाराचसंहनन की स्वतन्त्रता

जब केवलज्ञान होता है, तब वज्रवृषभनाराचसंहनन ही निमित्त होता है, अन्य संहनन नहीं होते, किन्तु ऐसा नहीं है कि वज्रवृषभ-नाराचसंहनन निमित्तरूप है, इसलिए केवलज्ञान हुआ और ऐसा भी नहीं है कि केवलज्ञान के कारण परमाणुओं को वज्रवृषभ-नाराचसंहननरूप होना पड़ा। जहाँ जीव की पर्याय में केवलज्ञान के पुरुषार्थ की जागृति होती है, वहाँ शरीर के परमाणुओं में वज्रवृषभ-नाराचसंहननरूप अवस्था उनकी ही योग्यता से होती है; दोनों की योग्यताएँ स्वतन्त्र हैं, किसी के कारण कोई नहीं है।

जब जीव के केवलज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होती है, तब शरीर के परमाणुओं में वज्रवृषभनाराचसंहननरूप अवस्था की ही योग्यता होती है - ऐसा सुमेल स्वभाव से ही है, कोई एक दूसरे के कारण नहीं है।

पेट्रोल और मोटर - दोनों की स्वतन्त्रता

कोई मोटर चली जा रही हो और उसकी पेट्रोल की टङ्की के फूट जाने से उसमें से पेट्रोल निकल जाए और चलती हुई मोटर रुक जाए, तो वहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि पेट्रोल निकल गया है, इसलिए मोटर रुक गयी है। जिस समय मोटर के परमाणुओं में गतिरूप अवस्था की योग्यता होती है, उस समय वह गति करती है। मोटर का प्रत्येक परमाणु अपनी स्वतन्त्र क्रियावतीशक्ति की योग्यता से गमन करता है; इसलिए यह बात ठीक नहीं है कि पेट्रोल निकल गया, इसलिए मोटर की गति रुक गयी। जिस क्षेत्र में जिस समय उसके रुकने की योग्यता थी, उसी क्षेत्र में और उसी समय मोटर रुकी है।

जीव, वाणी का कर्ता नहीं

जीव को बोलने का विकल्प-राग हुआ, इसलिए वाणी बोली गयी - ऐसा नहीं है और वाणी बोली जानेवाली थी, इसलिए विकल्प हुआ - ऐसा भी नहीं है। यदि जीव के राग के कारण वाणी बोली जाती हो तो राग कर्ता और वाणी उसका कर्म कहलायेगा और यदि ऐसा हो कि वाणी बोली जानेवाली थी, इसलिए राग हुआ तो वाणी के परमाणु कर्ता और राग उसका कर्म कहलायेगा, परन्तु राग तो जीव की पर्याय है और वाणी, परमाणु की पर्याय है, उनमें कर्ता-कर्म भाव कैसे होगा? यदि जीव की पर्याय की योग्यता हो तो राग होता है और वाणी उन परमाणुओं का उस समय का सहज परिणाम है। जब परमाणु स्वतन्त्रतया वाणीरूप परिणमित होते हैं, तब जीव के राग हो तो उसे निमित्त कहा जाता है। केवली भगवान के वाणी होती है, तथापि राग नहीं होता। (इसलिए राग, वाणी का नियमरूप निमित्त भी नहीं है।)

शरीर का गमन और जीव की इच्छा - दोनों की स्वतन्त्रता

जीव, इच्छा करता है, इसलिए शरीर चलता है - यह बात नहीं है और शरीर चलता है, इसलिए जीव को इच्छा होती है - ऐसा भी नहीं है। जब शरीर के परमाणुओं में क्रियावतीशक्ति की योग्यता से गति होती है, तब किसी जीव के अपनी अवस्था की योग्यता से इच्छा होती है और किसी के नहीं भी होती है। केवली के शरीर की गति होने पर भी इच्छा नहीं होती। अत: दोनों स्वतन्त्र हैं।

विकल्प और ध्यान - दोनों की स्वतन्त्रता

चैतन्य के ध्यान का विकल्प उठता है, वह राग है। उस विकल्परूपी निमित्त के कारण ध्यान जमता हो - ऐसी बात नहीं है, किन्तु जहाँ ध्यान जमता हो, वहाँ पहले विकल्प होता है। विकल्प के कारण ध्यान नहीं होता और ध्यान के कारण विकल्प नहीं होता। जिस पर्याय में विकल्प था, वह उस पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता से था और जिस पर्याय में ध्यान जमा है, वह उस पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता से जमा है।

सम्यक्नियतिवाद अर्थात् सर्वज्ञवाद और उसका फल

प्रश्न — यह तो नियतिवाद हो गया?

उत्तर — यह सम्यक्नियतिवाद है, मिथ्यानियतिवाद नहीं है। सम्यक्नियतिवाद का क्या अर्थ है? यही कि जिस पदार्थ में, जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस निमित्त से, जैसा होना है, वैसा होता ही है, उसमें किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है - ऐसा ज्ञान में निर्णय करना, सम्यक्नियतिवाद है और उस निर्णय में ज्ञानस्वभाव की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

जिस ज्ञान ने यह निर्णय किया कि सभी नियति है, उस ज्ञान में

यह भी निर्णय हो गया कि किसी भी द्रव्य में कुछ भी परिवर्तन करना या राग-द्वेष करना मेरा कार्य नहीं है। इस प्रकार नियत का निर्णय करने पर 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ' - ऐसा अहंकार दूर हो गया और ज्ञान, पर से उदासीन होकर, स्वभावसन्मुख हो गया। अब, राग के होने पर भी उसका निषेध करके, ज्ञान, द्रव्यस्वभाव की ओर सन्मुख होता है। जब पर्याय को जानता है, तब ज्ञान में ऐसा विचार करता है कि मेरी क्रमबद्धपर्यायें मेरे द्रव्य में से प्रगट होती हैं। त्रिकाल द्रव्य ही एक के बाद एक पर्याय को द्रवित करता है। वह त्रिकाल द्रव्य, रागस्वरूप नहीं है; इसलिए जो राग हुआ है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है और मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। इस प्रकार जिसने अपने ज्ञान में द्रव्यस्वभाव का निर्णय किया, उस जीव का ज्ञान अपने शुद्ध स्वभाव के सन्मुख होता है और उसको सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होते हैं; वह पर से उदासीन हुआ है। राग का अकर्ता होकर, पर से तथा विकार से हटकर, उसकी बुद्धि ज्ञानस्वभाव में ही झुक गयी है; यह सम्यक् नियतिवाद का और सर्वज्ञ के निर्णय का फल है। इसमें ज्ञान और पुरुषार्थ की स्वीकृती है, किन्तु जो जीव एकान्तनियतिवाद को मानता है अर्थात् नियति के निर्णय में अपना जो ज्ञान और पुरुषार्थ आता है, उसका स्वीकार नहीं करता और स्वभावसन्मुख नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है और उसका नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व का भेद है, इसलिए वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है।

सम्यक्नियतिवाद में पाँचों समवाय

जो अज्ञानी यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते, उन्हें ऐसा लगता है कि यह तो एकान्त नियतिवाद है किन्तु इस नियतिवाद का यथार्थ निर्णय करने पर अपने केवलज्ञान का निर्णय हो जाता है। अस्थिरता का जो विकल्प उठता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है; इस प्रकार राग

का कर्त्तत्व उड़ जाता है। ऐसे सम्यक्नियतिवाद की श्रद्धा में पाँचों समवाय एक साथ आ जाते हैं।

पहले तो स्वभाव का ज्ञान और श्रद्धा की, वह **पुरुषार्थ**;

उसी समय जो निर्मलपर्याय प्रगट होनी नियत थी, वही पर्याय प्रगटी है, यह **नियत**;

उस समय जो पर्याय प्रगट हुई, वही **स्वकाल**;

जो पर्याय प्रगट हुई, वह स्वभाव में थी, वही प्रगट हुई, इसलिए वह **स्वभाव**;

उस समय पुद्गलकर्म का स्वयं अभाव होता है, वह अभावरूप निमित्त एवं सद्गुरु इत्यादि हों, वे सद्भावरूप **निमित्त** हैं।

पर्याय क्रमबद्ध ही होती है, इसकी श्रद्धा करने पर अथवा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने पर जीव, जगत् का साक्षी हो जाता है। इसमें स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है - यह जैनदर्शन का मूलभूत रहस्य है।

सम्यक्नियतिवाद और मिथ्यानियतिवाद

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की 882 वीं गाथा में जिस नियतिवादी जीव की गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है, वह जीव तो नियतिवाद की बात करता है, किन्तु वह न तो सर्वज्ञ को मानता है और न अपने ज्ञान में ज्ञाता-दृष्टापने का पुरुषार्थ करता है। यदि सम्यक्नियतिवाद का यथार्थ निर्णय करे तो उसमें सर्वज्ञ का निर्णय और स्वभाव के ज्ञाता-दृष्टापने का पुरुषार्थ आ ही जाता है और यह सम्यक्निर्णय गृहीत एवं अगृहीतमिथ्यात्व का नाश करनेवाला है। सम्यक्-नियतिवाद कहो या स्वभाव कहो; उसमें प्रत्येक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता सिद्ध हो जाती है। यदि इस न्याय को जीव भलीभाँति समझे तो

उपादान-निमित्त सम्बन्धी सभी गड़बड़ दूर हो जाए, क्योंकि जिस वस्तु में जिस समय जो पर्याय होती है, वही होती है, तो फिर 'निमित्त उसको करे या निमित्त के बिना वह न हो' – इस बात को अवकाश ही कहाँ है ? जो जीव सर्वज्ञ को जानकर, नियतिवाद को मानकर, पर के और राग के कर्त्तत्व का अभाव करता है तथा ज्ञाता-दृष्टापनेरूप साक्षीभाव प्रगट करता है, वह जीव अनन्त पुरुषार्थी सम्यग्दृष्टि है।

कौन कहता है कि सम्यक्नियतिवाद, गृहीतमिथ्यात्व है ?

सम्यक्नियतिवाद, गृहीतमिथ्यात्व नहीं किन्तु वीतरागता का कारण है। जो सर्वज्ञ के स्वीकाररूप ऐसे सम्यक्नियतिवाद को एकान्तमिथ्यात्व कहते हैं, उन्होंने इस बात को यथार्थतया समझा तो नहीं, भलीभाँति सुना तक नहीं है।

सम्यक्नियतिवाद के निर्णय में तो वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति है और केवलज्ञान की प्रतीति है। अपनी अवस्था का आधार द्रव्य है और द्रव्यस्वभाव शुद्ध है – ऐसी प्रतीति के साथ 'जो होना हो सो होता है' इस प्रकार जो मानता है, वह जीव वीतरागदृष्टि है। उसका निर्णय वीतरागता का कारण है।

नियतिवाद के दो प्रकार है — एक सम्यक्नियतिवाद और दूसरा मिथ्यानियतिवाद। सम्यक्नियतिवाद, वीतरागता का कारण है, उसका स्वरूप ऊपर बताया है। कोई जीव इस प्रकार नियतिवाद को मानता तो है कि 'जैसा होना हो, वैसा ही होता है' किन्तु पर का लक्ष्य और पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावसन्मुख नहीं होता अथवा नियति का निश्चय करनेवाले अपने ज्ञान और पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता को जो स्वीकार नहीं करता; पर और विकार के कर्तृत्वरूप अभिमान को नहीं छोड़ता; इस प्रकार पुरुषार्थ का निषेध करके स्वच्छन्दता से

प्रवृत्ति करता है, उसे गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है, उसका नियत एकान्त नियतिवाद है।

'जो होना हो सो होता है' इस प्रकार मात्र परलक्ष्य से मानना यथार्थ नहीं है। 'होना हो सो होता है' यदि ऐसा यथार्थ निर्णय हो तो जीव का ज्ञान, पर के प्रति उदासीन होकर, अपने स्वभाव की ओर झुक जाए और उस ज्ञान में यथार्थ शान्ति व पर का अकर्त्तत्व हो जाए। उस ज्ञान के साथ ही पुरुषार्थ, नियति, काल, स्वभाव और कर्म, यह पाँचों समवाय आ जाते हैं।

प्रश्न — मिथ्यानियतिवादी जीव भी, जब परवस्तु बिगड़ जाती है अथवा नष्ट हो जाती है, तब यह मानकर शान्ति तो रखता ही है कि 'जैसा होना था सो हो गया' तब फिर उसके नियतिवाद को सच्चा क्यों नहीं माना जाए?

उत्तर — वह जीव जो शान्ति रखता है, वह यथार्थ शान्ति नहीं है, किन्तु मन्दकषायरूप शान्ति है। यदि नियतिवाद का यथार्थ निर्णय हो तो, जिस प्रकार उस एक पदार्थ का जैसा होना था, वैसा हुआ; उसी प्रकार समस्त पदार्थों का जैसा होना हो, वैसा ही होता है - ऐसा भी निर्णय होना चाहिए और यदि ऐसा निर्णय हो तो फिर यह सब मान्यताएँ दूर हो जाती है कि 'मैं परद्रव्य का निमित्त होकर उसका कार्य करूँ।' जिस कार्य में, जिस समय, जिस निमित्त की उपस्थिति रहनी हो, उस कार्य में, उस सयम, वह निमित्त स्वयमेव होता ही है, तब फिर ऐसी मान्यताओं को अवकाश ही कहाँ रहेगा कि 'निमित्त मिलाना चाहिए' अथवा निमित्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती, अथवा निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता? यदि सम्यक् - नियतिवाद का निर्णय हो तो निमित्ताधीनदृष्टि दूर हो जाती है।

प्रश्न — मिथ्यानियतिवाद को गृहीतमिथ्यात्व क्यों कहा है?

उत्तर — निमित्त से धर्म होता है, राग से धर्म होता है, शरीरादि का आत्मा कुछ कर सकता है - ऐसी मान्यता के रूप में अगृहीत - मिथ्यात्व अनादिकाल से विद्यमान था और जन्म के बाद शास्त्रों को पढ़कर अथवा कुगुरु इत्यादि के निमित्त से मिथ्या-नियतिवाद का नवीन कदाग्रह ग्रहण किया; इसलिए उसे गृहीतमिथ्यात्व कहा जाता है। पहले जिसे अनादिकालीन अगृहीत -मिथ्यात्व होता है; उसी को गृहीतमिथ्यात्व होता है।

जीव, इन्द्रिय-विषयों की पुष्टि के लिए 'जो होना होगा सो होगा' ऐसा कहकर साता में रञ्जित होने की आदत से स्वच्छन्दता का मार्ग ढूँढ़ निकालते हैं, उसका नाम गृहीत-मिथ्यात्व है। वह जीव न तो सर्वज्ञ को पहचानता है और न वस्तु के स्वरूप को ही जानता है। सम्यक्नियतिवाद तो स्वभावभाव है, स्वतन्त्रता है, वीतरागता है; उसमें सर्वज्ञ की और वस्तुस्वभाव की पहचान है।

सम्यक्नियतिवाद के निर्णय से निमित्ताधीनदृष्टि और स्व-पर की एकत्वबुद्धि का अभाव

जिस वस्तु में, जिस समय, जैसी पर्याय होनी हो और जिस निमित्त की उपस्थिति में होनी हो; उस वस्तु में, उस समय, वैसी पर्याय होती ही है और वे निमित्त ही उस समय होते हैं - इस नियम में तीन लोक और तीन काल में कोई परिवर्तन नहीं होता। यही यथार्थ नियति का निर्णय है; इसमें आत्मस्वभाव के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आ जाते हैं और निमित्त की दृष्टि दूर हो जाती है। जिसकी ऐसी मान्यता है कि 'मैं पर का कर्ता तो नहीं हूँ किन्तु मैं निमित्त बनकर उसकी पर्याय में आगे-पीछे कर दूँ', वह मिथ्यादृष्टि है।

यह निमित्त है, इसलिए पर का कार्य होता है - ऐसी बात नहीं

है, किन्तु प्रस्तुत वस्तु में उसकी योग्यता से जो कार्य होता है, उसमें अन्य वस्तु की निमित्त कहा जाता है। वस्तु में कार्य नहीं होना था, किन्तु मैं निमित्त हुआ, तब उसमें कार्य हुआ – ऐसी मान्यता में तो स्व-पर की एकत्वबुद्धि ही हुई।

लकड़ी अपने आप ऊँची होती है

'यह लकड़ी है, इसमें ऊपर उठने की योग्यता है, किन्तु जब मेरा हाथ उसे स्पर्श करता है, तब वह उठती है अर्थात् जब मेरा हाथ उसके लिए निमित्त होता है, तब वह उठती है' – ऐसा माननेवाला वस्तु की पर्याय को स्वतन्त्र नहीं मानता, अर्थात् उसकी संयोगीदृष्टि है। वह वस्तु के स्वभाव को ही नहीं मानता; इसलिए मिथ्यादृष्टि है।

जब लकड़ी ऊपर नहीं उठती, तब उसमें ऊपर उठने की योग्यता ही नहीं है और जब उसमें योग्यता होती है, तब वह स्वयं ऊपर उठती है, उसे हाथ ने नहीं उठाया, किन्तु जब वह ऊपर उठती है, तब हाथ इत्यादि निमित्त स्वयमेव होते ही हैं। इस प्रकार उपादान-निमित्त का मेल स्वभाव से ही होता है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिए ऐसा कथन मात्र व्यवहार ही है कि 'हाथ के निमित्त से लकड़ी ऊपर उठी है।'

लोह चुम्बक सुई की क्रिया नहीं करता

लोह चुम्बक की ओर लोहे की सुई खिंचती है, वहाँ लोह चुम्बक, सुई को नहीं खींचती किन्तु सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती है।

प्रश्न — यदि सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती हो तो जब लोह चुम्बक उसके पास नहीं थी, तब उसने गमन क्यों नहीं किया? और जब लोह चुम्बक निकट आया, तभी क्यों गमन किया?

उत्तर — पहले सुई में गमन करने की योग्यता ही नहीं थी, इसलिए उस समय लोह चुम्बक उसके पास (सुई को खींचने योग्य क्षेत्र में) हो ही नहीं सकती और जब सुई में क्षेत्रान्तर करने की योग्यता होती है, तब लोह चुम्बक आदि कोई निमित्त होता है। उपादान-निमित्त का ऐसा ही सम्बन्ध है कि दोनों का मेल होता है, तथापि एक-दूसरे के कारण किसी की क्रिया नहीं होती। सुई की गमन करने की योग्यता हुई, इसलिए लोह चुम्बक निकट आयी - यह बात नहीं है और लोह चुम्बक निकट आयी, इसलिए सुई खिंच गई - ऐसा भी नहीं है, किन्तु जब सुई की क्षेत्रान्तर होने की योग्यता होती है, उसी समय लोह चुम्बक के उस क्षेत्र में ही रहने की योग्यता होती है, इसी का नाम निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; किन्तु हैं दोनों स्वतन्त्र।

निमित्तपने की योग्यता

प्रश्न — जब लोह चुम्बक, सुई में कुछ भी नहीं करती तो फिर उसी को निमित्त क्यों कहा है? अन्य सामान्य पत्थर को निमित्त क्यों नहीं कहा? जैसे लोह चुम्बक, सुई में कुछ नहीं करती, तथापि वह निमित्त कहलाती है, तब फिर लोह चुम्बक की भाँति अन्य पत्थर भी सुई में कुछ नहीं करते; तथापि उन्हें निमित्त क्यों नहीं कहा जाता?

उत्तर — उस समय, उस कार्य के लिए लोह चुम्बक में ही निमित्तपने की योग्यता है; अर्थात्, उपादान के कार्य के लिए अनुकूलता का आरोप की जाने योग्य योग्यता लोह चुम्बक की उस समय की पर्याय में है, दूसरे पत्थर में वैसी योग्यता उस समय नहीं है। जैसे सुई में उपादान की योग्यता है, इसलिए वह खिंचती है; इसी प्रकार उसी समय लोह चुम्बक में निमित्तपने की योग्यता है, इसलिए उसे

निमित्त कहा जाता है। एक समय की उपादान की योग्यता, उपादान में है और एक समय की निमित्त की योग्यता, निमित्त में है किन्तु दोनों की योग्यता का मेल है; इसलिए अनुकूल निमित्त कहलाता है।

लोह चुम्बक में निमित्तपने की जो योग्यता है, उसे अन्य समस्त पदार्थों से पृथक् करके पहचानने के लिए 'निमित्त' कहा जाता है, किन्तु उसके कारण सुई में विलक्षणता नहीं होती। जब उपादान में कार्य होता है, तब व्यवहार से-आरोप से दूसरे पदार्थ को निमित्त कहा जाता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए वह उपादान और निमित्त दोनों को जानता है।

सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत्

इष्टोपदेश गाथा 35 में कहा है कि सभी निमित्त 'धर्मास्तिकायवत्' है। धर्मास्तिकायपदार्थ लोक में सर्वत्र है, जब जीव और पुद्गल अपनी योग्यता से गमन करते हैं, तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है और जब वे गमन नहीं करते तो उसे निमित्त नहीं कहा जाता। धर्मास्तिकाय की भाँति ही समस्त निमित्तों का स्वरूप समझना चाहिए। धर्मास्तिकाय में निमित्तपने की ऐसी योग्यता है कि जब जीव-पुद्गल गति करते हैं, तब उन्हीं में उसे निमित्त कहा जाता है, किन्तु स्थिति में उसे निमित्त नहीं कहा जाता; स्थिति का निमित्त कहलाने की योग्यता अधर्मास्तिकाय में है।

सिद्धभगवान अलोक में क्यों नहीं जाते ?

सिद्धभगवान अपनी क्षेत्रान्तर की योग्यता से जब एक समय में लोकाग्र में गमन करते हैं, तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है परन्तु धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण उनका अलोक में गमन नहीं होता - यह कथन निमित्तसापेक्ष है। वास्तव में वे लोकाग्र में

स्थित होते हैं, यह भी उनकी ही वैसी योग्यता के कारण से है, उस समय अधर्मास्तिकाय निमित्त है।

प्रश्न — सिद्धभगवान लोकाकाश के बाहर गमन क्यों नहीं करते?

उत्तर — उनकी योग्यता ही ऐसी है, क्योंकि वह लोक का द्रव्य है और उसकी योग्यता लोक के अन्त तक ही जाने की है; लोकाकाश से बाहर जाने की उनमें योग्यता ही नहीं है। 'अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिए सिद्ध वहाँ गमन नहीं करते', इस प्रकार धर्मास्तिकायाभावात् - यह व्यवहारनय का कथन है। तात्पर्य यह है कि उपादान में स्वयं अलोकाकाश में जाने की योग्यता नहीं होती, तब निमित्त भी नहीं होता - ऐसा उपादान-निमित्त का मेल बताने के लिए ही यह कथन है।

निमित्त के कारण उपादान में विलक्षणदशा नहीं होती

प्रश्न — उपादान में निमित्त कुछ नहीं करता, यह बात सच है, किन्तु जब निमित्त होता है, तब उपादान में विलक्षण अवस्था तो होती ही है? जैसे अग्निरूपी निमित्त के आने पर पानी तो उष्ण होता ही है?

उत्तर — जिस पानी की पर्याय का स्वभाव, उसी समय गर्म होने का था, वही पानी, उसी अग्नि के संयोग में आया है और अपनी योग्यता से स्वयं ही गर्म हुआ है; अग्नि के कारण उसे विलक्षण होना पड़ा हो - ऐसी बात नहीं है और अग्नि ने पानी को गर्म नहीं किया है।

मिथ्यादृष्टि, संयोग और सम्यग्दृष्टि, स्वभाव को देखता है

'अग्नि से पानी गर्म हुआ है' - ऐसी मान्यता संयोगाधीन-पराधीनदृष्टि है और पानी अपनी योग्यता से ही गर्म हुआ है - ऐसी

मान्यता स्वतन्त्र स्वभावदृष्टि है। संयोगाधीनदृष्टिवन्त जीव, मिथ्यादृष्टि है और स्वभावदृष्टिवन्त जीव, सम्यग्दृष्टि है।

प्रत्येक कार्य वस्तु के स्वभाव की समय-समय की योग्यता से होता है। मिथ्यादृष्टि जीव उस स्वभाव को नहीं देखता, किन्तु निमित्त के संयोग को देखता है - यही उसकी पराधीनदृष्टि है। उस दृष्टि से कभी भी स्व-पर की एकत्वबुद्धि दूर नहीं होती। सम्यग्दृष्टि जीव, स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को देखता है कि प्रत्येक वस्तु की समय-समय की योग्यता से ही उसका कार्य स्वतन्त्रता से होता है और उस समय जिस निमित्त की योग्यता होती है, वही निमित्त होता है; दूसरा हो ही नहीं सकता। सबमें अपने कारण से अपनी अवस्था हो रही है। वहाँ अज्ञानी यह मानता है कि 'यह कार्य निमित्त से हुआ है अथवा निमित्त ने किया है।'

उपादान और निमित्त की स्वतन्त्र योग्यता

जब आत्मा अपनी पर्याय में राग-द्वेष-मोह करता है, तब कर्म के जिन परमाणुओं की योग्यता होती है, वे उदयरूप होते हैं, कर्म न हो ऐसा नहीं हो सकता किन्तु कर्म उदय में आया, इसलिए जीव के राग-द्वेष हुआ - ऐसा नहीं है और जीव ने राग-द्वेष किया, इसलिए कर्म उदय में आया - ऐसा भी नहीं है। जीव के अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से राग-द्वेष होने की योग्यता थी; इसीलिए राग-द्वेष हुए हैं और उस समय जिन कर्मों में योग्यता थी, वे कर्म उदय में आये हैं और उन्हीं को निमित्त कहा जाता है किन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं है।

जब ज्ञान की पर्याय अपूर्ण हो, तब ज्ञानावरणकर्म में ही निमित्तपने की योग्यता है। जब जीव अपनी पर्याय में मोह करता है, तब मोहकर्म को ही निमित्त कहा जाता है - ऐसी उन कर्मपरमाणुओं की

योग्यता है। जैसे उपादान में प्रति समय स्वतन्त्र योग्यता है, उसी प्रकार निमित्तरूप कर्म के प्रत्येक परमाणुओं में भी समय - समय की स्वतन्त्र योग्यता है।

प्रश्न — क्या यह सच नहीं है कि जीव ने राग-द्वेष किये, इसलिए परमाणुओं में कर्मरूप अवस्था हुई?

उत्तर — यह कथन निमित्त का है। अमुक परमाणु ही कर्मरूप हुए और जगत् के दूसरे अनन्त परमाणु कर्मरूप क्यों नहीं हुए? - इसलिए जिन-जिन परमाणुओं में योग्यता थी, वही परमाणु कर्मरूप परिणत हुए हैं। वे अपनी योग्यता से ही कर्मरूप हुए हैं, जीव के राग-द्वेष के कारण नहीं।

प्रश्न — जब परमाणुओं में कर्मरूप होने की योग्यता होती है, तब आत्मा को राग-द्वेष करना ही चाहिए क्योंकि परमाणुओं में कर्मरूप होने का उपादान है, इसलिए वहाँ जीव के विकाररूप निमित्त होना ही चाहिए; क्या यह बात ठीक है?

उत्तर — यह दृष्टि अज्ञानी की है। भाई! तुझे अपने स्वभाव में देखने का काम है या परमाणु में देखने का? जिसकी दृष्टि स्वतन्त्र हो गयी है, वह आत्मा की ओर देखता है और जिसकी दृष्टि निमित्ताधीन है, वह परमुखापेक्षी रहता है। जिसने यह यथार्थ निर्णय किया है कि 'जब जिस वस्तु की जो अवस्था होनी हो, वही होती है;' उसके द्रव्यदृष्टि होती है, स्वभावदृष्टि होती है; उसकी स्वभावदृष्टि में तीव्र रागादि तो होते ही नहीं और उस जीव के निमित्त से तीव्रकर्मरूप परिणमित होने की योग्यतावाले परमाणु ही इस जगत में नहीं होते।

जब जीव ने अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन प्रगट किया वहाँ उस जीव के लिए मिथ्यात्वादि कर्मरूप से परिणमित

होने की योग्यता विश्व के किसी परमाणु में होती ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि के जो अल्प राग-द्वेष है, वह अपनी वर्तमान पर्याय की योग्यता से है, उस समय अल्प कर्मरूप से बँधने की योग्यता परमाणु की पर्याय में है। इस प्रकार स्वलक्ष्य से प्रारम्भ करना है।

'जगत् के परमाणुओं में मिथ्यात्वादि कर्मरूप होने की योग्यता है; इसलिए जीव के मिथ्यात्वादि भाव होना ही चाहिए' -जिसकी ऐसी मान्यता है, वह जीव स्वद्रव्य के स्वभाव को नहीं जानता और इसलिए उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादिरूप परिणमित होने योग्य परमाणु इस जगत् में विद्यमान हैं - ऐसा जानना चाहिए किन्तु स्वभावदृष्टि से देखनेवाले जीव के मिथ्यात्व होता ही नहीं और उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादिरूप परिणमित होने की योग्यता ही जगत् के किसी परमाणु में नहीं होती।

स्वभावदृष्टि से ज्ञानी विकार के अकर्ता हो गये हैं, इसलिए यह बात ही मिथ्या है कि 'ज्ञानी को पर के कारण विकार करना पड़ता है।' जो अल्प विकार होता है, वह भी स्वभावदृष्टि के बल अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा दूर होता जाता है। ऐसी स्वतन्त्र स्वभावदृष्टि (सम्यक्श्रद्धा) किये बिना जीव जो कुछ शुभभावरूप व्रत, तप, त्याग करता है, वे सब 'अरण्यरोदन' के समान निष्फल है।

फूँक से पर्वत को उड़ाने की बात!

शङ्का — 'वस्तु में जब जो पर्याय होनी होती है, वह होती है और तब निमित्त अवश्य होता है किन्तु निमित्त कुछ नहीं करता और निमित्त के द्वारा कोई कार्य नहीं होता' - यह तो फूँक से पर्वत को उड़ाने जैसी बात है?

समाधान — नहीं, यहाँ फूँक से भी पर्वत को उड़ाने की बात

नहीं है। पर्वत के अनन्त परमाणुओं में उड़ने योग्यता हो तो पर्वत अपने आप उड़ता है, पर्वत को उड़ाने के लिए फूँक की भी आवश्यकता नहीं होती। यहाँ किसी के मन में यह हो सकता है कि 'अरे यह कैसी बात है! क्या पर्वत भी अपने आप उड़ते होंगे?' किन्तु भाई! वस्तु में जो काम होता है अर्थात् जो पर्याय होती है, वह उसकी अपनी ही शक्ति से, योग्यता से होती है। **वस्तु की शक्तियाँ अन्य की अपेक्षा नहीं रखती।** परवस्तु का उसमें अभाव है तो वह क्या करे?

उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त

प्रश्न — निमित्त के दो प्रकार हैं - एक उदासीन, दूसरा प्रेरक। इनमें से उदासीन निमित्त कुछ नहीं करता परन्तु प्रेरक निमित्त तो उदासीन को कुछ प्रेरणा करता है?

उत्तर — निमित्त के भिन्न-भिन्न प्रकार बताने के लिए यह दो भेद हैं किन्तु उनमें से कोई भी निमित्त, उपादान में कुछ भी नहीं करता अथवा निमित्त के कारण उपादान में कोई विलक्षणता नहीं आती। प्रेरक निमित्त भी पर में कुछ नहीं करता। सभी निमित्त 'धर्मास्तिकायवत्' है।

प्रश्न — प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त की क्या परिभाषा है?

उत्तर — उपादान की अपेक्षा से तो दोनों पर हैं, दोनों अकिञ्चित्कर हैं; इसलिए दोनों समान हैं। निमित्त की अपेक्षा से यह दो भेद हैं। जो निमित्त स्वयं इच्छावान या गतिवान होता है, वह प्रेरक निमित्त कहलाता है और जो निमित्त स्वयं स्थिर या इच्छारहित होता है, वह उदासीन निमित्त कहलाता है। इच्छावान जीव और

गतिवान अजीव प्रेरक निमित्त हैं और इच्छारहित जीव तथा गतिहीन अजीव उदासीन निमित्त हैं परन्तु दोनों प्रकार के निमित्त पर में बिल्कुल कार्य नहीं करते। जब घड़ा बनता है, तब उसमें कुम्हार और चाक प्रेरक निमित्त हैं तथा धर्मास्तिकाय इत्यादि उदासीन निमित्त हैं किन्तु हैं तो सब अकिञ्चित्कर।

यह बात निमित्त की है कि भगवान महावीर के समवसरण में गौतमगणधर के आने से दिव्यध्वनि खिरी और पहले छियासठ दिन तक उनके न आने से भगवान की ध्वनि खिरने से रुकी रही। वाणी के परमाणुओं में जिस समय वाणीरूप से परिणमित होने की योग्यता थी, उस समय ही वे वाणीरूप में परिणमित हुए और उस समय वहाँ गणधरदेव की अवश्य उपस्थिति रहती है। गणधर आये इसलिए वाणी छूटी – ऐसी बात नहीं है। गणधर जिस समय आये, उसी समय उनकी आने की योग्यता थी – ऐसा ही सहज निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है; इसलिए इस तर्क को अवकाश ही नहीं है कि यदि गौतमगणधर न आये होते तो वाणी कैसे छूटती?

निमित्त न हो तो... ?

'कार्य होना हो और निमित्त न हो तो... ?' ऐसी शङ्का करनेवाले से ज्ञानी पूछते हैं कि 'हे भाई! इस जगत् में तू जीव ही न होता तो? अथवा तू अजीव होता तो?' तब शङ्काकार उत्तर देता है कि 'मैं जीव ही हूँ' इसलिए दूसरे तर्क को स्थान नहीं है।

तब ज्ञानी कहते हैं कि जैसे, तू स्वभाव से ही जीव है, इसलिए उसमें दूसरे तर्क को स्थान नहीं है; इसी प्रकार 'जब उपादान में कार्य होता है, तब निमित्त उपस्थित ही है' – ऐसा ही उपादान –निमित्त का स्वभाव है, इसलिए इसमें दूसरे तर्क को अवकाश नहीं है।

कमल में विकसित होने की योग्यता हो किन्तु यदि सूर्योदय न हो तो ?

कमल के खिलने और सूर्य के उदय होने में सहज निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु सूर्य का उदय हुआ, इसलिए कमल खिला ऐसा नहीं, वह तो अपनी उस पर्याय की योग्यता से खिला है।

प्रश्न — यदि सूर्योदय न हो तब तो कमल नहीं खिलेगा ?

उत्तर — 'कार्य होना हो किन्तु निमित्त न हो तो ?' ऐसा ही यह प्रश्न है, इसका समाधान उपरोक्त युक्ति के अनुसार समझ लेना चाहिए। जब कमल में खिलने की योग्यता होती है, तब सूर्य में भी अपने ही कारण से उदित होने की योग्यता होती है - ऐसा स्वभाव है। कमल में विकसित होने की योग्यता हो और सूर्य में उदित होने की योग्यता न हो - ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। तथापि सूर्य के कारण कमल नहीं खिलता और कमल को खिलना है; इसलिए सूर्य उदय होता है - ऐसा भी नहीं है।

प्रश्न — यदि सूर्य के कारण कमल नहीं खिलता हो तो ऐसा क्यों होता है कि जब सूर्योदय छह बजे होता है, तब कमल भी छह बजे खिलता है और जब सूर्योदय सात बजे होता है, तब कमल भी सात बजे खिलता है ?

उत्तर — उसी समय कमल में खिलने की योग्यता है, इसीलिए वह तभी खिलता है। पहले उसमें अपने में ही खिलने की योग्यता नहीं थी और उसकी योग्यता बन्द रहने की ही थी। वस्तु में एक समय में दो विरुद्ध प्रकार की पर्यायों की योग्यता नहीं हो सकती।

जैनदर्शन का मूल रहस्य।

वस्तुस्वभाव स्वतन्त्र, निरपेक्ष है। जब तक स्व-पर की

भिन्नतारूप इस स्वभाव को न जान ले, तब तक जीव को पर से सच्ची उदासीनता नहीं होती, विकार का स्वामित्व नहीं मिटता और अपनी पर्याय का स्वामी (आधार) जो आत्मस्वभाव है, उसकी दृष्टि नहीं होती। यह स्वतन्त्रता जैनदर्शन का मूल रहस्य है।

एक परमाणु की स्वतन्त्र शक्ति

प्रत्येक जीव तथा अजीव द्रव्यों की पर्याय स्वतन्त्रतया अपने से ही होती है। एक परमाणु भी अपनी ही शक्ति से परिणमित होता है; उसमें निमित्त क्या करता है? एक परमाणु पहले समय में काला होता है और दूसरे समय में सफेद हो जाता है तथा पहले समय में एक अंश काला और दूसरे समय में अनन्त गुना काला हो जाता है, इसमें निमित्त ने क्या किया? वह तो अपनी योग्यता से परिणमित होता है।

इन्द्रियों और ज्ञान का स्वतन्त्र परिणमन

यह बात मिथ्या है कि जड़ इन्द्रियाँ हैं, इसलिए आत्मा को ज्ञान होता है। आत्मा का त्रिकाल सामान्य ज्ञानस्वभाव अपने कारण से प्रतिसमय परिणमित होता है और जिस पर्याय में जैसी योग्यता होती है, उतना ही ज्ञान का विकास होता है। पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान का विकास है, इसलिए पाँच बाह्य इन्द्रियाँ हैं – ऐसी बात नहीं है, और पाँच इन्द्रियाँ हैं, इसलिए ज्ञान का विकास है – ऐसा भी नहीं है। ज्ञान की पर्याय में जितनी योग्यता थी, उतना विकास हुआ है और जिन परमाणुओं में इन्द्रियरूप होने की योग्यता थी, वे स्वयं इन्द्रियरूप में परिणमित हुए हैं; तथापि दोनों का निमित्त-नैमित्तिक मेल है। जिस जीव के एक ही इन्द्रिय-सम्बन्धी ज्ञान का विकास होता है, उसके एक ही इन्द्रिय होती है; दोवाले के दो; तीनवाले के तीन; चारवाले के चार और पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विकासवाले के पाँचों ही इन्द्रियाँ

होती हैं। वहाँ दोनों का स्वतन्त्र परिणमन है। एक के कारण दूसरे में कुछ नहीं हुआ है, इसी को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं।

राग-द्वेष का कारण कौन है? सम्यग्दृष्टि के भी राग-द्वेष क्यों होता है?

प्रश्न — यदि कर्म आत्मा को विकार नहीं कराते हों तो आत्मा में विकार होने का कारण कौन है? सम्यग्दृष्टि जीवों के विकार करने की भावना नहीं होती, तथापि उनके भी विकार होता है, इसलिए कर्म विकार कराते हैं न?

उत्तर — कर्म आत्मा को विकार कराता है - यह बात मिथ्या है। आत्मा को अपनी पर्याय के दोष से ही विकार होता है, कर्म, विकार नहीं कराता। सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष करने की भावना नहीं होने पर भी राग-द्वेष होता है, इसका कारण चारित्रगुण की वैसी पर्याय की योग्यता है। राग-द्वेष की भावना नहीं है, वह तो श्रद्धागुण की पर्याय है और राग-द्वेष होता है, यह चारित्रगुण की पर्याय है। अतः इस राग-द्वेष का कारण न तो परद्रव्य है और न आत्मस्वभाव ही उसका कारण है; तत्कालीन पर्याय ही कारण है।

सम्यक् निर्णय का बल और फल

प्रश्न — जो विकार होता है, वह चारित्रगुण की पर्याय की ही योग्यता है, तब फिर जहाँ तक चारित्रगुण की पर्याय में विकार होने की योग्यता होगी, वहाँ तक विकार होता ही रहेगा? ऐसा होने पर विकार को दूर करना जीव के आधीन कैसे रहा?

उत्तर — प्रत्येक समय की स्वतन्त्र योग्यता है - ऐसा निर्णय किस ज्ञान में किया है? त्रिकाली स्वभाव के सन्मुख हुए बिना, ज्ञान में एक-एक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय नहीं हो

सकता और जहाँ ज्ञान, त्रिकाली स्वभाव के सन्मुख हुआ, वहाँ स्वभाव की प्रतीति के बल से पर्याय में से राग-द्वेष होने की योग्यता प्रतिक्षण घटती ही जाती है। जिसने स्वभाव का निर्णय किया, उसकी पर्याय में अधिक समय तक राग-द्वेष रहें, या अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष रहें; ऐसी योग्यता कदापि नहीं होती - ऐसा ही सम्यक् निर्णय का बल है और मोक्ष इसका फल है।

कार्य में निमित्त कुछ नहीं करता तथापि उसे 'कारण' क्यों कहा गया है?

कार्य के दो कारण कहे गये हैं; इनमें एक उपादानकारण ही यथार्थ कारण है, दूसरा निमित्तकारण तो आरोपित कारण है। उपादान और निमित्त, इन दो कारणों के कहने का आशय ऐसा नहीं है कि दोनों एकत्रित होकर कार्य करते हैं। जब उपादानकारण स्वयं कार्य करता है, तब दूसरी वस्तु पर आरोप करके उसे निमित्तकारण कहा जाता है किन्तु वास्तव में दो कारण नहीं हैं, एक ही कारण है। जैसे मोक्षमार्ग दो नहीं, एक ही है।

प्रश्न — जब निमित्त वास्तव में कारण नहीं है, तब फिर उसे कारण क्यों कहा?

उत्तर — जिसे निमित्त कहा जाता है, उस पदार्थ में उस प्रकार की अर्थात् निमित्तरूप होने की योग्यता है; इसलिए अन्य पदार्थों से पृथक् पहिचानने के लिए उसे 'निमित्तकारण' की संज्ञा दी गयी है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए वह पर को भी जानता है और पर में जो निमित्तपने की योग्यता है, उसे भी जानता है।

कर्मोदय के कारण जीव को विकार नहीं होता

जब जीव की पर्याय में विकार होता है, तब कर्म निमित्तरूप

अवश्य होता है किन्तु जीव की पर्याय और कर्म दोनों मिलकर विकार नहीं करते। कर्मोदय के कारण विकार नहीं होता और विकार किया इसलिए कर्म उदय में आये, ऐसा भी नहीं है तथा जीव विकार न करे तब कर्म खिर जाते हैं, उसे निमित्त कहते हैं, उस समय उन परमाणुओं की योग्यता ही ऐसी थी।

जिस द्रव्य की, जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस संयोग में और जिस प्रकार, जैसी अवस्था होनी हो, वैसी उसी प्रकार अवश्य होती है, उसमें अन्तर हो ही नहीं सकता – इस श्रद्धा में तो वीतरागी दृष्टि हो जाती है। इसमें स्वभाव की दृढ़ता और स्थिरता की एकता है तथा विकार से उदासीन और पर से भिन्नता है; इस प्रकार इसमें प्रति समय भेदविज्ञान का वीतरागी कार्य है।

नैमित्तिक की व्याख्या

प्रश्न — नैमित्तिक का अर्थ व्याकरण के अनुसार तो ऐसा होता है कि 'जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है।' जबकि यहाँ तो यह कहा है कि निमित्त से नैमित्तिक में कुछ नहीं होता; इसका क्या कारण है?

उत्तर — 'जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है, अर्थात् निमित्त जनक और नैमित्तिक जन्य है' यह परिभाषा व्यवहार से की गयी है। वास्तव में निमित्त से नैमित्तिक नहीं होता किन्तु उपादान का जो कार्य है, वह नैमित्तिक है और जब नैमित्तिक अर्थात् कार्य होता है, तब निमित्त भी होता है; इसलिए उपचार से उस निमित्त को जनक भी कहा जाता है। नैमित्तिक का अर्थ ऐसा भी होता है कि 'जिसमें निमित्त का सम्बन्ध हो, वह नैमित्तिक है' अर्थात् जब नैमित्तिक होता है, तब निमित्त भी अवश्य ही होता है, इतना सम्बन्ध

है किन्तु यदि निमित्त, नैमित्तिक में कुछ भी करे तो उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध न रहकर कर्ता-कर्म सम्बन्ध हो जाएगा किन्तु दो भिन्न द्रव्यों के बीच में कर्ता-कर्म सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न — निमित्त के द्वारा उपादान का कार्य होता है, अतः हमें निमित्त मिलाना चाहिए; हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर — यह बात मिथ्या है। मैं निमित्त मिलाऊँ, इस मान्यता में पर की कर्तृत्वबुद्धि और पराधीनदृष्टि है। निमित्त नहीं था, इसलिए कार्य रुक गया और निमित्त मिलाऊँ तो कार्य हो, यह बात सच नहीं है, किन्तु जब कार्य होना ही नहीं था, इसलिए तब निमित्त भी नहीं था और जब कार्य होता है, तब निमित्त भी अवश्य होता है - यह अबाधित नियम है। पर निमित्तों को आत्मा प्राप्त कर सकता है - ऐसा मानना ठीक नहीं है।

इस प्रकार आत्मा को अपने कार्य में पर की अपेक्षा नहीं है।

कोई यह माने कि 'हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए' तो वह जीव सदा निमित्त की ओर ही देखा करेगा अर्थात् उसकी दृष्टि बाहर में ही रहा करेगी और वह पर की उपेक्षा करके स्वभावदृष्टि का निर्मल कार्य प्रगट नहीं कर सकेगा। निमित्त के मार्ग से उपादान का कार्य कभी नहीं होता, किन्तु उपादान की योग्यता से ही (उपादान के मार्ग से ही) उसका कार्य होता है।

जिनशासन का उपदेश :-
निमित्त की उपेक्षा करके स्वसन्मुख होओ

निमित्त की उपेक्षा नहीं करना अर्थात् परद्रव्य के साथ का सम्बन्ध नहीं तोड़ना - ऐसी मान्यता जैनशासन के विरुद्ध है।

जैनशासन का प्रयोजन दूसरे के साथ सम्बन्ध कराना नहीं, किन्तु दूसरे के साथ का सम्बन्ध छुड़ाकर वीतरागभाव कराना है। समस्त सत्शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागभाव है और वह वीतरागभाव, स्वभाव के लक्ष्य द्वारा समस्त परपदार्थों से उदासीनता होने पर ही होता है। किसी भी परलक्ष्य में रुकना शास्त्र का प्रयोजन नहीं है क्योंकि पर के लक्ष्य से राग होता है। निमित्त भी परद्रव्य है, इसलिए निमित्त की अपेक्षा छोड़कर अर्थात् उसकी उपेक्षा करके, अपने स्वभाव के सन्मुख होना ही प्रयोजन है। 'निमित्त की उपेक्षा करने योग्य नहीं है, अर्थात् निमित्त का लक्ष्य छोड़ने योग्य नहीं है' - ऐसा अभिप्राय मिथ्यात्व है और उस मिथ्याअभिप्राय को छोड़ने के बाद भी अस्थिरता के कारण निमित्त पर लक्ष्य जाता है, वह राग का कारण है; इसलिए अपने स्वभाव के आश्रय से निमित्त इत्यादि परद्रव्यों की उपेक्षा करना ही यथार्थ है।

मुमुक्षु जीवों को अवश्य समझने योग्य

यह उपादान-निमित्त सम्बन्धी बात विशेष प्रयोजनभूत है। इसे समझे बिना जीव की दो द्रव्यों में एकता की बुद्धि कदापि दूर नहीं हो सकती और स्वभाव की श्रद्धा नहीं हो सकती। स्वभाव की श्रद्धा हुए बिना स्वभाव में अभेदता नहीं होती अर्थात् जीव का कल्याण नहीं होता। ऐसा ही वस्तुस्वभाव केवलज्ञानियों ने देखा है और सन्त मुनियों ने कहा है। यदि जीव को कल्याण करना हो तो उसे यह समझना होगा।

प्रश्न — समर्थ कारण किसे कहते हैं?

उत्तर — जब उपादान में कार्य होता है, तब उपादान और निमित्त दोनों एकसाथ होते हैं; इसलिए उन दोनों को एक ही साथ समर्थ कारण कहा जाता है और वहाँ प्रतिपक्षी कारणों का अभाव ही

रहता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उपादान के कार्य में निमित्त कुछ करता है। वस्तुतः तो जब उपादान की योग्यता होती है, तब निमित्त अवश्य होता है।

प्रश्न — समर्थ कारण द्रव्य है, गुण है या पर्याय?

उत्तर — वर्तमान पर्याय ही समर्थ कारण है। पूर्व पर्याय को वर्तमान पर्याय का उपादानकारण कहना व्यवहार है। निश्चय से तो वर्तमान पर्याय स्वयं ही कारण-कार्य है और इससे भी आगे बढ़कर कहें तो एक पदार्थ में कारण और कार्य ऐसे दो भेद करना भी व्यवहार है। वास्तव में तो प्रत्येक समय की पर्याय अहेतुक है।

प्रश्न — मिट्टी को घड़े का उपादानकारण कहा जाता है, यह कैसे?

उत्तर — वास्तव में घड़े का उपादानकारण सभी मिट्टी नहीं है, किन्तु जिस समय घड़ा बनता है, उस समय की अवस्था ही स्वयं उपादानकारण है। मिट्टी को घड़े का उपादानकारण कहने का हेतु यह है कि घड़ा बनने के लिए मिट्टी में जैसी सामान्य योग्यता है, वैसी योग्यता अन्य पदार्थों में नहीं है। मिट्टी में घड़ा बनने की विशेष योग्यता तो जिस समय घड़ा बनता है, उसी समय है; उससे पूर्व उसमें घड़ा बनने की विशेष योग्यता नहीं है; इसलिए विशेष योग्यता ही सच्चा उपादानकारण है, जो कि कार्य का उत्पादक है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए उसे जीव में लागू करते हैं -

सम्यग्दर्शन प्रगट होने की सामान्य योग्यता तो प्रत्येक जीव में है, जीव से अतिरिक्त अन्य किसी में वैसी सामान्य योग्यता नहीं है। सम्यग्दर्शन की सामान्य योग्यता (शक्ति) समस्त जीवों में है किन्तु विशेष योग्यता भव्यजीवों में ही होती है; अभव्यजीवों के तथा

भव्यजीव जब तक मिथ्यादृष्टि रहता है, तब तक उसके भी सम्यग्दर्शन की विशेष योग्यता नहीं होती। विशेष योग्यता तो उसी समय है, जिस समय जीव, पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन प्रगट करता है। सामान्य योग्यता द्रव्यरूप है और विशेष योग्यता प्रगटरूप है; सामान्य योग्यता कार्य के प्रगट होने का उपादानकारण नहीं किन्तु विशेष योग्यता ही उपादानकारण है।

प्रश्न — 'चारित्रदशा प्रगट होती है, इसलिए वस्त्र नहीं छूट जाते किन्तु वस्त्र के परमाणुओं की योग्यता से ही वे छूटते हैं' - ऐसा आपने कहा है किन्तु किसी जीव के चारित्रदशा प्रगट होती हो और वस्त्र में छूटने की योग्यता न हो तो क्या सवस्त्र मुक्ति हो जाएगी?

उत्तर — सवस्त्र मुक्ति होने की तो बात ही नहीं है। चारित्रदशा का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे वस्त्र के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहता ही नहीं; इसलिए चारित्रदशा में सहज ही वस्त्र का त्याग होता है तो भी वस्त्र का त्याग उन परमाणुओं की अवस्था की योग्यता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है।

प्रश्न — यदि किसी मुनिराज के शरीर पर कोई व्यक्ति वस्त्र डाल जाए तो उस समय उनके चारित्र का क्या होगा?

उत्तर — किसी दूसरे जीव के द्वारा वस्त्र डाला जाए यह तो उपसर्ग है; इससे मुनि के चारित्र में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि उस वस्त्र के साथ उनके चारित्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है; वस्तुतः वहाँ तो वस्त्र ज्ञान का ज्ञेय है अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायकपने का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

सम्यक् नियतवाद क्या है?

वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध जिस समय जो होनी हो, वही होती

है – ऐसा 'सम्यक् नियतिवाद' जैनदर्शन का वास्तविक स्वभाव है – यही वस्तुस्वभाव है। 'नियत' शब्द शास्त्रों में अनेक जगह आता है किन्तु नियत का अर्थ है निश्चित-नियमबद्ध; वह एकान्तवाद नहीं किन्तु वस्तु का यथार्थ स्वभाव है, यही अनेकान्तवाद है। सम्यक्नियतवाद का निर्णय करते समय, बाह्य में राजपाट का संयोग हो तो वह छूट ही जाना चाहिए – ऐसा नियम नहीं है किन्तु उसके प्रति यथार्थ उदासभाव अवश्य हो जाता है। बाह्य संयोग में अन्तर पड़े या न पड़े किन्तु अन्तर के निर्णय में अन्तर पड़ जाता है।

अज्ञानी जीव नियतवाद की बातें करता है किन्तु ज्ञान और पुरुषार्थ को स्वभावसन्मुख करके निर्णय नहीं करता। नियतवाद का निर्णय करने में जो ज्ञान और पुरुषार्थ आता है, उसे यदि जीव पहिचाने तो स्वभावाश्रित वीतरागभाव प्रगट हो और पर से उदास हो जाए क्योंकि सम्यक् नियतवाद का निर्णय किया कि स्वयं सबका मात्र ज्ञानभाव से ज्ञाता-दृष्टा रह गया और पर का या राग का कर्ता नहीं रहा।

जब स्वचतुष्टय में परचतुष्टय की नास्ति ही है तो फिर उसमें पर क्या करें? जब उपादान-निमित्त का यथार्थ निर्णय हो जाता है, तब पर का कर्त्तत्वभाव उड़ जाता है और वीतरागदृष्टिपूर्वक वीतरागी स्थिरता का प्रारम्भ हो जाता है। अज्ञानीजन इस नियतवाद को एकान्तवाद और गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं किन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि यह सम्यक् नियतवाद ही अनेकान्तवाद है और इसके निर्णय में जैनदर्शन का सार आ जाता है तथा यह केवलज्ञान का कारण है।

कुछ अकस्मात् है ही नहीं

प्रश्न — सम्यग्दृष्टि के अकस्मात् भय नहीं होता, इसका क्या कारण है?

उत्तर — सम्यग्दृष्टि को यथार्थ नियतवाद का निर्णय है कि जगत् के समस्त पदार्थों की अवस्था उनकी योग्यतानुसार ही होती है। जो न होना हो - ऐसा कुछ होता ही नहीं; इसलिए कुछ अकस्मात् है ही नहीं, इस निःशङ्क श्रद्धा के कारण सम्यग्दृष्टि को अकस्मात् भय नहीं होता। वस्तु की पर्यायें क्रमशः ही होती हैं, अज्ञानी को इसकी प्रतीति नहीं है; इसलिए उसे अकस्मात् भय रहता है और कर्तृत्वबुद्धि रहती है।

निमित्त किसका ? और कब ?

यदि निमित्त के यथार्थ स्वरूप को समझे तो यह मान्यता दूर हो जाए कि निमित्त, उपादान में कुछ करता है, क्योंकि जब कार्य है, तब तो पर को उसका निमित्त कहा गया है, कार्य के बिना किसी को उसका निमित्त नहीं कहा जाता। जो कार्य हो चुका है, उसमें निमित्त क्या करेगा ? और कार्य के बिना निमित्त किसका ? कुम्हार किसका निमित्त है ? यदि घड़ारूपी कार्य हो तो कुम्हार उसका निमित्त हो और यदि कार्य ही न हो तो किसी को 'घड़े का निमित्त' कहा ही नहीं जा सकता। जब घड़ा बनता है, तभी कुम्हार को निमित्त कहा जाता है, तो फिर कुम्हार ने घड़े में कुछ भी किया - यह बात स्वयमेव असत्य सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न — उपादान में कार्य न हो तो परद्रव्य को निमित्त नहीं कहा जाता, यह बात ऊपर कही गई है परन्तु 'इस जीव को अनन्त बार धर्म का निमित्त मिला, तथापि जीव स्वयं धर्म को नहीं समझ पाया' - ऐसा कहा जाता है और उसमें जीव के धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ तो भी परद्रव्यों को धर्म का निमित्त तो कहा है ?

उत्तर — 'इस जीव को अनन्त बार धर्म का निमित्त मिला

किन्तु स्वयं धर्म को नहीं समझा' – ऐसा कहा जाता है, यहाँ यद्यपि उपादान में (जीव में) धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ; इसलिए वास्तव में उसके लिए तो वे पदार्थ धर्म के निमित्त भी नहीं हैं परन्तु जो जीव धर्म प्रगट करते हैं, उन जीवों को इस प्रकार के ही निमित्त होते हैं – ऐसा ज्ञान कराने के लिए उसे सामान्यरूप से निमित्त कहा जाता है।

अनुकूल निमित्त

अमुक पदार्थों को अनुकूल निमित्त कहा है; इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ प्रतिकूल हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के लिए अनुकूल या प्रतिकूल है ही नहीं। निमित्त को अनुकूल कहने का अर्थ इतना ही है कि कार्य के होते समय उस पदार्थ में निमित्तरूप होने की योग्यता है; इसलिए उस पर अनुकूलता का आरोप आ सकता है।

दो पर्यायों की योग्यता एक समय में नहीं होती

एक समय में दो पर्याय की योग्यताएँ कदापि नहीं होती। जिस समय जैसी योग्यता है, वैसी पर्याय प्रगट होती है और उसी समय यदि दूसरी योग्यता भी हो तो एक ही साथ दो पर्यायें हो जाएँ, परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिस समय जो पर्याय प्रगट होती है, उस समय दूसरी पर्याय की योग्यता नहीं होती। आटारूप पर्याय की योग्यता के समय रोटीरूप पर्याय की योग्यता नहीं होती, तब फिर इस बात को अवकाश ही कहाँ है कि निमित्त नहीं मिला इसलिए रोटी नहीं बनी? और जब रोटी बनती है, तब उससे पूर्व की आटारूप पर्याय का अभाव करके ही बनती है, तब फिर दूसरे को उसका कारण कैसे कहा जा सकता है? हाँ, जो परमाणु आटारूप पर्याय से व्यय हुआ, उसे रोटीरूप पर्याय का कारण कहा जा सकता है।

'जीव पराधीन है' इसका क्या अर्थ है ?

प्रश्न — समयसार नाटक में स्याद्वाद अधिकार के 9 वें काव्य में जीव को पराधीन कहा है। शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! जीव पराधीन है या स्वाधीन? तब श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि द्रव्यदृष्टि से जीव स्वाधीन है और पर्यायदृष्टि से पराधीन है। वहाँ जीव को पराधीन क्यों कहा है?

उत्तर — पर्यायदृष्टि से जीव पराधीन है अर्थात् जीव स्वयं अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर परलक्ष्य द्वारा स्वयं स्वतन्त्ररूप से पराधीन होता है परन्तु परद्रव्य जीव पर बलजोरी करके उसे पराधीन नहीं करते। पराधीन अर्थात् स्वयं स्वतन्त्ररूप से पर के आधीन होता है, पराधीनता मानता है; न कि परपदार्थ उसको आधीन करते हैं।

द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का क्रम

प्रश्न — यह उपादान-निमित्त की बात तो द्रव्यानुयोग की है। परन्तु पहले तो जीव चरणानुयोग के अनुसार श्रद्धानी हो और उस चरणानुयोग के अनुसार व्रत-प्रतिमा इत्यादि को अङ्गीकार करे और फिर द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धानी होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे - ऐसी जैनधर्म की परिपाटी कितने ही जीव मानते हैं, क्या यह ठीक है?

उत्तर — नहीं, जैनमत की ऐसी परिपाटी नहीं है। जैनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, पीछे व्रत होते हैं। सम्यक्त्व, स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है; इसलिए पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती होता है। इस प्रकार मुख्यरूप

से तो निचलीदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है तथा गौणरूप से, जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जाने, उसे पहले किसी व्रतादि का उपदेश दिया जाता है; इसलिए समस्त जीवों को मुख्यरूप से द्रव्यानुयोग के अनुसार अध्यात्म-उपदेश का अभ्यास करना चाहिए। यह जानकर निचलीदशावालों को भी द्रव्यानुयोग के अभ्यास से पराङ्मुख होना योग्य नहीं है। ●●

प्रकरण सातवाँ

सात तत्त्व – नव पदार्थ अधिकार

प्रश्न 1 – तत्त्व का क्या अर्थ है?

उत्तर – 1. 'तत्' शब्द है, वह 'यत्' शब्द की अपेक्षासहित है; इसलिए जिसका प्रकरण हो, उसे 'तत्' कहते हैं और जिसका जो भाव, अर्थात् स्वरूप है, उसे 'तत्त्व' जानना क्योंकि – **'तस्य भावस्तत्वम्'** – ऐसा तत्त्व शब्द का समास होता है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 315)

2. 'तत्त्व' शब्द का अर्थ 'तत्रूपता / उसरूपता' होता है। प्रत्येक वस्तु को – तत्त्व को स्व-रूप से तत्रूपता है और पर-रूप से अतत्रूपता है। जीव, वस्तु होने से, उसे अपने स्वरूप से तत्रूपता है और पर के स्वरूप से अतत्रूपता है।

जीव चैतन्यस्वरूप होने से ज्ञाता है और अन्य सर्व वस्तुएँ ज्ञेय हैं; इसलिए जीव अन्य सर्व पदार्थों से बिल्कुल भिन्न है। जीव अपने से तत् होने के कारण उसका ज्ञान उसे अपने से होता है; जीव, पर से अतत् होने के कारण, उसे पर से ज्ञान नहीं हो

सकता... जीव को यदि पर से ज्ञान हो तो जीव और पर एक तत्त्व हो जाएँ, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता।

(मोक्षशास्त्र, अध्याय 1, सूत्र 2 की टीका, प्रकाशक स्वा० मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़)

प्रश्न 2 – तत्त्व कितने हैं ?

उत्तर – तत्त्व सात हैं – (1) जीव, (2) अजीव, (3) आस्रव, (4) बन्ध, (5) संवर, (6) निर्जरा और (7) मोक्ष।

प्रश्न 3 – सात तत्त्वों का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – **1. जीव** – जीव, अर्थात् आत्मा। वह सदैव ज्ञातास्वरूप, पर से भिन्न और त्रिकाल स्थायी (रहनेवाला) है।

2. अजीव – जिसमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है – ऐसे द्रव्य पाँच हैं। उनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल – यह चार अरूपी हैं और पुद्गल रूपी, अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसहित है।

3. आस्रव – जीव में जो विकारी शुभाशुभभावरूप अरूपी अवस्था होती है, वह भावास्रव है और उस नवीन कर्म-योग्य रजकणों का स्वयं (स्वतः) आना-आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आना, वह द्रव्यास्रव है, उसमें जीव की अशुद्धपर्याय निमित्तमात्र है।

पुण्य और पाप दोनों आस्रव और बन्ध के भेद हैं।

पुण – दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रतादि के शुभभाव, जीव को होते हैं, वे अरूपी अशुद्धभाव हैं; वे भावपुण्य हैं। उस समय सातावेदनीय, शुभनाम आदि कर्मयोग्य परमाणुओं का समूह स्वयं (स्वतः) एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप से जीव के साथ बँधता है, वह द्रव्यपुण्य है, उसमें जीव का शुभभाव निमित्तमात्र है।

पाप – मिथ्यात्व, हिंसा, असत्य, चोरी, अव्रतादि के अशुभभाव, पाप हैं। उस समय ज्ञानावरणीय, मोहनीय, असातावेदनीय आदि कर्मयोग्य पुद्गल स्वयं (स्वतः) जीव के साथ बँधते हैं, वह द्रव्यपाप हैं, (उसमें जीव का अशुभभाव निमित्तमात्र है।)

[परमार्थतः (वास्तव में) पुण्य-पाप (शुभाशुभभाव) आत्मा को अहितकर हैं, आत्मा की क्षणिक अशुद्ध अवस्था है। समयग्दृष्टि को पुण्यभाव से आंशिक संवर-निर्जरा होते हैं, यह मान्यता मिथ्या है। द्रव्य पुण्य-पाप आत्मा का हित-अहित नहीं कर सकते।]

(समयसार कलश टीका, कलश 110 के आधार से)

बन्ध – आत्मा का अज्ञान, राग-द्वेष, पुण्य-पापरूप विभाव में रुक जाना / अटक जाना, वह भावबन्ध है और उस समय कर्मयोग्य पुद्गलों का स्वयं स्वतः जीव के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप से बँधना, वह द्रव्यबन्ध है, उसमें जीव का अशुद्धभाव निमित्तमात्र है।

संवर – पुण्य-पापरूप अशुद्धभाव को, अर्थात् आस्रव को आत्मा के शुद्धभाव द्वारा रोकना, वह भाव संवर है और तदनुसार कर्मों का आना स्वयं स्वतः रुक जाए, वह द्रव्य संवर है।

निर्जरा – अखण्डानन्द शुद्ध आत्मस्वभाव लक्ष्य के बल से आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध – शुभाशुभ इच्छारूप अवस्था की आंशिक हानि करना, वह भाव निर्जरा है; और उसका निमित्त पाकर जड़कर्म का अंशतः खिर जाना, वह द्रव्य निर्जरा।

मोक्ष – समस्त कर्मों के क्षय के कारणभूत तथा निश्चय

रत्नत्रयस्वरूप परमविशुद्ध ऐसी शुद्धपर्याय का प्रगट होना, वह भावमोक्ष है, और अपनी योग्यता से द्रव्यकर्मों का आत्मप्रदेशों से अत्यन्त अभाव होना, द्रव्यमोक्ष है।

(1) सात तत्त्वों में प्रथम दो तत्त्व 'जीव' और 'अजीव' – यह द्रव्य हैं और अन्य पाँच तत्त्व उनकी – जीव और अजीव की संयोगी और वियोगी पर्यायें – विशेष अवस्थाएँ हैं। आस्रव और बन्ध संयोगी पर्यायें हैं, तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष वे जीव-अजीव की वियोगी पर्यायें हैं।

जीव और अजीव तत्त्व **सामान्य** है और अन्य पाँच तत्त्व पर्यायें होने से **विशेष** भी कहे जाते हैं।

(2) जिसकी दशा को अशुद्ध में से शुद्ध करना है, उसका नाम तो अवश्य ही प्रथम बतलाना चाहिए, इसलिए **जीवतत्त्व** प्रथम कहा; फिर जिस ओर के लक्ष्य से अशुद्धता, अर्थात् विकार होता है, उसका नाम आना आवश्यक है, इसलिए **अजीवतत्त्व** कहा। अशुद्धदशा में कारण-कार्य का ज्ञान करने के लिए **आस्त्रव** और **बन्धतत्त्व** कहे हैं। इनके पश्चात् मुक्ति का कारण कहना चाहिए; और मुक्ति का कारण वही हो सकता है जो बन्ध और बन्ध के कारण से विपरीत प्रकार का हो; इसलिए आस्त्रव का निरोध हो, वह **संवरतत्त्व** कहा गया है। अशुद्धता-विकार निकल जाने के कार्य को '**निर्जरातत्त्व** कहा है और जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाए, वह दशा '**मोक्षतत्त्व** है...

(मोक्षशास्त्र स्वा० मं० सो० आवृत्ति अ० 1, सूत्र 4 की टीका)

प्रश्न 4 – यदि जीव और अजीव – यह दोनों द्रव्य एकान्तरूप

से (सर्वथा) परिणामी ही हों तो (1) संयोग पर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है और (2) यदि वे सर्वथा अपरिणामी हों तो जीव-अजीव द्रव्यरूप दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं – यदि ऐसा है तो आस्रवादि सात तत्त्व किस प्रकार सिद्ध होते हैं ?

उत्तर – ...जीव और अजीवद्रव्य 'कथञ्चित् परिणामी' होने से शेष पाँच तत्त्वों का कथन न्याययुक्त सिद्ध होता है।

'कथञ्चित् परिणामीपना' का अर्थ यह है कि –

जिस प्रकार स्फटिकमणि यद्यपि वह स्वभाव से निर्मल है, तथापि जासूद पुष्प आदि के समीप (अपनी योग्यता के कारण) पर्यायान्तर परिणति ग्रहण करता है; पर्याय में स्फटिकमणि यद्यपि उपाधि का ग्रहण करता है, तथापि निश्चय से अपना जो निर्मल स्वभाव है, उसे वह नहीं छोड़ता; उसी प्रकार जीव का स्वभाव भी शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से तो सहज शुद्ध चिदानन्द एकस्वरूप है, परन्तु स्वयं **अनादि कर्मबन्धरूप पर्याय के वश होने से** वह रागादि **परद्रव्य उपाधि पर्याय को** ग्रहण करता है। पर्याय में यद्यपि जीव परपर्यायरूप से, अर्थात् परद्रव्य के लक्ष्य से होनेवाली अशुद्धपर्यायरूप से परिणमित होता है, तथापि निश्चयनय से शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ता। पुद्गलद्रव्य का भी ऐसा ही होता है। इस प्रकार जीव-अजीव का परस्पर अपेक्षासहित परिणमन होना ही 'कथञ्चित् परिणामीपना' शब्द का अर्थ है।

'पूर्वोक्त जीव और अजीव – दो द्रव्यों को इन पाँच तत्त्वों में मिलाने से कुल सात तत्त्व होते हैं और उनमें पुण्य-पाप को (आस्रवों में से) पृथक् गिना जाये तो नव पदार्थ होते हैं। पुण्य और

पाप नाम के दो पदार्थों का अन्तर्भाव / समावेश अभेदनय से आस्रव – बन्ध पदार्थ में किया जाए, तब सात तत्त्व कहे जाते हैं।'

'कथञ्चित् परिणामपना' सिद्ध होने से जीव और पुद्गल के संयोग की परिणति (परिणाम) से रचित शेष आस्रवादि पाँच तत्त्व सिद्ध होते हैं। जीव में आस्रवादि पाँच तत्त्वों के परिणमन के समय पुद्गल कर्मरूप निमित्त का सद्भाव या अभाव होता है और पुद्गल में आस्रवादि पाँच तत्त्वों के परिणमन में जीव के भावरूप निमित्त का सद्भाव या अभाव होता है; इसी कारण सात तत्त्वों को 'जीव और पुद्गल के संयोग की परिणति से रचित' कहा जाता है परन्तु जीव और पुद्गल की सम्मिलित परिणति होकर शेष पाँच तत्त्व होते हैं – ऐसा नहीं समझाना चाहिए।

(मोक्षशास्त्र स्वा० मं० सो०, अ० 6, की भूमिका)

प्रश्न 5 – यद्यपि जीव–अजीव का कथञ्चित् परिणामीपना मानने से भेदप्रधान पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सात तत्त्व सिद्ध हो गये, तथापि उनसे जीव का क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? क्योंकि जिस प्रकार पहले अभेदनय से पुण्य और पाप – इन दो पदार्थों का सात तत्त्वों में अन्तर्भाव किया है, उसी प्रकार विशेष अभेदनय की विवक्षा में आस्रवादि पदार्थों का भी जीव और अजीव, इन दो ही पदार्थों में अन्तर्भाव कर लेने से वे दो ही पदार्थ सिद्ध हो जाएँगे।

उत्तर – '...कौन से तत्त्व हेय हैं और कौन से उपादेय हैं? – उसका परिज्ञान हो – इस प्रयोजन से आस्रवादि तत्तवों का निरूपण किया जाता है।'

प्रश्न 6 – उपादेय तत्त्व कौन–से हैं?

उत्तर – 'अक्षय अनन्त सुख, उपादेय है और उसका कारण मोक्ष है। मोक्ष का कारण संवर और निर्जरा है; उनका कारण विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निज आत्मस्वरूप का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण लक्षण (स्वरूप) निश्चयरत्नत्रय है। उस निश्चय रत्नत्रय को साधने की इच्छा रखनेवाले जीव को व्यवहाररत्नत्रय क्या है? – वह समझकर, परद्रव्य और राग से अपना लक्ष्य उठाकर निज आत्मा के त्रिकाली स्वरूप की ओर लक्ष्य करना चाहिए। ऐसा करने से निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसके बल से संवर, निर्जरा तथा मोक्ष प्रगट होता है; इसलिए यह तीन तत्त्व उपादेय हैं।'

प्रश्न 7 – हेय तत्त्व कौन-से हैं?

उत्तर – '...आकुलता को उत्पन्न करनेवाले ऐसे निगोद-नरकादि गतियों के दुःख तथा इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हुआ कल्पित सुख, वह हेय अर्थात् छोड़ने योग्य है; उसका कारण संसार है। उस संसार का कारण आस्रव और बन्ध – यह दो तत्त्व है; पुण्य-पाप दोनों बन्धतत्त्व हैं; उस आस्रव तथा बन्ध के कारण पूर्व कथित् निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय से विपरीत लक्षण के धारक ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, यह तीन हैं; इसलिए आस्रव और बन्ध – यह दो तत्त्व हेय हैं।

इस प्रकार हेय तथा उपादेय तत्त्वों के निरूपण से सात तत्त्वों और नव पदार्थों का प्रयोजन सिद्ध होता है।' *(मोक्षशास्त्र, पृष्ठ 477)*

प्रश्न 8 – मिथ्यादृष्टि जीव सात तत्त्वों सम्बन्धी कैसी-कैसी भूलें करता है?

उत्तर – 1. जीवतत्त्व सम्बन्धी भूल –

जीव तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है; इसे वह **अज्ञानवश** नहीं जानता और जो शरीर है, वह मैं हूँ, शरीर का कार्य मैं कर सकता हूँ – ऐसा मानता है; शरीर स्वस्थ हो तो मुझे लाभ हो, बाह्य अनुकूल संयोगों से मैं सुखी और बाह्य प्रतिकूल संयोगों से दुःखी, मैं निर्धन, मैं धनवान, मैं बलवान, मैं निर्बल, मैं मनुष्य, मैं कुरूप, मैं सुन्दर – ऐसा मानता है; शरीराश्रित उपदेश और उपवासादि क्रियाओं में निजत्व / अपनापन मानता है।

इस प्रकार अज्ञानी जीव, पर को स्व–स्वरूप मानकर अपने स्वतत्त्व का / जीवतत्त्व का इंकार करता है; इसलिए वह जीवतत्त्व सम्बन्धी भूल करता है।

2. अजीवतत्त्व सम्बन्धी भूल –

मिथ्या अभिप्रायवश जीव ऐसा मानता है कि शरीर उत्पन्न होने से मेरा जन्म हुआ, शरीर का नाश होने से मैं कर जाऊँगा; धन, शरीर इत्यादि जड़ पदार्थों में परिवर्तन होने से अपने में इष्ट–अनिष्ट परिवर्तन मानना; शरीर की उष्ण अवस्था होने पर मुझे बुखार आया; भूख–प्यास आदिरूप अवस्था होने पर मुझे भूख, प्याल लग रहे हैं – ऐसा मानना; शरीर कट जाने पर मैं कट गया – इत्यादिरूप अजीव की अवस्था को अज्ञानी जीव अपनी अवस्था मानता है – यह उसकी अजीवतत्त्व सम्बन्धी भूल है, क्योंकि वह अजीव को जीव मानता है। इसमें अजीव को स्वतत्त्व (जीवतत्त्व) मानकर वह अजीवतत्त्व को अस्वीकार करता है।

3. आस्रवतत्त्व सम्बन्धी भूल

मिथ्यात्व, राग, द्वेष, शुभाशुभभाव आस्रव हैं। वे भाव, आत्मा

को प्रगटरूप से दुःख देनेवाले हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें हितरूप मानकर उनका निरन्तर सेवन करता है, यह उसकी आस्रवतत्त्व सम्बन्धी भूल है।

4. बन्धतत्त्व सम्बन्धी भूल -

जैसी सोने की बेड़ी, वैसी ही लोहे की बेड़ी - दोनों बन्धन कारक हैं; उसी प्रकार पुण्य और पाप दोनों जीव को बन्धनकर्ता है किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा न मानकर पुण्य को अच्छा / हितकारी मानता है। तत्त्वदृष्टि से पुण्य-पाप दोनों अहितकर ही हैं, परन्तु अज्ञानी वैसा नहीं मानता, यह उसकी बन्धतत्त्व सम्बन्धी भूल है।

5. संवरतत्त्व सम्बन्धी भूल -

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जीव को हितकारी हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें कष्टदायक मानता है, यह उसकी संवरतत्त्व सम्बन्धी भूल है।

6. निर्जरातत्त्व सम्बन्धी भूल -

आत्मा में एकाग्र होकर शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की इच्छा रोकने से निजात्मा की शुद्धि का प्रतपन होना, वह तप है, और उस तप से निर्जरा होती है। ऐसा तप सुखदायक है परन्तु अज्ञानी उसे क्लेशदायक मानता है और आत्मा की ज्ञानादि अनन्त शक्तियों को भूलकर पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुख मानकर उसमें प्रतीति करता है, यह निर्जरातत्त्व सम्बन्धी भूल है। बालतप से मोक्षमार्ग के कारणरूप निर्जरा मानना भी भूल है।

7. मोक्षतत्त्व सम्बन्धी भूल -

आत्मा की परिणूर्ण शुद्धदशा का प्रगट होना, वह मोक्ष है,

उसमें आकुलता का अभाव है – पूर्ण स्वाधीन निराकुलता, वह सुख है परन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर शरीर में, राग–रङ्ग में ही सुख मानता है। मोक्ष में देह, इन्द्रिय, खान–पान, मित्रादि कुछ भी नहीं होता, इसलिए अज्ञानी अतीन्द्रिय मोक्षसुख को नहीं मानता, यह उसकी मोक्षतत्त्व सम्बन्धी भूल है।

इस प्रकार सात तत्त्वों सम्बन्धी भूल के कारण अज्ञानी जीव अनन्त काल से संसार में भटक रहा है।

प्रश्न 9 – अज्ञानी का जीव–अजीवतत्त्व का श्रद्धान क्यों अयथार्थ है?

उत्तर – 'जैन शास्त्रों में कहे हुए जीव के त्रस–स्थावर आदि भेदों को; गुणस्थान–मार्गणा आदि भेदों को; जीव–पुद्गलादि के भेदों को तथा वर्णादि भेदों को तो जीव जानता है किन्तु **अध्यात्म शास्त्रों में भेदविज्ञान के कारणभूत और वीतरागदशा होने के कारणभूत वस्तु का जैसा निरूपण किया है, वैसा जो नहीं जानता, उसे जीव–अजीतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं है...**

जिस प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार के बिना पर्यायबुद्धि से जानपने में या वर्णादि में अहंबुद्धि रखते हैं, उसी प्रकार यह भी आत्माश्रित ज्ञानादि में तथा शरीराश्रित उपदेश–उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है।

....कभी–कभी शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है, किन्तु वहाँ अन्तरङ्ग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है, इसलिए जिस प्रकार नशेबाज मनुष्य, माता को माता भी कहे, तथापि वह सयाना नहीं है, उसी प्रकार उसे भी सम्यग्दर्शनवाला नहीं कहते।

जिस प्रकार कोई दूसरे को दूसरे से भिन्न बतलाता हो, उसी प्रकार यह आत्मा और शरीर की भिन्नता का प्ररूपण करता है परन्तु मैं इन शरीरादि से भिन्न हूँ – ऐसा भाव भासित नहीं होता।

पर्याय में जीव–पुद्‌गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियाएँ होती है, उन सबको दो द्रव्यों के मिलाप से उत्पन्न मानता है, परन्तु यह जीव की क्रिया है, इसमें पुद्‌गल निमित्त है, तथा यह पुद्‌गल की क्रिया है, इसमें जीव निमित्त है; इस प्रकार भिन्न–भिन्न भाव भासित नहीं होता। इत्यादि भाव भासित हुए बिना उसे जीव–अजीव का सच्चा श्रद्धानी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जीव–अजीव को जानने का प्रयोजन तो यही था, जो इसे नहीं हुआ।'

(मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 225-226 के आधार पर)

प्रश्न 10 – अज्ञानी को आस्रवतत्त्व सम्बन्धी कैसी श्रद्धा होती है ?

उत्तर – ... उस आस्रवतत्त्व में जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं, उन्हें तो हेय जानता है तथा अहिंसारूप पुण्यास्रव हैं, उन्हें उपादेय मानता है क्योंकि यह दोनों कर्मबन्ध के ही कारण है; इसलिए उनमें उपादेयपना मानना ही मिथ्यादर्शन है।

हिंसा में मारने की बुद्धि होती है, किन्तु जीव की आयु पूरी हुए बिना वह नहीं मरता; और यह अपनी द्वेषपरिणति से स्वयं ही पापबन्ध करता है, तथा अहिंसा में रक्षा करने की बुद्धि होती है, किन्तु उसकी आयु–अवशेष के बिना वह नहीं जीता, मात्र यह अपनी प्रशस्त रागपरिणति से स्वयं ही पुण्यबन्ध करता है। इस प्रकार ये दोनों हेय हैं और जहाँ वीतराग होकर ज्ञाता–दृष्टारूप प्रवर्तन करे, वहाँ निर्बन्धता है, इसलिए वह उपादेय है किन्तु ऐसी

दशा न हो, तब तक प्रशस्त रागरूप प्रवर्तन करो परन्तु **श्रद्धान तो ऐसा रखो कि यह भी बन्ध का कारण है - हेय है; यदि श्रद्धान में उसे मोक्षमार्ग माने तो वह मिथ्यादृष्टि हैं।**

राग-द्वेष-मोहरूप जो आस्रवभाव है, उनका नाश करने की तो चिन्ता नहीं है और बाह्य क्रिया तथा बाह्य निमित्तों को मिटाने का उपाय रखता है, किन्तु उनके मिटाने से कहीं आश्रव नहीं मिटते... अन्तरङ्ग अभिप्राय में मिथ्यात्वादि रूप रागादिभाव हैं, वही आस्रव है। उसे नहीं पहिचानता, इसलिए आस्रवतत्त्व का सच्चा श्रद्धान नहीं है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 226-227 के आधार पर)*

प्रश्न 11 - सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा में देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा किस प्रकार आ जाती है?

उत्तर - **1. मोक्षतत्त्व** - सर्वज्ञ वीतराग स्वभाव है; उसके धारक श्री अरिहन्त-सिद्ध हैं; वे ही निर्दोष देव हैं। इसलिए जिसे मोक्षतत्त्व की श्रद्धा है, उसी को **सच्चे देव की** श्रद्धा है।

2. संवर और निर्जरा - निश्चयरत्नत्रय स्वभाव है, उसके धारक भावलिङ्गी आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, वे ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु हैं; इसलिए जिसे संवर-निर्जरा को सच्ची श्रद्धा है, उसे **सच्चे गुरु** की श्रद्धा है।

3. जीवतत्त्व का स्वभाव रागादि घातरहित शुद्ध चैतन्य प्राणमय है। उसके स्वभावसहित अहिंसा धर्म है; इसलिए जिसे शुद्ध जीव की श्रद्धा है, उसे (अपने आत्मा के) अहिंसारूप **धर्म की** श्रद्धा है।

प्रश्न 12 - देव, गुरु और धर्म का क्या स्वरूप है?

उत्तर – श्री अरिहन्त और सिद्ध परमेष्ठी देव हैं और भावलिङ्गी दिगम्बर मुनि–आचार्य, उपाध्याय तथा साधु वे गुरु हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने **नियमसार** में देव–गुरु का स्वरूप निम्नानुसार कहा है –

श्री अरिहन्त का स्वरूप –

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया।
चोत्तिसअदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति॥

'घनघाति कर्मरहित, केवलज्ञानादि परम गुणों सहित तथा चौतीस अतिशय संयुक्त – ऐसे अरिहन्त होते हैं।' *(गाथा 71)*

[बाह्य–आभ्यन्तर सर्व मिलकर श्री अरिहन्तदेव के 46 गुण होते हैं। श्री अरिहन्त और सिद्ध भगवान को दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक साथ होते हैं; क्रमशः नहीं होते।]

श्री सिद्ध का स्वरूप –

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति॥

आठ कर्मों के बन्धन को जिन्होंने नष्ट किया है ऐसे, अष्ट महागुणों सहित, परम, लोकाग्र में स्थित और नित्य – ऐसे वे सिद्ध होते हैं। *(गाथा 72)*

[सिद्ध भगवान में व्यवहार से आठ गुण और निश्चय से अनन्त गुण हैं।]

श्री आचार्य का स्वरूप –

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति॥

'पञ्चाचारों से परिपूर्ण, पञ्चेन्द्रियरूपी हाथी के मद को चूर करनेवाले, धीर और गुण-गमीर ऐसे आचार्य होते हैं।' *(गाथा 73)*

[आचार्य के 36 गुण होते हैं।]

श्री उपाध्याय का स्वरूप -

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति॥

'रत्नत्रय से संयुक्त, जिनकथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक और निःकाँक्षभावसहित - ऐसे उपाध्याय होते हैं।' *(गाथा 74)*

[उपाध्याय के 25 गुण होते हैं। वे मुनियों में अध्यापक होते हैं।]

श्री साधु का स्वरूप -

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होंति॥

'व्यापार से विमुक्त, चतुर्विध (चार प्रकार की) आराधना में सदैव रक्त / लीन, निर्ग्रन्थ और निर्मोह ऐसे साधु होते हैं।'
(गाथा 75)

[साधु के 28 मूलगुण होते हैं]

आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु का सामान्य स्वरूप

जो निश्चयसम्यग्दर्शनसहित है, विरागी है, समस्त परिग्रह के त्यागी हैं; जिन्होंने शुद्धोपयोग मुनिधर्म अंङ्गीकार किया है और जो अन्तरङ्ग में उस शुद्धोपयोग द्वारा अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि नहीं करते, अपने ज्ञानादि स्वभाव को ही

अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, किसी को इष्ट-अनिष्ट मानकर उसमें राग-द्वेष नहीं करते; हिंसादिरूप अशुभोपयोग का तो जिन्होंने अस्तित्व ही मिटा दिया है, जो अनेक बार सातवें गुणस्थान के निर्विकल्प आनन्द में लीन होते हैं, जब वे छट्ठे गुणस्थान में आते हैं, तब उन्हें 28 मूलगुणों का अखण्ड पालन करने का शुभविकल्प आता है – ऐसे ही जैन मुनि (गुरु) होते हैं।

धर्म का स्वरूप –

निज आत्मा की अहिंसा को धर्म कहते हैं।

प्रश्न 13 – श्री अरिहन्त के 46 गुण किस प्रकार हैं?

उत्तर – उनमें 4 अभ्यन्तर और 42 बाह्य गुण – इस प्रकार कुल 46 गुण होते हैं।

प्रश्न 14 – चार अभ्यन्तर गुण कौन से हैं?

उत्तर – अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य – यह चार अभ्यन्तर गुण हैं।

प्रश्न 15 – 42 बाह्य गुण कौन से हैं?

उत्तर – 34 अतिशय और 8 प्रातिहार्य – यह 42 बाह्य गुण हैं।

प्रश्न 16 – 34 अतिशय कौन से हैं?

उत्तर – **(अ)** दस अतिशय जन्म से होते हैं –

(1) मल-मूत्र का अभाव, (2) प्रस्वेद का अभाव, (3) श्वेतरक्त, (4) समचतुरश्र संस्थान, (5) वज्रवृषभनाराच संहनन, (6) अद्भुतरूप, (7) अतिसुगन्धित शरीर, (8) एक हजार आठ उत्तम लक्षण, (9) अतुल बल, और (10) प्रियवचन।

(ब) दस अतिशय केवलज्ञान उत्पन्न होने पर होते हैं

(1) उपसर्ग का अभाव, (2) अदया का अभाव, (3) शरीर की छाया नहीं पड़ती, (4) चार मुख दिखलाई देते हैं, (5) सर्व विद्याओं का स्वामित्व, (6) नेत्रों की पलकें नहीं झपकती, (7) सौ योजन तक सुभिक्षता (सुकाल) रहती है, (8) आकाश गमन (धरती से बीस हजार हाथ ऊपर), (9) कवलाहार का अभाव, (10) नख-केश नहीं बढ़ते।

(क) देवकृत चौदह अतिशय -

(1) सकल अर्द्धमागधी भाषा, (2) सर्व जीवों में परस्पर मैत्रीभाव, (3) सर्व ऋतुओं के फल-फूल एक ही समय फलना, (4) दर्पण-समान भूमि, (5) कंटकरहित भूमि, (6) मन्द सुगन्ध पवन, (7) सर्व को आनन्द, (8) गन्धोदक वृष्टि, (9) चरणों के नीचे कमल रचना, (10) सर्व धान्यों की उत्पत्ति होना, (11) दसों दिशाएँ निर्मल होना, (12) आकाश में देवों के आह्वान शब्द तथा जय-जय ध्वनि, (13) धर्मचक्र का आगे चलना, (14) अष्ट मङ्गल द्रव्यों का आगे चलना।

[अष्ट मङ्गल द्रव्य - (1) छत्र, (2) ध्वजा, (3) दर्पण, (4) कलश, (5) चँवर, (6) झारी, (7) पंखा, (8) ठौना (सप्रतिष्ठ)]

(ड) आठ प्रतिहार्य - (विशेष महिमाबोधक चिह्न)

(1) अशोकवृक्ष, (2) पुष्पवृष्टि, (3) दिव्यध्वनि, (4) चँवर, (5) सिंहासन, (6) भामण्डल, (7) दुन्दुभि, (8) तीन छत्र।

प्रश्न 17 – श्री सिद्ध के आठ गुण कौन से हैं ?

उत्तर – उनके निम्नोक्त आठ गुण होते हैं –

(1) सम्यक्त्व, (2) दर्शन, (3) ज्ञान, (4) वीर्य, (5) अगुरुलघुत्व, (6) अवगाहनत्व, (7) सूक्ष्मत्व, (8) अव्याबाधत्व।

प्रश्न 18 – आचार्य के 36 गुण कौन–से हैं ?

उत्तर – उनके निम्नानुसार 36 मूलगुण होते हैं –

(1) उत्तमक्षमाादि (दस) धर्म, (2) बारह प्रकार के तप, (3) पाँच आचार (दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार), (4) छह आवश्यक (सामायिक, वन्दन, चौबीस तीर्थङ्कर अथवा पञ्च परमेष्ठी की स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग) (5) तीन गुप्ति (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति)।

प्रश्न 19 – बारह प्रकार के तप कौन–कौन से हैं ?

उत्तर – छह बाह्य तप और छह आभ्यन्तर तप – इस प्रकार बारह प्रकार के तप हैं।

(1) छह बाह्यतप – **(1) अनशन** (संयम की वृद्धि के लिए चार प्रकार के आहार का त्याग), **(2) अवमौदर्य** (रागभाव दूर करने के लिए भूख से कम भोजन करना), **(3) वृत्तिपरिसंख्यान** (भिक्षा के लिए जाते समय घर, गली आदि का नियम करना), **(4) रसपरित्याग** (इन्द्रियों का दमन करने के लिए घी, दूध आदि रसों का त्याग करना), **(5) विविक्त**

शय्यासन (स्वाध्याय, ध्यान आदि की सिद्धि के लिए एकान्त-पवित्र स्थान में सोना-बैठना), **(6) कायक्लेश** (शरीर से ममत्व न रखकर आतापन योगादि धारण करना।) - यह छह बाह्य तप हैं।

(2) छह आभ्यन्तर तपः - (1) प्रायश्चित (प्रमाद अथवा अज्ञान से लगे हुए दोषों की शुद्धि करना), **(2) विनय** (पूज्य पुरुशों का आदर करना), **(3) वैयावृत्य** (शरीर तथा अन्य वस्तुओं से मुनियों की सेवा करना), **(4) स्वाध्याय** (ज्ञान की भावना में आलस्य न करना), **(5) व्युत्सर्ग** (बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना), **(6) ध्यान** (चित्त की चञ्चलता को रोककर उसे किसी एक पदार्थ के चिन्तवन में लगाना।) - यह छह आभ्यन्तर तप हैं।

प्रश्न 20 - उपाध्याय के 25 गुण कौन से हैं ?

उत्तर - वे 11 अङ्ग और 14 पूर्व के पाठी होते हैं तथा निकट रहनेवाले भव्य जीवों को पढ़ाते हैं; यही उनके 25 गुण समझना।

प्रश्न 21 - मुनि (साधु-श्रमण) के 28 मूलगुण कौन से हैं ?

उत्तर - 5 महाव्रत - हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह की विरतिरूप पाँच प्रकार।

5 समिति - ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन।

5 इन्द्रियनिरोध - पाँच इन्द्रियों के विषयों में इष्ट-अनिष्टपना न मानना।

6. आवश्यक – सामायिक, वन्दना, 24 तीर्थङ्कर अथवा पञ्च परमेष्ठी की स्तुति।, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग।

– इनके अतिरिक्त (1) केंशलोंच, (2) वस्त्रत्याग (अचेलत्व / दिगम्बरत्व), (3) अस्नानता, (4) भूमिशयन, (5) अदन्तधावन (दातौन न करना), (6) खड़े-खड़े आहार लेना और (7) एक बार आहार लेना – इस प्रकार कुल 28 मूलगुण हुए।

[आचार्य, उपाध्याय और साधु – यह तीनों निश्चयरत्नत्रय, अर्थात् शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्मरूप, जो आत्मस्वरूप का साधन है, उसके द्वारा अपने आत्मा में सदैव तत्पर (सावधान जागृत) रहते हैं; बाह्य में 28 मूलगुण के धारक होते हैं; उनके पास दया का उपकरण पिंछी, शौच का उपकरण कमण्डल और ज्ञान का उपकरण सुशास्त्र होते हैं। वे शास्त्र कथित् 46 दोषों (32 अन्तराय तथा 14 आहार सम्बन्धी दोष) से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। वे ही मोक्षमार्ग के साधक सच्चे साधु है और वे गुरु कहलाते हैं।]

प्रश्न 22 – अरिहन्त भगवान किन 18 दोषों से रहित हैं ?

उत्तर – क्षुधा, तृषा, भय, रोष (क्रोध), राग, मोह, चिन्ता, जरा (बुढ़ापा), रोग, मृत्यु, स्वेद (पसीना), खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग – यह 18 दोष अरिहन्त भगवान के कभी नहीं होते। *(नियमसार गाथा 6)*

(दोहा)

जन्म, जरा, तृषा, क्षुधा, विस्मय, अरति, खेद;
रोग, शोक, मद, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, स्वेद।

राग, द्वेष, अरु मरणयुत, ये अष्टादश दोष;
नहिं होते अरिहन्त के सो छवि लायक मोक्ष॥

प्रश्न 23 – सच्चे शास्त्र (आगम) का क्या स्वरूप है?

उत्तर – (1) 'जिनमें अनेकान्त सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण है तथा जो सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बतलाते हैं, वे सच्चे जैनशास्त्र हैं।' *(मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 233)*

(2) 'तीर्थङ्कर परमदेव की वाणी जो पूर्वापर दोषरहित और शुद्ध है, उसे आगम (शास्त्र) कहा है।' *(नियमसार, गाथा 8)*

(3) 'वास्तव में आगम बिना पदार्थों का निश्चय नहीं किया जा सकता क्योंकि आगम ही, जिसे तीनों काल (उत्पादव्यय-ध्रौव्यरूप) तीन लक्षण वर्तते हैं – ऐसे सकल पदार्थसार्थ के यथातथ ज्ञान द्वारा सुस्थित् अन्तरङ्ग से गम्भीर है।'
(श्री प्रवचनसार गाथा 232 की टीका)

प्रश्न 24 – सर्वज्ञ का लक्षण क्या है?

उत्तर – श्री समन्तभ्रदाचार्य कहते हैं कि –

हे जिनेन्द्र! तू वक्ताओं में श्रेष्ठ है; चराचर (जंगम तथा स्थावर) जगत् प्रतिक्षण (प्रत्येक समय) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाला – ऐसा यह तेरा वचन सर्वज्ञ का चिह्न है।
(श्री बृहत् स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक 114)

प्रश्न 25 – जैनधर्म क्या है?

उत्तर – जैनधर्म राग-द्वेष, अज्ञान को जीतनेवाला आत्मस्वभाव है। अज्ञान और अंशत: राग-द्वेष का अभाव होने पर निश्चय सम्यग्दर्शन होने से (चौथे गुणस्थान में) जैनत्व का

प्रारम्भ होता है; फिर स्वद्रव्य के आलम्बन के बल द्वारा जितने-जितने अंश में राग-द्वेष का अभाव हो, उतने-उतने अंश में जैनत्व बढ़ता जाता है और केवलज्ञान होने पर पूर्ण जैनत्व (जैनपना) प्रगट होता है।

✬✬✬✬✬

प्रकरण आठवाँ
प्रमाण, नय और निक्षेप अधिकार

प्रश्न 1 – पदार्थों को जानने के कितने उपाय हैं ?

उत्तर – चार उपाय हैं – (1) लक्षण, (2) प्रमाण, (3) नय और (4) निक्षेप।

लक्षण

प्रश्न 2 – लक्षण किसे कहते हैं ?

उत्तर – अनेक सम्मिलित पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को पृथक् करनेवाले हेतु को लक्षण कहते हैं; जैसे कि जीव का लक्षण चेतना।

प्रश्न 3 – लक्ष्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसका लक्षण किया जाए, उसे लक्ष्य कहते हैं; जैसे कि 'जीव का लक्षण चेतना' – उसमें जीव 'लक्ष्य' है।

(लक्षण से जिसे पहचाना जाता हो, वह लक्ष्य है।)

प्रश्न 4 – लक्षणाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो लक्षण सदोष हो, वह लक्षणाभास कहलाता है।

प्रश्न 5 – लक्षण के कितने दोष हैं ?

उत्तर – तीन – (1) अव्याप्ति, (2) अतिव्याप्ति और (3) असम्भव।

प्रश्न 6 – अव्याप्तिदोष किसे कहते हैं ?

उत्तर – लक्ष्य के एक देश में अर्थात् एक भाग में लक्षण का रहना, उसे अव्याप्तिदोष कहते हैं; जैसे कि पशु का लक्षण सींग।

विशेष – जो किसी लक्ष्य में हो और किसी में न हो; इस प्रकार लक्ष्य के एक देश में हो – ऐसा लक्षण जहाँ कहा जाए, वहाँ अव्याप्तिपना जानना, जैसे – आत्मा का लक्षण केवलज्ञान कहें, तो केवलज्ञान किसी आत्मा में होता है और किसी में नहीं होता; इसलिए यह लक्षण अव्याप्तिदोषसहित है, क्योंकि उसके द्वारा आत्मा की पहिचान करने से अल्प ज्ञानी जीव आत्मा सिद्ध नहीं होगा। ***(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 315)***

प्रश्न 7 – अतिव्याप्ति दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर – लक्ष्य तथा अलक्ष्य में लक्षण का रहना, उसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं; जैसे कि गाय का लक्षण सींग।

विशेष – जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में हो – ऐसा लक्षण जहाँ कहा जाए, वहाँ अतिव्याप्तिपना जानना; जैसे आत्मा का लक्षण 'अमूर्तत्व' कहा; वहाँ अमूर्तत्व लक्षण, लक्ष्य जो आत्मा, उसमें है, और अलक्ष्य जो आकाशादिक, उनमें भी है; इसलिए यह लक्षण अतिव्याप्तिदोषसहित है, क्योंकि उनके द्वारा आत्मा को पहिचानने से आकाशादिक भी आत्मा हो जाएँगे – यह दोष आयेगा। ***(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 314)***

प्रश्न 8 – अलक्ष्य किसे कहते हैं?

उत्तर – लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थों को 'अलक्ष्य' कहते हैं।

प्रश्न 9 – असम्भवदोष किसे कहते हैं?

उत्तर – लक्ष्य में लक्षण की असम्भवता को 'असम्भवदोष' कहते हैं।

विशेष – जो लक्षण, लक्ष्य में हो ही नहीं – ऐसा लक्षण जहाँ कहा जाए, वहाँ असम्भवपना जानना; जैसे, आत्मा का लक्षण जड़त्व कहें तो वह लक्षण प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा भी विरुद्ध है, इसलिए वह असम्भवदोषसहित लक्षण है, क्योंकि उसके द्वारा आत्मा को मानने से पुद्गलादि भी आत्मा हो जाएँगे और आत्मा है, वह अनात्मा हो जाएगा – यह दोष आयेगा।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, देहलीवाला, पृष्ठ 315)

प्रश्न 10 – सच्चा लक्षण किसे कहते हैं?

उत्तर – जो लक्षण, लक्ष्य में तो सर्वत्र हो और अलक्ष्य में किसी भी स्थान पर न हो, वही सच्चा लक्षण है; जैसे कि आत्मा का लक्षण चैतन्य; चुँकि वह लक्षण सभी आत्माओं में होता है और अनात्मा में कहीं भी नहीं होता, इसलिए वह सच्चा लक्षण है। उसके द्वारा आत्मा को मानने से आत्मा और अनात्मा का यथार्थ ज्ञान होता है, कोई दोष नहीं आता... *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 315)*

प्रमाण

प्रश्न 11 – प्रमाण किसे कहते हैं?

उत्तर – 1. स्व और परपदार्थ का निर्णय करनेवाले ज्ञान को

प्रमाण, अर्थात् सच्चा ज्ञान कहते हैं। *(परीक्षामुख - परि० 1, सूत्र 1)*

2. सच्चे ज्ञान को प्रमाणज्ञान कहते हैं। *(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)*

3. अनन्त गुणों अथवा धर्मों के समुदायरूप अपना तथा परवस्तु का स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है। प्रमाण, वस्तु के सर्व देश को / सभी पक्षों को ग्रहण करता है – जानता है।

(मोक्षशास्त्र, अध्याय 1, सूत्र 6 की स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ प्रकाशन)

प्रश्न 12 – प्रमाण का विषय क्या है ?

उत्तर – सामान्य अथवा धर्मी और विशेष अथवा धर्म – इन दोनों अंशों के समूहरूप वस्तु, वह प्रमाण का विषय है।

प्रश्न 13 – प्रमाण के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष।

प्रश्न 14 – प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो पदार्थ को स्पष्ट जानता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'मात्र आत्मा से' ही प्रति निश्चितरूप से प्रवर्ते, वह प्रत्यक्ष है।

प्रश्न 15 – प्रत्यक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – एक सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और दूसरा पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

प्रश्न 16 – सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो इन्द्रिय और मन के निमित्त के सम्बन्ध से पदार्थ को एक देश (भाग) स्पष्ट जाने, उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। उसके अवग्रहादि चार भेद हैं।

(उस सम्बन्ध में प्रकरण 3, प्रश्न 267 से 277 तक देखें)

प्रश्न 17 – पारमार्थिक प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो किसी निमित्त के बिना पदार्थ को स्पष्ट जानता है, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

प्रश्न 18 – पारमार्थिक प्रत्यक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – (1) विकल पारमार्थिक और (2) सकल पारमार्थिक।

प्रश्न 19 – विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो रूपी पदार्थों को किसी के निमित्त बिना स्पष्ट जानता है, उसे विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके दो भेद हैं – (1) अवधिज्ञान और, (2) मनःपर्ययज्ञान।

प्रश्न 20 – सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर – केवलज्ञान को सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रश्न 21 – परोक्ष प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर – 1. जो निमित्त के सम्बन्ध से पदार्थ को अस्पष्ट जानता है, उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। ***(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)***

2. जो इन्द्रिय से स्पर्शित होकर वर्ते तथा जो चक्षु और मन से अस्पर्श्य रहकर वर्ते – इस प्रकार दो पर द्वारों से प्रवर्तमान हो, वह परोक्ष है। ***(मोक्षशास्त्र, अध्याय 1, सूत्र 6 की टीका)***

प्रश्न 22 – परोक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – 1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान।

[मति, श्रुतादि पाँच प्रमाण ज्ञान के सम्बन्ध में देखिये – प्रकरण दूसरा, प्रश्न 160, 161; तथा प्रकरण तीसरा, प्रश्न 267 से 277 तक]

प्रश्न 23 – परोक्ष प्रमाण के अन्य किस प्रकार से भेद हैं ?

उत्तर – उसके अन्य पाँच भेद हैं – (1) स्मृति, (2) प्रत्यभिज्ञान, (3) तर्क, (4) अनुमान और (5) आगम।

1. स्मृति – पूर्व काल में देखे जाने या अनुभव किये पदार्थ को याद करना, उसे स्मृति कहते हैं।

2. प्रत्यभिज्ञान – स्मृति और प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थों में जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं; जैसे कि यह वही मनुष्य है, जिसे कल देखा था।

3. तर्क – (1) व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं; अथवा (2) हेतु से जो विचार में लिया, उस ज्ञान को तर्क कहते हैं।

4. अनुमान – साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

5. आगम – आप्त के वचनों से उत्पन्न हुए अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।

[यहाँ तो, आगम–अनुमानादिक परोक्ष ज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव होता है। जैनागम में जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है, उसे वैसा जानकर उसमें अपने परिणामों को मग्न करता है, इसलिए उसे आगम परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

अथवा मैं आत्मा ही हूँ, इसलिए मुझमें ज्ञान है; जहाँ–जहाँ ज्ञान है, वहाँ–वहाँ आत्मा है; जैसे कि – सिद्धादिक तथा जहाँ आत्मा नहीं, वहाँ ज्ञान भी नहीं; जैसे कि – मृत कलेवरादि; इस प्रकार अनुमान द्वारा वस्तु का निश्चय करके उसमें (वह अपने) परिणामों को मग्न करता है, इसलिए अनुमान परोक्ष प्रमाण कहा जाता है।

अथवा आगम-अनुमानादिक द्वारा जो वस्तु (स्वरूप) जानी गई, उसे याद रखकर उसमें (अपने) परिणामों को मग्न करता है, इसलिए उसे स्मृति कहते हैं।

- इत्यादि प्रकार से स्वानुभव में परोक्ष प्रमाण द्वारा ही आत्मा को जानना होता है....

...अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष की भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है; इस न्याय से आत्मा का भी प्रत्यक्ष जानना (ज्ञान) होता है - ऐसा कहें तो दोष नहीं है....]

(मोक्षमार्गप्रकाशक; टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृष्ठ 346-347)

प्रश्न 24 - व्याप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर - अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न 25 - अविनाभाव सम्बन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - जहाँ-जहाँ साधन (हेतु) हो, वहाँ-वहाँ साध्य का होना, और जहाँ-जहाँ साध्य न हो, वहाँ-वहाँ साधन का भी न होना, उसे अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं; जैसे कि जहाँ-जहाँ स्वात्मदृष्टि है, वहाँ-वहाँ धर्म होता है और जहाँ-जहाँ धर्म नहीं है, वहाँ-वहाँ स्वात्मदृष्टि भी नहीं है।

प्रश्न 26 - साधन किसे कहते हैं?

उत्तर - जो साध्य के बिना न हो, उसे साधन कहते हैं; जैसे कि धर्म का हेतु (साधन) स्वात्मदृष्टि।

प्रश्न 27 - साध्य किसे कहते हैं?

उत्तर - इष्ट अबाधित असिद्ध को साध्य कहते हैं।

नय

प्रश्न 28 – नय किसे कहते हैं ?

उत्तर – (1) वस्तु के एकदेश (भाग) को जाननेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। *(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)*

(2) प्रमाण द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के एक धर्म का जो मुख्यता से अनुभव कराता है, वह नय है।

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गाथा 31 की टीका)

(3) प्रमाण द्वारा निश्चित हुई अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक-एक अङ्ग का ज्ञान मुख्यरूप से कराये, वह नय है। वस्तुओं के अनन्त धर्म हैं, इसलिए उनके अवयव अनन्त तक हो सकते हैं, और इसलिए अवयव के ज्ञानरूप नय भी अनन्त तक हो सकते हैं।

5. श्रुतप्रमाण के विकल्प, भेद या अंश को नय कहा जाता है। श्रुतज्ञान में ही नयरूप अंश होते हैं। जो नय है, वह प्रमाणसापेक्षरूप होता है।

(मति, अवधि या मन:पयर्यज्ञान में नय के भेद नहीं होते।)

(मोक्षशास्त्र, अध्याय 1, सूत्र 6 की टीका)

प्रश्न 29 – नय के कितने प्रकार हैं ?

उत्तर – दो प्रकार हैं – (1) निश्चयनय और (2) व्यवहारनय।

प्रश्न 30 – निश्चयनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – वस्तु के किसी असली (मूल) अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को निश्चयनय कहते हैं; जैसे कि मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना। *(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)*

प्रश्न 31 – व्यवहारनय किसे कहते हैं?

उत्तर – किसी निमित्त के कारण से एक पदार्थ को दूसरे पदार्थरूप जाननेवाले ज्ञान को व्यवहारनय कहते हैं। जैसे कि – मिट्टी के घड़े को घी रहने के निमित्त से घी का घड़ा कहना।

(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)

प्रश्न 32 – निश्चयनय के कितने भेद हैं?

उत्तर – दो भेद हैं – (1) द्रव्यार्थिकनय और (2) पर्यायार्थिकनय।

प्रश्न 33 – द्रव्यार्थिकनय किसे कहते हैं?

उत्तर – जो द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु में द्रव्य का मुख्यरूप से अनुभव कराये, अर्थात् सामान्य को ग्रहण करे, उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

प्रश्न 34 – पर्यायार्थिकनय किसे कहते हैं?

उत्तर – जो मुख्यरूप से विशेष को – गुण अथवा पर्याय को विषय बनाये, उसे पर्यायर्थिकनय कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है। उन दोनों (सामान्य और विशेष) को जाननेवाले द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकनयरूपी दो ज्ञानचक्षु हैं। 'द्रव्यार्थिकनयरूपी एक चक्षु से देखने पर द्रव्य सामान्य ही दिखाई देता है, इसलिए द्रव्य अनन्य अर्थात् ज्यों का त्यों भासित होता है; और पर्यायार्थिकनयरूपी दूसरे (एक) चक्षु से देखने पर द्रव्य के पर्यायरूपी विशेष ज्ञात होते हैं, इसलिए द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है। दोनों नयोंरूपी दोनों चक्षुओं से देखने

पर द्रव्य सामान्य तथा द्रव्य के विशेष – दोनों ज्ञात होते हैं; इसलिए द्रव्य अनन्य तथा अन्य-अन्य दोनों भासित होता है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – दोनों नयों द्वारा वस्तु का जो ज्ञान होता है, वही प्रमाणज्ञान है। *(श्री प्रवचनसार, गाथा 114 का भावार्थ)*

प्रश्न 35 – द्रव्यार्थिकनय के कितने भेद हैं? (आगम अपेक्षा से)

उत्तर – तीन भेद हैं – (1) नैगमनय, (2) संग्रहनय और (3) व्यवहारनय।

प्रश्न 36 – नैगमनय किसे कहते हैं?

उत्तर – (1) जो भूतकालीन पर्याय में वर्तमानवत् संकल्प करे अथवा भविष्यकालीन पर्याय में वर्तमानवत् संकल्प करे तथा वर्तमान पर्याय में कुछ निष्पन्न (प्रगटरूप) है और कुछ निष्पन्न नहीं है, इसका निष्पन्नरूप संकल्प करे, उस ज्ञान को तथा वचन को नैगमनय कहते हैं। *(मोक्षाशास्त्र, अध्याय 1, सूत्र 33 की टीका)*

(2) जो नय अनिष्पन्न अर्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करे, वह नैगमनय है; जैसे कि लकड़ी, पानी आदि सामग्री एकत्रित करनेवाले पुरुष से कोई पूछे कि 'आप यह क्या कर रहे हैं?' उसके उत्तर में वह कहे कि 'मैं रोटी बना रहा हूँ।' चूँकि उस समय वह रोटी नहीं बना रहा था, तथापि नैगमनय उसके उस उत्तर को सत्यार्थ मानता है।

(मोक्षाशास्त्र, अध्याय 1, सूत्र 33 की टीका, अनुवादक पं. पन्नालालजी)

(3) दो पदार्थों में से एक को गौण और दूसरे को मुख्य करके भेद अथवा अभेद को विषय करनेवाला (जाननेवाला)

ज्ञान नैगमनय है, तथा पदार्थ के संकल्प को ग्रहण करनेवाला ज्ञान नैगमनय है। जैसे कि कोई पुरुष रसोई के लिए चावल बीन रहा था, उस समय किसी ने पूछा कि 'तुम क्या कर रहे हो ?' तब उसने कहा कि 'मैं भात बना रहा हूँ।' यहाँ चावल और भात में अभेद विवक्षा है, अथवा चावल में भात का संकल्प है।

(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)

प्रश्न 37 – नैगमनय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – तीन भेद हैं – (1) भूत नैगमनय, (2) भावि नैगमनय और (3) वर्तमान नैगमनय।

1. भूत नैगमनय : भूत काल की बात को वर्तमान काल में आरोपण करके कहना, वह भूत नैगमनय है। जैसे कि 'आज दीपावली के दिन भगवान महावीर मोक्ष पधारे।'

निश्चयमोक्षमार्ग निर्विकल्प है, उस काल सविकल्पमोक्षमार्ग नहीं है तो वह साधक कैसे होगा ?

समाधान – भूत नैगमनय से वह परम्परा के साधक हैं।

(परमात्मप्रकाश, पृष्ठ 142)

2. भावि नैगमनय : भविष्यत् काल में होनवाली बात को भूत कालवत् हुई कहना, वह भावी नैगमनय है। जैसे कि अरिहन्त भगवान को सिद्ध भगवान कहना।

3. वर्तमान नैगमनय : कोई कार्य प्रारम्भ तो कर दिया हो, किन्तु वह कार्य कुछ हुआ – कुछ न हुआ हो, तथापि उसे पूर्ण हुए समान कहना, वह वर्तमान नैगमनय है। जैसे कि भात पकाने का कार्य आरम्भ तो कर दिया, परन्तु अभी वह पका नहीं है, तथापि ऐसा कहना कि भात पक रहा है। *(आलाप पद्धति, पृष्ठ 65-66)*

प्रश्न 38 – संग्रहनय किसे कहते हैं?

उत्तर – जो नय अपनी जाति का विरोध न करके समस्त पदार्थों को एकत्व से ग्रहण करे, उसे संग्रहनय कहते हैं; जैसे कि – सत्, द्रव्य इत्यादि।

प्रश्न 39 – व्यवहारनय किसे कहते हैं?

उत्तर – जो नय, संग्रहनय से ग्रहण किये पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करे, उसे व्यवहारनय कहते हैं; जैसे कि सत् दो प्रकार से है –द्रव्य और गुण। द्रव्य के छह भेद है – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। गुण के दो भेद हैं – सामान्य और विशेष। इस प्रकार जहाँ तक भेद हो सकते हैं, वहाँ तक यह नय भेद करता है।

प्रश्न 40 – पर्यायार्थिकनय के कितने भेद हैं?

उत्तर – चार भेद हैं – (1) ऋजुसूत्रनय, (2) शब्दनय, (3) समभिरूढ़नय और (4) एवंभूतनय।

प्रश्न 41 – ऋजुसूत्रनय किसे कहते हैं?

उत्तर – भूत-भविष्य काल सम्बन्धी पर्याय की अपेक्षा न करके, वर्तमान काल सम्बन्धी पर्याय को ही जो विषय बनाये, उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं।

प्रश्न 42 – शब्दनय किसे कहते हैं?

उत्तर – जो लिङ्ग, वचन, कारकादि के व्यभिचार को दूर करे, उसे शब्दनय कहते हैं। जैसे कि दार (पुल्लिंग) भार्या (स्त्रीलिंग) कलत्र (नपुंसकलिंग) – यह तीनों शब्द भिन्न लिङ्ग

के होने पर भी वे एक ही 'स्त्री' पदार्थ के वाचक हैं, किन्तु यह नय स्त्री पदार्थ को लिङ्ग के भेद से तीन भेदरूप मानता है।

प्रश्न 43 – समभिरूढ़नय किसे कहते हैं ?

उत्तर – 1. जो भिन्न-भिन्न अर्थों का उल्लंघन करके एक अर्थ को रूढ़ि से ग्रहण करे, उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं; जैसे कि 'गो' शब्द के अनेक अर्थ (वाणी, पृथ्वी, गमन आदि) होते हैं, किन्तु प्रचलित रूढ़ि से उसका अर्थ गाय होता है।

2. पुनश्च, यह पर्याय के भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है; जैसे कि इन्द्र, शक्र, पुरन्दर – यह तीन शब्द एक ही लिङ्ग के पर्यायवाची शब्द के ही वाचक हैं, किन्तु यह नय इन तीनों के भिन्न-भिन्न अर्थ करता है।

प्रश्न 44 – एवंभूतनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है, उस क्रियारूप परिणमित हो रहे पदार्थ को जो नय ग्रहण करे, उसे एवंभूतनय कहते हैं; जैसे कि पुजारी को पूजा करते समय ही पुजारी कहना।

प्रश्न 45 – व्यवहारनय अथवा उपनय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – (1) सद्भूत व्यवहारनय और (2) असद्भूत व्यवहानय।

प्रश्न 46 – सद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो एक पदार्थ में गुण-गुणी को भेदरूप से ग्रहण करे, उसे सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं। *(जैन सिद्धान्त दर्पण, पृष्ठ 34)*

प्रश्न 47 – सद्भूत व्यवहारनय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – (1) उपचरित–सद्भूतव्यवहारनय और (2) अनुपचरित–सद्भूतव्यवहारनय।

प्रश्न 48 – उपचरित–सद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – 1. जो उपाधिसहित गुण–गुणी को भेदरूप से ग्रहण करे, उसे उपचरित–सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे कि जीव के मतिज्ञानादिक गुण। *(जैन सिद्धान्त दर्पण)*

2. जो नय कर्मोपाधिसहित अखण्ड द्रव्य में अशुद्ध गुण अथवा अशुद्ध गुणी, तथा अशुद्ध पर्याय और अशुद्ध पर्यायवान की भेदकल्पना करे, उसे उपचरित–सद्भूतव्यवहारनय (अशुद्ध सद्भूत –व्यवहारनय) कहते हैं, जैसे कि संसारी जीव के अशुद्ध मतिज्ञानादिक गुण अथवा अशुद्ध नर–नारकादि पर्यायें।

(आलाप पद्धति)

प्रश्न 49 – अनुपचरित–सद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो निरुपाधिक गुण और गुणी को भेदरूप ग्रहण करे, उसे अनुपचरित–सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे कि जीव के केवलज्ञानादि गुण। *(जैन सिद्धान्त दर्पण)*

प्रश्न 50 – असद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो मिश्रित भिन्न पदार्थों का अभेदरूप से कथन करे, उसे असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे कि यह शरीर मेरा है, अथवा मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना। *(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)*

[भिन्न पदार्थ वास्तविकरूप में अभेद नहीं होते, इसलिए यह नय असद्भूत कहलाता है और वह पर के साथ के सम्बन्ध का कथन करता है, इसलिए व्यवहारनय कहलाता है।]

प्रश्न 51 – असद्भूतव्यवहारनय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – (1) उपचरित–असद्भूतव्यवहारनय और (2) अनुपचरित–असद्भूतव्यवहारनय।

प्रश्न 52 – उपचरित–असद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – अत्यन्त भिन्न पदार्थों को जो अभेदरूप से ग्रहण करे, उसे उपचरित–असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे कि हाथी, घोड़ा, महल, मकान, वस्त्र, आभरणादि को जीव का कहना।

(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)

प्रश्न 53 – अनुपचरित–असद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय संयोग सम्बन्ध से युक्त दो पदार्थों के सम्बन्ध को विषय बनाये, उसे अनुपचरित–असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे कि जीव के कर्म, जीव का शरीर आदि।

[1. जीव, द्रव्यकर्म और पुद्गल शरीर – इन तीनों का आकाश अपेक्षा से एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है; इसलिए उसे अनुपचरित कहा जाता है।

2. जीव के कर्म और जीव का शरीर कहना, वह असद्भूत है। असद्भूत का अर्थ मिथ्या, असत्य, अयथार्थ है।]

(परमात्म प्रकाश, अध्याय 1, गाथा 65 की हिन्दी टीका; प्रवचनसार अध्याय 1, गाथा 16 की टीका)

3. यह नय जीव का परपदार्थ के साथ का सम्बन्ध बतलाता है, इसलिए व्यवहारनय कहलाता है।

4. व्यवहार को अभूतार्थ भी कहा जाता है। अभूतार्थ, अर्थात्

असत्यार्थ। पदार्थ का जैसा स्वरूप न हो, वैसा अनेक कल्पना करके व्यवहारनय प्रकट करता है, इसलिए उसे अभूतार्थ कहा जाता है; जैसे मृषावादी तुच्छ भी (किञ्चित् भी) कारण का छल पा जाए तो अनेक कल्पना करके तादृश कर दिखाता है; उसी प्रकार यद्यपि जीव और पुद्गल की सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है, तथापि एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध का छल पाकर व्यवहारनय, आत्मद्रव्य को शरीरादिक परद्रव्य के साथ एकत्व बतलाता है; इसलिए वह व्यवहारनय असत्यार्थ है। मुक्तदशा में व्यवहारनय स्वयं ही, जीव और शरीर दोनों भिन्न हैं – ऐसा प्रकाशित करता है... ***कलकत्ता से प्रकशित स्व० पण्डित टोडरमलजी कृत मूल टीकावाला ग्रन्थ (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, पृ० 6-7)***

प्रश्न 54 – आध्यात्मिकदृष्टि से व्यवहारनय का स्वरूप कहिये?

उत्तर – पञ्चाध्यायी भाग 1, गाथा 525 से 551 में व्यवहारनय के चार प्रकारों का वर्णन किया है। उसका साररूप वर्णन इस प्रकार है –

1. उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय –

'ज्ञान पर को जानता है' – ऐसा कहना, अथवा ज्ञान में राग ज्ञात होने पर 'राग का ज्ञान है' – ऐसा कहना, अथवा ज्ञातास्वभाव के भानपूर्वक ज्ञानी 'विकार को भी जानता है' – ऐसा कहना, वह उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

2. अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय –

ज्ञान और आत्मा इत्यादि गुण-गुणी के भेद करना, वह अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय है।

साधक को रागरहित ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई होने पर भी, अभी पर्याय में राग भी होता है। साधक-स्वभाव की श्रद्धा में राग का निषेध हुआ होने पर भी उसे गुणभेद के कारण चारित्रगुण की पर्याय में अभी राग होता है। ऐसे गुणभेद से आत्मा को जानना, वह अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय है।

3. उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय -

साधक ऐसा जानता है कि अभी मेरी पर्याय में विकार होता है। उसमें जो व्यक्त राग-बुद्धिपूर्वक का राग-प्रगट ख्याल में लिया जा सकता है, वैसे बुद्धिपूर्वक के विकार को आत्मा का जानना, वह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है।

4. अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय -

जिस समय बुद्धिपूर्वक का विकार है, उस समय अपने ख्याल में न जा सके - ऐसा अबुद्धिपूर्वक का विकार भी है; उसे जानना, वह अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है।

प्रश्न 55 - द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय का विषय क्या है?

उत्तर - 1. द्रव्यार्थिकनय का विषय त्रिकाली द्रव्य है और पर्यायार्थिकनय का विषय क्षणिक है। द्रव्यार्थिकनय के विषय में गुण भिन्न नहीं हैं, क्योंकि गुण को पृथक् करके लक्ष्य में लेने से विकल्प उठता है और विकल्प, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है।

(स्वाध्यायमन्दिर सोनगढ़ से प्रकाशित, मोक्षशास्त्र अध्याय 1, सूत्र 6, टीका)

2. द्रव्यार्थिकनय को निश्चयनय और पर्यायार्थिकनय को व्यवहारनय कहते हैं।

प्रश्न 56 – निश्चय और व्यवहारनय दोनों के ग्रहण–त्याग में क्या विवेक रखना आवश्यक है ?

उत्तर – ज्ञान दोनों नयों का करना, किन्तु उनमें परमार्थ निश्चयनय आदरणीय है – ऐसी श्रद्धा करना।

श्री मोक्षपाहुड़ में कहा है कि –

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जमि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥ 31॥

अर्थात् – जो योगी व्यवहार में सोता है, वह अपने कार्य में जागता है, और जो व्यवहार में जागृत रहता है, वह अपने कार्य में (आत्मकार्य में) सोता है।

'व्यवहारनय स्वद्रव्य–परद्रव्य को; उनके भावों को तथा उनके कारण–कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; इसलिए उसका त्याग करना चाहिए।'

'निश्चयनय उनका यथावत् निरूपण करता है तथा किसी का किसी में मिलाता नहीं है, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना चाहिए।'

'निश्चय का निश्चयरूप तथा व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है, किन्तु एक ही नय का श्रद्धान होने से एकान्त मिथ्यात्व होता है।'

'निश्चय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना, तथा व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण

किया जो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिए।'

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 250-251)

प्रश्न 57 – व्यवहारनय और निश्चयनय का फल क्या है?

उत्तर – वीतराग कथित व्यवहार, अशुभ में से बचाकर जीव को शुभभाव में ले जाता है; जिसका दृष्टान्त द्रव्यलिङ्गी मुनि हैं। वह भगवान के कहे हुए व्रतादि का निरतिचार पालन करता है और उस शुभभाव द्वारा नवमें ग्रैवेयक में जाता है, किन्तु उसका संसार बना रहता है; और भगवान का कहा हुआ निश्चय, शुभ तथा अशुभ दोनों से बचाकर जीव को शुद्धभाव में / मोक्ष में ले जाता है; उसका दृष्टान्त; सम्यग्दृष्टि है कि जो नियम से (निश्चित्) मोक्ष प्राप्त करता है। *(मोक्षशास्त्र अध्याय 1, सूत्र 6 की टीका)*

प्रश्न 58 – जैन शास्त्रों में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, वह किस प्रकार?

उत्तर – जिनमार्ग में किसी स्थान पर तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है; उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' – ऐसा जानना; तथा किसी स्थान पर व्यवहानय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे **'ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है'** – ऐसा जानना; इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है, किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर, 'इस प्रकार भी है तथा इस प्रकार भी है' – ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नय ग्रहण करने को नहीं कहा है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 251)

प्रश्न 59 – नय के अन्य रीति से कितने प्रकार हैं?

उत्तर – तीन प्रकार हैं – (1) शब्दनय, (2) अर्थनय और (3) ज्ञाननय।

1. शब्दनय – ज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थ का प्रतिपादन शब्द द्वारा होता है, इसलिए उस शब्द को शब्दनय कहते हैं; जैसे कि – 'मिश्री' शब्द, वह शब्दनय का विषय है।

2. अर्थनय – ज्ञान का विषय पदार्थ है; इसलिए नय से प्रतिपादित किये जानेवाले पदार्थ को भी नय कहते हैं; वह अर्थनय है। जैसे कि 'मिश्री' शब्द का वाच्य पदार्थ अर्थनय का विषय है।

'ज्ञानात्मकनय, वह परमार्थ से नय है और वाक्य उपचार से नय है।' *(श्री धवल टीका, पुस्तक 9 वीं, पृष्ठ 164)*

3. ज्ञाननय – वास्तविक प्रमाण ज्ञान है, वह जब एक देशग्राही होता है, तब उसे नय कहते हैं, इसलिए उसे ज्ञाननय कहते हैं; जैसे कि 'मिश्री' पदार्थ का अनुभवरूप ज्ञान, वह ज्ञाननय का विषय है।

विशेष : (1) शास्त्रों के सच्चे रहस्य को समझने के लिए नयार्थ समझना चाहिए। उसे समझे बिना चरणानुयोग का कथन भी समझने में नहीं आता। गुरु का उपकार मानने का कथन आये, वहाँ समझना कि गुरु परद्रव्य है; इसलिए वह व्यवहार का कथन है।

चरणानुयोग के शास्त्र में परद्रव्य छोड़ने की बात आये, वहाँ समझना कि उस राग को छोड़ने के लिए व्यवहारनय का कथन है। प्रवचनसार में शुद्धता और शुभराग की मैत्री कही है, किन्तु वास्तव में (निश्चय से) वह मित्रता नहीं है। राग तो शुद्धता का शत्रु है, किन्तु चरणानुयोग के शास्त्र में ऐसा कथन करने की पद्धति

है, और वह कथन व्यवहारनय का कथन है। अशुभ से बचने के लिए शुभराग को निमित्तमात्र कहा है। उसका भावार्थ तो यह है कि वास्तव में वह वीतरागता का शत्रु है, किन्तु निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहारनय द्वारा ऐसा ही कथन होता है।

(2) जो जैन पूजा, व्रत, दानादि शुभक्रिया से धर्म मानते हैं, वे जिनमत के बाहर हैं, क्योंकि भावपाहुड़ गाथा 84-85 के भावार्थ में कहा है कि -

'शुभक्रियारूप पुण्य को धर्म मानकर जो उसका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करे, उसे पुण्यकर्म का बन्ध होता है; उससे स्वर्गादि के भोग की प्राप्ति होती है, किन्तु उससे **कर्म के क्षयरूप संवर-निर्जरा-मोक्ष नहीं होता... मोह क्षोभरहित आत्मा के परिणाम ही धर्म है।** यह धर्म ही संसार पार उतारनेवाला मोक्ष का कारण है - ऐसा श्रीभगवान ने कहा है।'

(3) 'लौकिकजन तथा अन्यमती कोई कहे कि - जो पूजादिक शुभक्रिया और व्रतक्रियासहित हो, वह जैनधर्म है, किन्तु ऐसा नहीं... उपवास, व्रतादि जो शुभक्रिया है, जिसमें आत्मा के रागसहित शुभपरिणाम हैं, उससे पुण्यकर्म उत्पन्न होता है; इसलिए उसे पुण्य कहते हैं; और उसका फल स्वर्गादिक भोग की प्राप्ति है... जो विकाररहित शुद्ध दर्शन-ज्ञानरूप निश्चय हो, वह आत्मा का धर्म है; उस धर्म से आत्मा को आगामी कर्मों का आस्रव रुककर संवर होता है और पूर्व काल में बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। सम्पूर्ण निर्जरा होने पर मोक्ष होता है....'

(भावपाहुड़ गाथा 83 का भावार्थ)

(4) जो परमात्मा की पूजा-भक्ति आदि शुभराग से अपना

हित होना मानता है, तथा परमात्मा का स्वरूप अन्यथा मानता है, वह मिथ्यामताबलम्बी है।

प्रश्न 60 – जैनशास्त्रों में अर्थ समझने की रीति क्या है?

उत्तर – जैनशास्त्रों के अर्थ समझने की रीति पाँच प्रकार की है – (1) शब्दार्थ, (2) नयार्थ, (3) मतार्थ, (4) आगमार्थ और (5) भावार्थ।

(1) शब्दार्थ – प्रकरण अनुसार वाक्य या शब्द का योग्य अर्थ समझना।

(2) नयार्थ – किस नय का वाक्य है? उसमें भेद-निमित्तादि का उपचार बतलानेवाले व्यवहारनय का कथन है या वस्तु स्वरूप बतलानेवाले निश्चयनय का कथन है – उसका निर्णय करके अर्थ करना, वह नयार्थ है।

(3) मतार्थ – वस्तुस्वरूप से विपरीत ऐसे किस मत (सांख्य, बौद्धादिक) का खण्डन करता है और स्याद्वाद मत का मण्डन करता है – इस प्रकार शास्त्र का कथन समझना, वह मतार्थ है।

(4) आगमार्थ – सिद्धान्तानुसार जो अर्थ प्रसिद्ध हो, तदनुसार अर्थ करना, वह आगमार्थ है।

(5) भावार्थ – शास्त्र कथन का तात्पर्य – सारांश, हेय-उपादेयरूप हेतु क्या है? – उसे जो बतलाये, यह भावार्थ है। निरंजन ज्ञानमयी परमात्मद्रव्य ही उपादेय है; इसके सिवा निमित्त अथवा किसी प्रकार का राग, विकल्प उपादेय नहीं है, यह कथन का भावार्थ समझना।

प्रश्न 61 – निम्नोक्त श्लोक का शब्दार्थादि पाँच प्रकार से अर्थ करके समझाइये –

ये जाता ध्यानाग्निना कर्मकलङ्कानि दग्धवा।
नित्यनिरंजनज्ञानमयास्तान् परमात्मनः नत्वा॥ 2॥

(परमात्मप्रकाश)

उत्तर – **(1) शब्दार्थ** – **(ये)** जो **(ध्यानाग्निना)** ध्यानरूपी अग्नि से **(कर्मकलङ्कानि)** कर्मरूपी मैल को **(दग्धा)** भस्म करके **(नित्य निरंजनज्ञानमयाः जाताः)** नित्य, निरंजन और ज्ञानमयी हुए **(तान्)** उन **(परमात्मन्)** सिद्धों को **(नत्वा)** नमस्कार करके...

(2) नयार्थ – **(कर्मकलंकानि दग्धवा परमात्मनः जाताः)** कर्म मल भस्म करके सिद्ध हुए – यह पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से कथन है। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने पहले कभी सिद्धपर्याय प्राप्त नहीं की थी, वह अब उन्होंने कर्म का नाश करके प्राप्त की। द्रव्यार्थिकनय से तो वे शक्ति की अपेक्षा से सदा शुद्ध, बुद्ध (ज्ञान) स्वभावरूप थे ही, अर्थात् शुद्धनय वे शक्तिरूप शुद्ध थे ही, वे अब पर्यायार्थिकनय से व्यक्तिरूप शुद्ध हुए (सिद्धपर्यायरूप हुए)।

(3) मतार्थ – **(नित्यनिरंजनज्ञानमयाः)** 'नित्य, निरंजन और ज्ञानमय' – इस कथन में '**नित्य**' विशेषता, एकान्तवादी बोद्धों के मत का परिहार करता है – जो आत्मा को क्षणिक मानते हैं।

'**निरंजन**' विशेषण नैयायिकों के मत का खण्डन करता है। वे मानते हैं कि 'कल्पकाल पूरा होने पर सारा जगत् शून्य हो जाता

है और उस समय सभी जीव मुक्त हो जाते हैं; तब सदा शिव को जगत् उत्पन्न करने की चिन्ता होती है और मुक्त हुए सर्व जीवों को कर्मरूपी अञ्जन का संयोग करके उन्हें पुनः संसार में फेंकते हैं।'

सिद्धों को भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूपी अंजन का संयोग कभी होता ही नहीं - ऐसा 'निरंजन' शब्द से प्रतिपादन करके नैयायिक मत का खण्डन किया है।

(4) आगमार्थ - अनन्त गुणात्मक सिद्धपरमेष्ठी संसार से मुक्त हुए हैं - इस सिद्धान्त का अर्थ प्रसिद्ध है।

(5) भावार्थ - निरंजन ज्ञानमयी परमात्मद्रव्य आदरणीय हैं, उपादेय है - ऐसा भाव कथन में गर्भित है।

(परमात्मप्रकाश, गाथा 1 की टीका)

सम्यक् श्रुतज्ञान के बिना निश्चय या व्यवहार कोई नय नहीं हो सकता; इसलिए प्रथम व्यवहार होता है और फिर निश्चय प्रगट होता है - यह मान्यता भ्रममूलक है। जीव स्वाश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करे, तब पूर्व की सत्-देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा को (भूत नैगमनय से) व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है।

प्रश्न 62 - क्या व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्दर्शन का साधक कारण है ?

उत्तर - नहीं; व्यवहारसम्यग्दर्शन तो विकार है और निश्चय -सम्यग्दर्शन तो शुद्धपर्याय है। विकार, वह अविकार का कारण कैसे हो सकता है ? इसलिए व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्दर्शन कारण नहीं हो सकता, किन्तु उसका व्यय (अभाव) होकर निश्चय

–सम्यग्दर्शन का उत्पाद सुपात्र जीवों के अपने पुरुषार्थ से होता है।

शास्त्रों में जहाँ व्यवहारसम्यग्दर्शन को निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण कहा है, वहाँ व्यवहारसम्यदर्शन को 'अभावरूप कारण' कहा है – ऐसा समझना चाहिए। उसके कारण दो प्रकार हैं – (1) निश्चय और (2) व्यवहार। निश्चय कारण तो अवस्थारूप होनेवाला द्रव्य स्वयं है और व्यवहार कारण पूर्व पर्याय व्यय होता है – वह है।' ***(मोक्षशास्त्र अध्याय 1, परिशिष्ट 1, पृष्ठ 123)***

प्रश्न 63 – निश्चयनय के आश्रय बिना सच्चा व्यवहार हो सकता है?

उत्तर – नहीं; '...अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि व्यवहार के आश्रय से धर्म होता है;' इसलिए उनका व्यवहारनय, वह निश्चयनय ही हो गया; इसलिए अज्ञानियों के सच्चे नय नहीं होते।

साधक जीवों को ही उनके श्रुतज्ञान में नय होते हैं। निर्विकल्प दशा के अतिरिक्त काल में जब उनको श्रुतज्ञान के भेदरूप उपयोग नयरूप से होते हैं तब, और संसार के कार्यों में हों या स्वाध्याय, व्रत नियमादि कार्यों में हो तब, जो विकल्प उठते हैं, वे सब व्यवहारनय के विषय हैं परन्तु उस समय भी उनके ज्ञान में निश्चनय एक ही आदरणीय होने से (और व्यवहारनय उस समय होने पर भी वह आदरणीय न होने से) उनकी शुद्धता में वृद्धि होती है – इस प्रकार सविकल्पदशा में निश्चयनय आदरणीय है और व्यवहारनय उपयोगरूप होने पर भी, ज्ञान में उसी समय हेयरूप है। – इस प्रकार (निश्चयनय और व्यवहारनय – यह दोनों साधक जीवों को एक ही समय होते हैं।) ...निश्चयनय के आश्रय बिना सच्चा

व्यवहारनय होता ही नहीं। जिसके अभिप्राय में व्यवहारनय का आश्रय हो, उसे तो निश्चयनय रहा ही नहीं क्योंकि उसका जो व्यवहारनय है, वही निश्चयनय हो गया।

चारों अनुयोगों में कभी व्यवहारनय को मुख्य करके कथन किया जाता है और कभी निश्चयनय को मुख्य करके कथन किया जाता है, किन्तु उस प्रत्येक अनुयोग में कथन का सार एक ही है, और वह यह है कि निश्चयनय तथा व्यवहारनय दोनों जानने योग्य हैं, किन्तु शुद्धता के लिए आश्रय करने योग्य एक निश्चयनय ही है; व्यवहारनय कभी भी आश्रय करने योग्य नहीं है; वह सदैव हेय ही है – ऐसा जानना।

निश्चयनय का आश्रय करना – उसका अर्थ यह है कि निश्चयनय के विषयभूत आत्मा के त्रिकाली चैतन्यस्वरूप का आश्रय करना और व्यवहारनय का आश्रय छोड़ना – उसे हेय समझना, उसका अर्थ यह है कि व्यवहारनय के विषयरूप विकल्प, परद्रव्य या स्वद्रव्य की अधूरी दशा की ओर का आश्रय छोड़ना।

...किसी समय निश्चयनय आदरणीय है और कभी व्यवहारनय – ऐसा मानना भूल है। त्रिकाल एक निश्चयनय के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है – ऐसा समझना।

(स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट प्र० मोक्षशास्त्र, अन्तिम अध्याय के बाद का परिशिष्ट 1)

प्रश्न 64 – मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि जीव के धर्म सम्बन्धी व्यवहार में क्या अन्तर है ?

उत्तर – (1) ...मूढ़ जीव आगम पद्धति को व्यवहार और अध्यात्म पद्धति को निश्चय कहते हैं, इसलिए वे आगम अङ्ग को

एकान्तरूप से साधकर मोक्षमार्ग दर्शाते हैं; अध्यात्म अङ्ग को व्यवहार से भी न जाने, यह मूढ़ जीव का स्वभाव है। उसे उस प्रकार सूझेगा ही कहाँ से? क्योंकि आगम अङ्ग बाह्य क्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है; उसका स्वरूप साधना उसे सरल है; वह बाह्य क्रिया करता हुआ मूढ़जीव अपने को मोक्षमार्ग का अधिकारी मानता है, किन्तु अन्तरगर्भित अध्यात्मरूप क्रिया, जो अन्तर्दृष्टि ग्राह्य है, उस क्रिया को मूढ़ जीव नहीं जानते, क्योंकि अर्न्तदृष्टि के अभाव से अन्तरक्रिया दृष्टिगोचर नहीं हो सकती; इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव (चाहे जितनी बाह्यक्रिया करता हो, तथापि) मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ है...

सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्दृष्टि द्वारा मोक्ष-पद्धति को साधना जानता है। वह बाह्य क्रिया को बाह्य निमित्तरूप मानता है। वे निमित्त तो नाना प्रकार के हैं - एक रूप नहीं हैं, इसलिए अन्तर्दृष्टि के प्रमाण में मोक्षमार्ग साधता है। सम्यग्ज्ञान (स्वसंवेदन) और स्वरूपाचरण की कणिका जागृत होने पर मोक्षमार्ग सच्चा है। मोक्षमार्ग साधना, वह व्यवहार और शुद्ध द्रव्य अक्रियारूप, वह निश्चय है - इस प्रकार सम्यग्दृष्टि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप जानता है... ***(श्री बनारसीदासजी रचित परमार्थ वचनिका)***

(2) मिथ्यादृष्टि जीव अपना स्वरूप नहीं जानता, इसलिए परस्वरूप में मग्न होकर परकार्य को तथा परस्वरूप को अपना मानता है - ऐसा कार्य करने के कारण वह अशुद्ध व्यवहारी बहलाता है।

सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को परोक्ष प्रमाण द्वारा अनुभव करता

है; परसत्ता और परस्वरूप को अपना कार्य न मानता हुआ योग (मन, वचन और काय) द्वारा अपने स्वरूप में ध्यान-विचाररूप क्रिया करता है; वह कार्य करने से वह मिश्रव्यवहारी कहलाता है। केवलज्ञानी (जीव) यथाख्यातचारित्र के बल द्वारा शुद्धात्मस्वरूप में रमणशील है, इसलिए वह शुद्ध व्यवहारी कहलाता है; उसमें योगारूढ़ दशा विद्यमान है; इसलिए उसे व्यवहारी नाम दिया है। शुद्ध व्यवहार की मर्यादा तेरहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक जानना; जैसे - असिद्धत्वपरिणमनत्वात् व्यवहारः।

जहाँ तक मिथ्यात्व अवस्था है, वहाँ तक अशुद्ध निश्चयात्मक द्रव्य अशुद्ध व्यवहारी है; सम्यग्दृष्टि होने पर मात्र चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मिश्र निश्चयात्मक जीवद्रव्य मिश्र व्यवहार है, और केवलज्ञानी शुद्ध निश्चयात्मक शुद्ध व्यवहारी है।

(श्री परमार्थ वचनिका)

प्रश्न 65 - अध्यात्म शास्त्रों में व्यवहार को अभूतार्थ-असत्यार्थ कहा है, उसका क्या अर्थ समझना ?

उत्तर - (1) अध्यात्मशास्त्र में निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय को अभूतार्थ-असत्यार्थ कहा है, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहारनय है ही नहीं और न कोई उसका विषय है अर्थात् सर्वथा कोई वस्तु ही नहीं है।

(2) यहाँ कोई कहे कि - पर्याय भी द्रव्य के ही भेद हैं, अवस्तु तो नहीं है तो उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान - यह तो ठीक है, किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान कहकर उपदेश देते हैं। अभेददृष्टि में गौण कहने से ही

अभेद भलीभाँति मालूम हो सकता है, इसलिए भेद को गौण कहकर, उसे व्यवहार कहा है। यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि भेददृष्टि से निर्विकल्पदशा नहीं होती और सरागी को विकल्प बना रहता है; इसलिए जहाँ तक रागादिक दूर न हों, वहाँ तक भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है। वीतराग होने के पश्चात् भेद-अभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है। वहाँ नय का आलम्बन ही नहीं रहता। *(श्री समयसार गाथा 7 का भावार्थ)*

(3) पहले श्री (समयसार, गाथा 11 में) व्यवहार को असत्यार्थ कहा था, वहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वह सर्वथा असत्यार्थ है; कथञ्चित् असत्यार्थ जानना चाहिए, क्योंकि जब एक द्रव्य को भिन्न, स्वपर्यायों से अभेदरूप, उसके असाधारण गुणमात्र को प्रधान करके कहा जाये, तब परस्पर द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिक भाव तथा निमित्त से होनेवाली पर्यायें - वे सब गौण हो जाते हैं; एक अभेद द्रव्य की दृष्टि में वे प्रतिभासित नहीं होते, इसलिए वे सब उस द्रव्य में नहीं है - ऐसा कथंचित निषेध किया जाता है। यदि उन भावों को उस द्रव्य में कहा जाये तो वह व्यवहारनय से कहा जा सकता है; - ऐसा नय विभाग है।

'...यदि निमित्त नैमित्तिक भाव की दृष्टि से देखा जाये तो वह व्यवहार कथञ्चित् सत्यार्थ भी कहा जा सकता है। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये तो सर्व व्यवहार का लोप (अभाव) हो जाये और सर्व व्यवहार का लोप होने से परमार्थ का भी लोप हो जायेगा; इसलिए जिनदेव का स्याद्वादरूप उपदेश समझने से ही सम्यग्ज्ञान है, सर्वथा एकान्त वह मिथ्यात्व है।'

(श्री समयसार गाथा 58-60 का भावार्थ)

(4) आत्मा को पर के निमित्त से जो अनेक भाव होते हैं, वे सब व्यवहारनय के विषय होने से, व्यवहारनय तो पराश्रित है, और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है, वही निश्चयनय का विषय होने से निश्चयनय आत्माश्रित है... इस प्रकार निश्चयनय को प्रधान कहकर व्यवहारनय के ही त्याग का उपदेश किया है, उसका कारण यह है कि – जो निश्चय के आश्रय से वर्तते हैं, वे ही कर्म से मुक्त होते हैं और जो एकान्त व्यवहार के ही आश्रय से वर्तते हैं, वे कर्म से कभी नहीं छूटते।

(श्री समयसार गाथा 272 का भावार्थ)

(5) यह संसारी अवस्था और यह मुक्त अवस्था – ऐसे भेदरूप जो आत्मा का निरूपण करते हैं, वह भी व्यवहारनय का विषय है। उसका अध्यात्मशास्त्र में अभूतार्थ–असत्यार्थ नाम से वर्णन किया है। शुद्ध आत्मा में जो संयोगजनित दशा हो, वह तो असत्यार्थ ही है; कहीं शुद्धवस्तु का वैसा स्वभाव नहीं है, इसलिए वह असत्य ही है।

पुनश्च, निमित्त से जो अवस्था हुई, वह भी आत्मा का ही परिणाम है। जो आत्मा का परिणाम है, वह आत्मा में ही है, इसलिए उसे कथञ्चित् सत्य भी कहा जाता है; भेदज्ञान होने पर जैसा हो, वैसा जानता है...

पुनश्च, द्रव्यरूप पुद्गलकर्म हैं, वे आत्मा से भिन्न ही हैं; उनका शरीरादि के साथ संयोग है, इसलिए प्रगटरूप में वे आत्मा से भिन्न ही हैं। उन्हें आत्मा का कहना, वह व्यवहार प्रसिद्ध ही है – वह असत्यार्थ–उपचार है। *(सूत्र पाहुड़ - सूत्र 6 के भावार्थ से)*

(6) ...जहाँ तक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु को न पहिचाने, वहाँ तक व्यवहार मार्ग द्वारा वस्तु का निश्चय करे, इसलिए निचली दशा में व्यवहानय अपने को भी कार्यकारी है परन्तु व्यवहार को उपचारमात्र मानकर यदि उसके द्वारा वस्तु का यथार्थ निर्णय करे तो कार्यकारी हो, किन्तु यदि निश्चय की भाँति व्यवहार को भी **सत्यभूत मानकर** 'वस्तु ऐसी ही है' – ऐसा श्रद्धान करे तो वह उल्टा अकार्यकारी हो जायेगा। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 253)*

(7) इस बात का समर्थन करते हुए श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि –

अबुद्धस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥

अर्थात् अज्ञानी को समझाने के लिए मुनीश्वर अभूतार्थ (व्यवहार का) उपदेश देते हैं परन्तु जो केवल व्यवहार को ही (साध्य) जानते हैं, उन मिथ्यादृष्टियों के लिए (मुनीश्वरों की) देशना नहीं होती।

– (निश्चय के भानरहित जीव को व्यवहारन का उपदेश कार्यकारी नहीं है, क्योंकि अज्ञानी तो व्यवहार को ही निश्चय मान लेते हैं।

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा, निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य॥ 7॥

अर्थ – जिस प्रकार कोई (सच्चे) सिंह को सर्वथा न जानता हो, उसे तो बिलाव ही सिंहरूप है (वह बिलाव को ही सिंह मानता है), उसी प्रकार जो निश्चय के स्वरूप को न जानता हो, उसके

तो व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त है (वह व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है।)

(8) व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के स्थान पर है, इसलिए परमार्थ का प्रतिपादक (कथन करनेवाला) होने से व्यवहारनय स्थापन करने योग्य है तथा ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं होना चाहिए – इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 252-253)

प्रश्न 66 – व्रत, शील, संयमादि तो व्यवहार हैं या नहीं ?

उत्तर – (1) कहीं व्रत, शील, संयमादिक का नाम व्यवहार नहीं है, किन्तु उन्हें (व्रतादि को) मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है – यह (मान्यता) छोड़ दे। पुनश्च, ऐसे श्रद्धान से उन्हें तो बाह्य सहकारी जानकर, उपचार से मोक्षमार्ग कहा है किन्तु वे तो पर द्रव्याश्रित हैं और सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ-हेय समझना।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 254)

(2) निचली दशा में किन्हीं जीवों के शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का युक्तपना होता है, इसलिए उस व्रतादि शुभोपयोग को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, किन्तु वस्तु विचार से देखते हुए शुभोपयोग मोक्ष का घातक है। – इस प्रकार जो बन्ध का कारण है, वही मोक्ष का घातक है – ऐसा श्रद्धान करना चाहिए। शुद्धोपयोग को ही उपादेय मानकर उसका उपाय करना तथा शुभोगपयोग-अशुभोपयोग को हेय जानकर उसके त्याग का उपाय करना चाहिए और जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके, वहाँ अशुभोपयोग को छोड़कर शुभ में ही प्रवर्तन करना चाहिए, क्योंकि शुभोपयोग से अशुभोपयोग

में अशुद्धता की अधिकता है; शुद्धोपयोग हो, तब तो वह परद्रव्य का साक्षीभूत ही रहता है, इसलिए वहाँ तो किसी परद्रव्य का प्रयोजन ही नहीं है... *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 245)*

(3) शुभक्रिया से धर्म मानना, वह अज्ञानता है; उस क्रिया से बन्ध होता है और उसके फलस्वरूप अनुकूल / अच्छे संयोग मिलते हैं, किन्तु उससे संसार का अन्त नहीं आता, वह तो बना ही रहता है क्योंकि परमात्मप्रकाश अध्याय – 2, गाथा 57 की टीका में कहा है कि – ...इन्द्रियों के भोग की इच्छारूप निदान बन्धपूर्वक ज्ञान, तप, दानादिक से उपार्जित किया हुआ पुण्यकर्म हेय है, निदानबन्ध से उपार्जन किये हुए पुण्यकर्म जीव को दूसरे भव में राज्यवैभव की प्राप्ति कराता है। उस राज्य विभूति को प्राप्त करके अज्ञानी जीव विषयभोग को नहीं छोड़ सकता (इन्द्रिय विषयों में लीन रहता है), इसलिए वह रावण की भाँति नरकादि के दुःख प्राप्त करता है। इस कारण पुण्य हेय है...

(4) पुनश्च, कोई ऐसा मानता है कि शुभोपयोग है, वह शुद्धोपयोग का कारण है। अब, वहाँ जिस प्रकार अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है, उसी प्रकार शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है – ऐसा ही यदि कारण-कार्यपना हो तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग भी सिद्ध होगा; अथवा द्रव्यलिङ्गी को शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है, जबकि शुद्धोपयोग होता ही नहीं, **इसलिए वास्तविकरूप से उन दोनों में कारण कार्यपना नहीं है।** जैसे किसी रोगी को महान रोग था और फिर वह अल्प रह गया तो वहाँ वह अल्प रोग कहीं निरोग होने का कारण नहीं है; हाँ, इतना

अवश्य है कि वह अल्परोग रहने पर निरोग होने का उपाय करे तो हो सकता है, लेकिन कोई अल्परोग को ही अच्छा जानकर उसे रखने का यत्न करे तो निरोग किस प्रकार होगा? उसी प्रकार किसी कषायी को तीव्र कषायरूप अशुभपयोग था, फिर मन्द कषायरूप शुभोपयोग हुआ। अब, वह शुभोपयोग कहीं निष्कषाय शुद्धोपयोग होने का कारण नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि शुभोपयोग होने पर यदि शुद्धोपयोग का यत्न करे तो हो सकता है, लेकिन कोई उस शुभोपयोग को ही अच्छा मानकर उसी का साधन करता रहे तो शुद्धोपयोग कहाँ से होगा? दूसरे, मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग का कारण है ही नहीं, किन्तु सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग होने पर निकट शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है; - ऐसी मुख्यता से कहीं-कहीं शुभोपयोग को भी शुद्धोपयोग का कारण कहते हैं - ऐसा समझना।'' *(मोक्षमार्गप्रकाशक, 256)*

(5) ...व्यवहार तो उपचार का नाम है और वह उपचार भी तभी बनता है, जब वह सत्यभूत निश्चय रत्नत्रय के कारणादिरूप हो, अर्थात् जिस प्रकार निश्चय रत्नत्रय की साधना होती है, उसी प्रकार उसे साधे तो उसमें व्यवहारपना सम्भव हो...

(मोक्षमार्गप्रकाशक, 249)

प्रश्न 67 - अध्यात्मशास्त्र में नयों का क्या स्वरूप है?

उत्तर - 1. तावत्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च।

अर्थात् नयों के मूल दो भेद हैं - (1) निश्चयनय, (2) व्यवहारनय।

2. तत्रनिश्यनयोऽभेदविषयों व्यवहारो भेदविषयः।

अर्थात् उसमें निश्चयनय (गुण–गुणी के) अभेद को विषय करनेवाला है और व्यवहारनय (गुण–गुणी के) भेद को विषय करनेवाला है।

3. तत्रनिश्चयों द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिष्यश्च।

अर्थात् उसमें निश्चयनय के दो प्रकार हैं –

(1) शुद्धनिश्चयनय, (2) अशुद्ध निश्चयनय।

4. तत्रनिरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्ध निश्चयो, यथा केवल ज्ञानादयो जीव इति।

अर्थात् निरुपाधिक (शुद्ध) गुण–गुणी को अभेदरूप विषय करनेवाला शुद्धनिश्चयनय है; जैसे कि जीव केवलज्ञानादि स्वरूप है।

5. सोपाधिकविषयोऽशुद्धनिश्चयो, यथा मतिज्ञानादयो जीवः।

अर्थात् उपाधिसहित (गुण–गुणी का अभेदरूप) विषय करनेवाला, वह अशुद्धनिश्चयनय है; जैसे कि, जीव मतिज्ञानादि स्वरूप है।

व्यवहारनय

6. व्यवहारो द्विविधः सद्‌भूतव्यवहारोऽसद्‌भूत व्यवहारश्च।

अर्थात् व्यवहारनय दो प्रकार से है – (1) सद्‌भूतव्यवहारनय और (2) असद्‌भूतव्यवहारनय।

7. तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्नवस्तु-विषयोऽसद्भूत व्यवहारः। तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात्।

अर्थात् एक वस्तु को (वृक्ष और डाली की भाँति भेदरूप) विषय करे, वह सद्भूतव्यवहारनय है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं को (अभेदरूप-एकरूप) ग्रहण करे, वह असद्भूतव्यवहारनय है।

उसमें सद्भूतव्यवहारनय के दो भेद हैं - (1) उपचरित और (2) अनुपचरित।

8. तत्रसोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयः उपचरितसद्भूतो-व्यवहारो, यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः।

अर्थात् जो नय उपाधिसहित गुण-गुणी के भेद को विषय करे, वह उपचरित-सद्भूतव्यवहानय है; जैसे कि जीव के मतिज्ञानादि गुण कहना।

9. निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूत-व्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणः।

अर्थात् जो नय उपाधिरहित गुण-गुणी के भेद को विषय करे, उसे अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे कि जीव के केवलज्ञानादि गुण; (परमाणु के स्पर्शादि गुण)

10. असद्भूतव्यवहारो, द्विविधः उपचरितानुपचरित-भेदात्।

अर्थात् असद्भूत व्यवहारनय के दो भेद हैं - (1) उपचरित -असद्भूतव्यवहारनय, (2) अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय।

11. तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा देवदत्तस्य धनमिति।

अर्थात् जो पृथक वस्तुओं का (एकरूप) सम्बन्धरूप विषय करे, वह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है; जैसे कि देवदत्त का धन।

12. संश्लेषसहितवस्तुसंबंधविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य शरीरमिति।

अर्थात् जो नय संयोग सम्बन्ध से युक्त दो भिन्न पदार्थों के सम्बन्ध को विषय करे, उसे अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं; जैसे कि - जीव का शरीर।

(पण्डित हजारीलालजी द्वारा सम्पादित आलापपद्धति, पृष्ठ 136 से 139)

पञ्चाध्यायी अनुसार अध्यात्मनयों का स्वरूप तथा उनसे विरुद्ध नयाभासों का स्वरूप

प्रश्न 68 - सम्यक्नय और नयाभास (मिथ्यानय) का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - (1) जो नय तद्गुण[1] संविज्ञानसहित, उदाहरणसहित, हेतुसहित और फलवान (प्रयोजनवान) हो, वह सम्यक्नय है। जो उससे विपरीतनय है, वह नयाभास (मिथ्यानय) है क्योंकि परभाव को अपना कहने से आत्मा को क्या साध्य (लाभ) है! (कुछ नहीं)

---

1. जीव के भाव वे, जीव के तद्गुण हैं; तथा पुद्गल के भाव, वे पुदगल के तद्गुण हैं - ऐसे विज्ञान सहित हैं।

(2) जीव को पर का कर्ता-भोक्ता माना जाये तो भ्रम होता है। व्यवहार से भी जीव, पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है। व्यवहार से आत्मा (जीव) राग का कर्ता-भोक्ता है, क्योंकि राग वह अपनी पर्याय का भाव है, इसलिए उसमें तद्‌गुणसंविज्ञान लक्षण लागू होता है। जो उससे विरुद्ध कहे, वह नयाभास (मिथ्यानय) है।

प्रथम नयाभास

(1) जीव को वर्णादि युक्त मानना।

(पञ्चाध्यायी भाग 1, गाथा 563)

(2) मनुष्य इत्यादि शरीर हैं, वे ही जीव हैं - ऐसा जानना।

(गाथा 567-68)

(3) मनुष्य शरीर, जीव के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप से हैं, इसलिए एक है - ऐसा मानना। *(गाथा 569)*

(4) शरीर और आत्मा को बन्ध्य-बन्धकभाव मानना।

(गाथा 570)

(5) शरीर और आत्मा को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध प्रयोजनवान नहीं है क्योंकि स्वयं और स्वत: परिणमित होनेवाली वस्तु को पर के निमित्त से क्या लाभ? (कोई लाभ नहीं।)

(गाथा 571)

दूसरा नयाभास

(1) जीव और जड़ कर्म भिन्न-भिन्न द्रव्य होने से तथा उनके परस्पर गुणों को (पर्यायों का) संक्रमण न हो सकने से, जीव, कर्म -नोकर्म (शरीरादि) या किसी मूर्तिक वस्तु का कर्ता-भोक्ता नहीं हो सकता, तथापि उसमें नय लागू करना, वह नयाभास है - मिथ्यानय है। *(गाथा 572)*

(2) गुण संक्रमण बिना ही यदि आत्मा, कर्मादि का कर्ता-भोक्ता हो तो सर्व पदार्थों में सर्व संकरदोष, तथा सर्व शून्यदोष आयेगा। *(गाथा 572-573)*

(3) मूर्तिमान ऐसा पुद्गलद्रव्य अपने आप ही जीव की अशुद्ध परिणति की उपस्थिति में कर्मरूप परिणमित हो जाता है, यही इस विषय में भ्रम का कारण है। *(गाथा 573)*

(4) जो कोई भी **कर्ता-भोक्ता** होता है, वह **अपने भाव का ही होता है।** जिस प्रकार कुम्हार वास्तव में अपने भाव का कर्ता-भोक्ता है किन्तु परभावरूप जो घड़ा, उसका कर्ता या भोक्त वह कदापि नहीं हो सकता। *(गाथा 577)*

(5) कुम्हार घड़े का कर्ता है - ऐसा लोकव्यवहार नयाभास है। *(गाथा 579)*

तीसरे नयाभास का स्वरूप

(1) जो बन्ध (एकत्व) को प्राप्त नहीं होते - ऐसे परपदार्थों में भी अन्य पदार्थ को अन्य पदार्थ का कर्ता-भोक्ता मानना, वह नयाभास है।

(2) गृह, धन, धान्य, स्त्री, पुत्रादि को जीव स्वयं करता है और उनका उपभोग करता है - ऐसा मानना, वह नयाभास है।

[जीव का व्यवहार परपदार्थ में नहीं होता, किन्तु अपने में ही होता है। जीव का परद्रव्य के साथ सम्बन्ध बतलानेवाले सभी कथन अध्यात्मदृष्टि से नयाभास हैं।] *(गाथा 580-81)*

चौथे नयाभास का स्वरूप

(1) ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के कारण ज्ञान को ज्ञेयगत कहना,

तथा ज्ञेय को ज्ञानगत कहना भी नयाभास है। *(गाथा 585)*

निक्षेप

प्रश्न 69 – निक्षेप किसे कहते हैं?

उत्तर – (1) युक्ति द्वारा (नय-प्रमाणज्ञान द्वारा) सुयुक्त मार्ग प्राप्त होने पर कार्यवशात् **नाम, स्थापना, द्रव्य** (योग्यतारूप शक्ति) और **भाव** में पदार्थ के स्थापन को निक्षेप कहते हैं।

(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)

(2) प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित हुए लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं। ज्ञेय, पदार्थ अखण्ड है, तथापि उसे जानते हुए उसके जो भेद (अंश-पक्ष) किये जाते हैं, उसे निक्षेप कहते हैं।

(मोक्षशास्त्र, अध्याय 1, सूत्र 5 की टीका)

[निक्षेप, नय का विषय है। नय, निक्षेप का विषय करनेवाला विषयी है।]

प्रश्न 70 – नामनिक्षेप किसे कहते है?

उत्तर – गुण, जाति, द्रव्य और क्रिया की अपेक्षारहित मात्र इच्छानुसार किसी का नाम रखना, वह नामनिक्षेप है; जैसे – किसी का नाम 'जिनदत्त' रखा; चूँकि वह जिनदेव का दिया हुआ नहीं है, तथापि लोक व्यवहार (पहिचानने) के लिए उसका नाम 'जिनदत्त' रखा गया है।

प्रश्न 71 – स्थापनानिक्षेप किसे कहते हैं?

उत्तर – अनुपस्थित (उपस्थित न हो ऐसी) किसी वस्तु का दूसरी उपस्थित वस्तु में सम्बन्ध या मनोभावना जोड़कर आरोप

कर देना है कि 'यह वहीं है' – ऐसी भावना को स्थापना कहा जाता है; अन्य पदार्थ में उस स्थापना द्वारा आरोप करना अर्थात् अन्य पदार्थ में अन्य पदार्थ की स्थापना करना; जैसे कि पार्श्वनाथ की प्रतिमा को पार्श्वनाथ प्रभु कहना।

स्थापनानिक्षेप के दो प्रकार हैं – (1) तदाकार स्थापना और (2.) अतदाकार स्थापना।

जिस पदार्थ का जैसा आकार हो, वैसा आकार स्थापना में करना वह 'तदाकार स्थापना' है। सदृशता को स्थापनानिक्षेप का कारण नहीं समझना चाहिए किन्तु मात्र **मनोभावना** ही उसका कारण है।

[नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप में अन्तर है कि नामनिक्षेप में पूज्य–अपूज्य का व्यवहार नहीं होता, किन्तु स्थापनानिक्षेप में पूज्य–अपूज्य का व्यवहार होता है।]

प्रश्न 72 – द्रव्यनिक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर – भूतकाल में प्राप्त हुई अवस्था को अथवा भविष्यकाल में प्राप्त होनेवाली अवस्था को वर्तमान में कहना, वह द्रव्यनिक्षेप है। श्रेणिकराजा भविष्य में तीर्थङ्कर होनेवाले हैं, उन्हें वर्तमान में तीर्थङ्कर कहना और महावीर भगवानादि भूतकाल में हुए तीर्थङ्करों को वर्तमान तीर्थङ्कर मानकर उनकी स्तुति करना, वह द्रव्यनिक्षेप है।

प्रश्न 73 – भावनिक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर – केवल वर्तमान पर्याय की मुख्यता से अर्थात् जो पदार्थ वर्तमान दशा में जिस रूप है, उसे उस रूप व्यवहार करना, वह भावनिक्षेप है; जैसे कि श्री सीमन्धर भगवान वर्तमान तीर्थङ्कर

के पद पर महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं, उन्हें तीर्थङ्कर कहना, और महावीर भगवान, जो वर्तमान में सिद्ध हैं, उन्हें सिद्ध कहना, वह भावनिक्षेप है।

नाम, स्थापना और द्रव्य – यह तीन निक्षेप, द्रव्य को विषय करते हैं, इसलिए ये द्रव्यार्थिकनय के आधीन हैं, और भावनिक्षेप, पर्याय को विषय करता है, इसलिए वह पर्यायार्थिकनय के आधीन है। *(आलाप पद्धति)*

प्रश्न 74 – नैगमनय और द्रव्यनिक्षेप में क्या अन्तर है ?

उत्तर – यद्यपि नैगमनय और द्रव्यनिक्षेप के विषय समान मालूम होते हैं, तथापि वे एक नहीं है। नैगमनय ज्ञान का भेद है; इसलिए वह विषयी (जाननेवाला) है और द्रव्यनिक्षेप पदार्थों की अवस्थारूप है, इसलिए वह विषय (जाननेयोग्य-ज्ञेय) है। तात्पर्य यह है कि उनमें ज्ञायक-ज्ञेय या विषयी-विषय का सम्बन्ध है; इसीलिए दोनों एक नहीं है। *(आलाप पद्धति)*

प्रश्न 75 – ऋजुसूत्रनय और भावनिक्षेप में क्या अन्तर है ?

उत्तर – 'भावनिक्षेप, द्रव्य की वर्तमान पर्यायमात्र को ग्रहण करता है। यद्यपि उसका विषय भी ऋजुसूत्रनय के साथ मिलता है, तथापि वह एक नहीं है। ऋजुसूत्रनय, प्रमाण का अंश होने से विषयी है और भावनिक्षेप, पदार्थ का पर्यायस्वरूप होने से विषय स्वरूप है; इसीलिए दोनों भिन्न-भिन्न हैं।'

(आलाप पद्धति, पृष्ठ 118)

★★★★★

प्रकरण नववाँ
अनेकान्त और स्याद्वाद अधिकार

प्रश्न 1 – अनेकान्त किसे कहते हैं ?

उत्तर – (1) प्रत्येक वस्तु में वस्तुपने की सिद्धि करनेवाली अस्ति–नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का एक ही साथ प्रकाशित होना, उसे अनेकान्त कहते हैं।

आत्मा सदा स्व–रूप से है और पर–रूप से नहीं है – ऐसी जो दृष्टि, वही सच्ची अनेकान्त दृष्टि है।

(2) सत्–असत्, नित्य–अनित्य, एक–अनेक इत्यादि सर्वथा एकान्त का निराकरण (नकार), वह अनेकान्त है।

(आप्तमीमांसा गाथा 103 की टीका)

प्रश्न 2 – अनेकान्त स्वरूप किस प्रकार सिद्ध होता है ?

उत्तर – पदार्थ अनेक धर्मवान हैं क्योंकि उसमें नित्यादि एकान्तस्वरूप का अभाव है। यहाँ अनेकान्तरूपपने से विरुद्ध स्वरूप का अभाव वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को ही सिद्ध करता है। *(परीक्षामुख, अध्याय 3, सूत्र 85 टीका)*

प्रश्न 3 – दो विरुद्ध धर्मों सहित वस्तु सत्यार्थ होती है ?

उत्तर – हाँ, वस्तु है, वह तत्–अतत् – ऐसे दोनों रूप है; इसलिए जो वाणी वस्तु को तत् ही कहती है, वह सत्य कैसे होगी ? – नहीं हो सकती... यहाँ ऐसा समझना कि वस्तु है, वह तो प्रत्यक्षादि प्रमाण के विषयरूप सत्–असत् (अस्ति–नास्ति) आदि विरुद्ध धर्म के आधारभूत है, वह अविरुद्ध (यथार्थ) है। अन्य मतवादी (वस्तु को) सत्‌रूप ही या असत्‌रूप ही है – इस प्रकार एकान्त कहते हैं तो कहो; वस्तु तो वैसी नहीं है। वस्तु स्वयं अपना स्वरूप अनेकान्त स्वरूप बतलाती है, तो हम क्या करें। वादी पुकारते हैं – विरुद्ध है रे... विरुद्ध है रे। जो पुकारो; कहीं निरर्थक पुकार में साध्य नहीं है... *(आप्तमीमांसा, गाथा 110 की टीका)*

प्रश्न 4 – अनेकान्त और एकान्त का निरुक्ति अर्थ क्या है ? उन दोनों के कितने–कितने भेद हैं ?

उत्तर – अनेकान्त = अनेक + अन्त – अनेक धर्म।

एकान्त = एक + अन्त – एक धर्म।

अनेकान्त के दो भेद हैं – (1) सम्यक् अनेकान्त और (2) मिथ्या अनेकान्त।

एकान्त के दो भेद हैं – (1) सम्यक् एकान्त और (2) मिथ्या एकान्त।

सम्यक् एकान्त, वह नय है और मिथ्या एकान्त, वह नयाभास है।

प्रश्न 5 – सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – सम्यक् अनेकान्त :– प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाण से अविरुद्ध एक वस्तु में जो अनेक धर्म हैं, उनका निरूपण करने में तत्पर है, वह सम्यक् अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु अपनेरूप है और पररूप नहीं है। आत्मा स्व–स्वरूप है और पर–स्वरूप नहीं है; पर उसके अपने स्वरूप है और दूसरे आत्मा के स्वरूप नहीं है – इस प्रकार जानना, वह सम्यक् अनेकान्त है।

मिथ्या अनेकान्त :– तत्–अतत् स्वभाव की जो मिथ्या कल्पना की जाए, वह मिथ्या अनेकान्त है। जीव अपना कर सकता है और दूसरे जीव का भी कर सकता है – इसमें जीव का अपने से तथा पर से – दोनों से तत्पना हुआ, इसलिए वह मिथ्या अनेकान्त है।
(स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित, मोक्षशास्त्र, अध्याय 1, सूत्र 6 की टीका)

प्रश्न 6 – सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त के दृष्टान्त दीजिए ?

उत्तर – (1) आत्मा अपनेरूप है और पररूप नहीं है – ऐसा जानना, वह सम्यक् (सच्चा) अनेकान्त है।

आत्मा अपनेरूप है और पररूप भी है – ऐसा जानना, वह मिथ्या अनेकान्त है।

(2) आत्मा अपना कर सकता है और शरीरादि परवस्तुओं का कुछ नहीं कर सकता – ऐसा जानना, वह सम्यक् अनेकान्त है।

आत्मा अपना कर सकता है और शरीरादि पर का भी कर सकता है – ऐसा जानना, वह मिथ्या अनेकान्त है।

(3) आत्मा को शुद्धभाव से धर्म होता है और शुभभाव से धर्म नहीं होता – ऐसा जानना, वह सम्यक् अनेकान्त है।

आत्मा को शुद्धभाव से धर्म होता है और शुभभाव से भी धर्म होता है – ऐसा जानना, वह मिथ्या अनेकान्त है।

(4) निश्चय के आश्रय से धर्म होता है और व्यवहार के आश्रय से धर्म नहीं होता – ऐसा जानना, वह सम्यक् अनेकान्त है।

निश्चय के आश्रय से धर्म होता है और व्यवहार के आश्रय से थी धर्म होता है – ऐसा समझना, वह मिथ्या अनेकान्त है।

(5) व्यवहार का अभाव होने पर निश्चय प्रगट होता है – ऐसा जानना, वह सम्यक् अनेकान्त है।

व्यवहार करते–करते निश्चय प्रगट होता है – ऐसा जानना, वह मिथ्या अनेकान्त है।

(6) आत्मा को अपनी शुद्धक्रिया से लाभ होता है और शरीर की क्रिया से लाभ या हानि नहीं होते – ऐसा समझना, वह सम्यक् अनेकान्त है।

आत्मा को अपनी शुद्धक्रिया से लाभ होता है और शरीर की क्रिया से भी लाभ होता है – ऐसा जानना, वह मिथ्या अनेकान्त है।

(7) एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो शक्तियाँ (सत्–असत्, तत्–अतत्, नित्य–अनित्य, एक–अनेक आदि) प्रकाशित होकर वस्तु को सिद्ध करें, वह सम्यक् अनेकान्त है।

एक वस्तु में दूसरी की शक्ति प्रकाशित होकर, एक वस्तु दो वस्तुओं का कार्य करती है – ऐसा मानना, वह मिथ्या अनेकान्त है; अथवा तो सम्यक् अनेकान्त से वस्तु का जो स्वरूप निश्चित् है, उससे विपरीत वस्तु–स्वरूप की मात्र कल्पना करके उसमें न

हों, ऐसे स्वभावों की कल्पना करना, वह मिथ्या अनेकान्त है।

8. जीव अपने भाव कर सकता है और परवस्तु का कुछ नहीं कर सकता – ऐसा जानना, वह सम्यक् अनेकान्त है।

जीव सूक्ष्म पुद्गलों का कुछ नहीं कर सकता, किन्तु स्थूल पुद्गलों का कर सकता है – ऐसा जानना, वह मिथ्या अनेकान्त है। *(मोक्षशास्त्र, अध्याय 1, सूत्र 6 की टीका)*

प्रश्न 7 – सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त किसे कहते हैं?

उत्तर – **सम्यक् एकान्त :**– अपने स्वरूप से अस्तित्व और पररूप से नास्तित्व – आदि जो वस्तुस्वरूप है, उसकी अपेक्षा रखकर प्रमाण द्वारा जाने हुए पदार्थ के एक देश का (एक पक्ष का) विषय करनेवाला नय, वह सम्यक् एकान्त है।

किसी वस्तु के एक धर्म का निश्चय करके, उसमें रहनेवाले अन्य धर्मों का **निषेध** करना, वह मिथ्या एकान्त है।

प्रश्न 8 – सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त के दृष्टान्त दीजिये?

उत्तर – (1) सिद्ध भगवान एकान्त सुखी हैं – ऐसा जानना, वह सम्यक् एकान्त हैं, क्योंकि सिद्ध जीवों को बिल्कुल दुःख नहीं है – ऐसा गर्भितरूप उसमें आ जाता है।

सर्व जीव एकान्त सुखी हैं – ऐसा जानना, वह मिथ्या एकान्त है क्योंकि अज्ञानी जीव वर्तमान में दुःखी है – इसका उसमें अस्वीकार होता है।

(2) सम्यग्ज्ञान धर्म है – ऐसा जानना, वह सम्यक्–एकान्त

है क्योंकि 'सम्यग्ज्ञानपूर्वक वैराग्य होता है' – ऐसा उसमें गर्भितरूप से आ जाता है।

'त्याग ही धर्म है' – ऐसा जानना, वह मिथ्या एकान्त है, क्योंकि 'त्याग के साथ सम्यग्ज्ञान होना ही चाहिए' – ऐसा उसमें नहीं आता। *(मोक्षशास्त्र, अध्याय 1, सूत्र 6 की टीका)*

प्रश्न 9 – स्याद्वाद किसे कहते हैं ?

उत्तर – (1) वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझानेवाली कथनपद्धति को स्याद्वाद कहते हैं।

[स्यात् = कथञ्चित; किसी प्रकार से, किसी सम्यक् अपेक्षा से; वाद = कथन।]

'स्याद्वाद' अनेकान्त का द्योतक है / बतलानेवाला है। अनेकान्त और स्याद्वाद को द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध है।

(2) ...ऐसा जो अनन्त धर्मोंवाला द्रव्य, उसके एक-एक धर्म का आश्रय करके विवक्षित-अविवक्षित के विधि-निषेध द्वारा प्रगट होनेवाली सप्तभङ्गी सतत् सम्यक् प्रकार से उच्चारण किये जानेवाले स्यात्काररूपी अमोघ मन्त्रपद द्वारा, 'ही' कार में भरे हुए सर्व विरोध विष के मोह को दूर करता है।

(प्रवचनसार, गाथा 115 की टीका)

(3) विवक्षित (जिसका कथन करना है) धर्म को मुख्य करके उसका प्रतिपादन करने से और अविवक्षित (जिसका कथन नहीं करना है) धर्म को गौण करके उसका निषेध करने से सप्तभङ्गी प्रगट होती है।

स्वाद्वाद में अनेकान्त को सूचित करते हुए 'स्यात्' शब्द

का सम्यक्‌रूप से उपयोग होता है। 'स्यात्' पद एकान्तवाद में भरे हुए समस्त विरोधीरूपी विष के भ्रम को नष्ट करने में रामवाण मन्त्र है।

...अनेकान्त वस्तुस्वभाव का लक्ष्य चूके बिना, जिस अपेक्षा से वस्तु का कथन चल रहा हो, उस अपेक्षा से, उसका निर्णीतपना–नियमबद्धपना–निरपवादपना बतलाने के लिए जिस 'एव' या 'ही' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसका वहाँ निषेध नहीं समझाना। *(श्री प्रवचनसार गाथा 115 का फुटनोट)*

(4) पदार्थों में अनन्त धर्म हैं और वे सब एक साथ एक ही समय में होते हैं, कोई आगे–पीछे नहीं होता परन्तु वचन से तो एक बार एक ही धर्म का कथन हो सकता है, सबका कथन एक साथ नहीं हो सकता; इस कारण अपेक्षावाची शब्द 'स्यात्' या 'कथञ्चित्' न लगाया जाए तो विवक्षित पदार्थ का एक विवक्षित धर्म ही समझा जा सकेगा और अन्य समस्त धर्मों का लोप हो जाएगा – ऐसी दशा में पदार्थ का पूर्ण स्वरूप समझ में नहीं आयेगा या अधूरा ही समझ में आयेगा, किन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसे नहीं है; इसलिए ऐसा कथन एकान्त कथन हो जाएगा। ऐसे एकान्त कथन को मिथ्या एकान्त कहा है। *(आलाप पद्धति हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ 49-50)*

(5) आप्तमीमांसा की 111 वीं कारिका के व्याख्यान में श्री अकलंकदेव कहते हैं कि वचन का ऐसा स्वभाव है कि स्व विषय का अस्तित्व दिखलाने पर वह उससे अन्य का (परवस्तु का) निराकरण करता है, इसलिए अस्तित्व और नास्तित्व इन दो मूल धर्मों के आश्रय से सप्तभंङ्गीरूप स्याद्वाद की सिद्धि होती है।

(तत्त्वार्थसार, पृष्ठ - 125 फुटनोट)

प्रश्न 10 – जीवद्रव्य को 'सप्तभङ्गी' में उतारकर समझाइये ?

उत्तर – पहला भङ्ग – 'स्यात् अस्ति।'

जीवः स्याद् अस्ति एव। जीव, स्वरूप की अपेक्षा से ही (अर्थात् जीव अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ही) है। इस कथन में 'जीव स्वरूप की अपेक्षा से है' – यह बात मुख्यरूप से है और 'जीव पररूप की अपेक्षा से नहीं है' – यह बात गौणरूप से उसमें गर्भित है।

– ऐसा जो जाने उसी ने जीव के 'स्यात् अस्ति' भङ्ग को यथार्थ जाना है, किन्तु यदि 'जीव पर की (अजीव स्वरूप की) अपेक्षा से नहीं है' – ऐसा उसके लक्ष्य में गर्भितरूप से न आये तो वह जीव का 'स्याद् अस्ति स्वरूप' – जीव का सम्पूर्ण स्वरूप नहीं समझा है, और इसलिए वह दूसरे छह भङ्ग भी नहीं समझा है।

दूसरा भङ्ग – 'स्यात् नास्ति'।

जीवः स्याद् नास्ति एव। जीव पर रूप की अपेक्षा से (अर्थात् जीव पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से) नहीं ही है।

इस कथन में 'जीव पररूप की अपेक्षा से नहीं है' – यह बात मुख्यरूप से है और 'जीव स्वरूप की अपेक्षा से है' – यह बात गौण रूप से उसमें गर्भित है।

जीव और पर एक-दूसरे के प्रति अवस्तु हैं – ऐसा 'स्यात् नास्ति' पद सूचित करता है। – इस प्रकार दोनों भङ्ग स्व-पर की अपेक्षा से विधि – निषेधरूप जीव के ही धर्म हैं।

तीसरा भङ्ग – 'स्यात् अस्ति नास्ति।'

जीवः स्याद् अस्ति नास्ति एव – जीव, स्वरूप की अपेक्षा

से है और पररूप की अपेक्षा से है ही नहीं। जीव में विधि-निषेधरूप दोनों धर्म एक ही साथ होने पर भी वे वचन द्वारा क्रम से कहे जाते है।

चौथा भङ्ग - स्यात् अवक्तव्य।

जीवः स्याद् अवक्तव्यम् एव। जीव स्वरूप-पररूप के युगपद्पने की अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

जीव में अस्ति और नास्ति - दोनों धर्म एक काल में होते हैं; तथापि वचन द्वारा एक काल में (युगपद्) उन्हें कहना अशक्य है, इसलिए वे किसी प्रकार से अवक्तव्य हैं।

पाँचवाँ भङ्ग - स्यात् अस्ति अवक्तव्य।

जीवः स्याद् अस्ति अवक्तव्यम् एव। जीव, स्वरूप की अपेक्षा से अस्ति और स्वरूप-पररूप के युगपद्पने की अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

जीव का स्वरूप जिस समय 'अस्ति' से कहा जा सके, उस समय नास्ति तथा अन्य धर्म आदि युगपद् नहीं कहे जा सकते; इसलिए यह भङ्ग 'स्यात् अस्ति अवक्तव्य' कहलाता है।

छठवाँ भङ्ग - स्यात् नास्ति अवक्तव्य।

जीवः स्याद् नास्ति अवक्तव्यम् एव। जीव, पररूप की अपेक्षा से नास्ति और स्वरूप-पररूप के युगपद्पने की अपेक्षा से स्यात् नास्ति अवक्तव्य ही है।

जीव का स्वरूप जिस समय 'नास्ति' से कहा जा सके, उस समय 'आस्ति' तथा अन्य धर्म आदि युगपद् नहीं कहे जा सकते;

(अवक्तव्य हैं), इसलिए यह भङ्ग 'स्यात् नास्ति अवक्तव्य' कहलाता है।

सातवाँ भङ्ग - स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य।

जीवः स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यम् एव। जीव क्रम से स्वरूप-पररूप की अपेक्षा से अस्ति-नास्ति और स्वरूप-पररूप के युगपद्पने की अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

'स्यात् अस्ति' और 'स्यात् नास्ति' - इन दोनों भङ्ग द्वारा जीव क्रम से वक्तव्य है, किन्तु युगपद् वक्तव्य नहीं है, इसलिए यह भङ्ग अस्ति-नास्ति अवक्तव्य कहलाता है।

[स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को साधनेवाला अर्हत् सर्वज्ञ का अस्खलित शासन है। वह ऐसा उपदेश देता है कि सब अनेकान्तात्मक है। वह वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निर्णय कराता है। वह संशयवाद नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि स्याद्वाद वस्तु का नित्य तथा अनित्यादि दो प्रकार से दोनों पक्ष से कहता है, इसलिए संशय का कारण है परन्तु वह मिथ्या है। **अनेकान्त में तो दोनों पक्ष निश्चित हैं; इसलिए वह संशय का कारण नही हैं।**]

(श्री प्रवचनसार गाथा 115 की टीका; मोक्षमाशास्त्र (प्रकाशक स्वा० म०) अ. 4 का उपसंहार, तथा स्वामी कार्तिकेयनुप्रेक्षा, गाथा 311-12 का भावार्थ)

प्रश्न 11 - सिद्ध भगवान को किसी अपेक्षा से सुख का प्रगटपना तथा किसी अपेक्षा से दुःख का प्रगटपना मानना - यह अनेकान्त सिद्धान्तानुसार ठीक है?

उत्तर - नहीं, क्योंकि वास्तव में गुण और पर्याय - इन दोनों में गौण और मुख्य व्यवस्था की अपेक्षा से ही अनेकान्त प्रमाण माना गया है; सुख और दुःख दोनों पर्याय हैं, इसलिए पर्यायरूप से

उनका (सुख-दुःख का) द्वैत तो भगवान के नहीं बन सकता। भगवान को पर्याय में दुःख है ही नहीं। जो कुछ हो, उसी में अनेकान्त लागू हो सकता है। *(पञ्चाध्यायी भाग 2, गाथा 333 से 335)*

प्रश्न 12 - पर्यायों में क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध - ऐसा मानना - यह अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार सत्य है ?

उत्तर - नहीं, पर्यायें क्रमबद्ध ही होती, अक्रमबद्ध होती ही नहीं - यह अनेकान्त है। 'पञ्चाध्यायी' (भाग 2, गाथा 334) के अनुसार गुण अक्रम हैं और पर्यायं क्रमबद्ध ही हैं।

प्रश्न 13 - अनेकान्त क्या बतलाता है ?

उत्तर - (1) अनेकान्त वस्तु को पर से असङ्ग बतलाता है। असङ्गपने की स्वतन्त्र श्रद्धा, वह असङ्गता के विकास का उपाय है; पर से पृथकत्व, वह वस्तु का स्वभाव है।

(2) अनेकान्त, वस्तु को 'स्वरूप से है और पररूप से नहीं है' - ऐसा बतलाता है। आत्मा पररूप से नहीं है, इसलिए वह परवस्तु का कुछ भी करने में असमर्थ है; और परवस्तु न हो तो उसका आत्मा को दुःख भी नहीं है।

'तू अपने रूप है' तो पररूप नहीं है और परवस्तु अनुकूल हो या प्रतिकूल - उसे बदलने में तू समर्थ नहीं है। बस, इतना निर्णय कर तो श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति तेरे पास ही है।

(3) अनेकान्त, वस्तु की स्व-रूप से सत् बतलाता है। सत् को सामग्री की आवश्यकता नहीं है, संयोग की आवश्यकता नहीं है, किन्तु सत् को सत् के निर्णय की आवश्यकता है - 'सत्रूप हूँ, पररूप नहीं हूँ।'

(4) अनेकान्त, वस्तु को एक-अनेक स्वरूप बतलाता है। 'एक' कहते ही 'अनेक' की अपेक्षा आ जाती है। तू अपने में एक है और अपने में ही अनेक हैं। अपने गुण-पर्याय से अनेक हैं, वस्तु से एक हैं।

(5) अनेकान्त, वस्तु को नित्य-अनित्य स्वरूप बतलाता है। स्वयं नित्य और स्वयं ही पर्याय से अनित्य है; उसमें जिस ओर की रुचि उस ओर का परिवर्तन (परिणाम) होता है। नित्य वस्तु की रुचि करे तो नित्य स्थायी ऐसी वीतरागता होती है और अनित्य पर्याय की रुचि करे तो क्षणिक राग-द्वेष होते हैं।

(6) अनेकान्त प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता घोषित करता है। वस्तु स्व से है और पर से नहीं है - ऐसा कहा उसमें 'स्व अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण ही है' - यह आ जाता है। वस्तु को पर की आवश्यकता नहीं है, अपने से ही स्वयं स्वाधीन परिपूर्ण है।

(7) अनेकान्त प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति आदि दो विरुद्ध शक्तियाँ बतलाता है। एक वस्तु में वस्तुपने को सिद्ध करनेवाली दो विरुद्ध शक्तियाँ होकर ही तत्त्व की पूर्णता है - ऐसी दो विरुद्ध शक्तियों का होना वह वस्तु का स्वभाव है।

(मोक्षशास्त्र, अध्याय 4 का उपसंहार)

प्रश्न 14 - साधक जीव को अस्ति-नास्ति के ज्ञान से क्या लाभ?

उत्तर - 'जीव स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं है' - ऐसी अनादि की वस्तु स्थिति होने पर भी, जीव अनादि से अविद्या के कारण से शरीर को अपना मानता है और इसलिए शरीर उत्पन्न

होने पर स्वयं उत्पन्न हुआ तथा शरीर का नाश होने पर स्वयं का नाश हुआ – ऐसा मानता है। इस प्रकार उसे 'जीवतत्त्व' और 'अजीवतत्त्व' की विपरीत श्रद्धा होती है।

उस विपरीत श्रद्धा के कारण वह ऐसी मान्यता करता है कि – जीव, शरीर के कार्य–हलन–चलन, उठाना–बैठाना, सुलाना शरीर की सम्भाल आदि कर सकता है। जीवतत्त्व सम्बन्धी यह विपरीत श्रद्धा, आस्ति–नास्ति भंग के यथार्थ ज्ञान द्वारा दूर होती है।

शरीर स्वस्थ हो तो जीव को लाभ होता है, अस्वस्थ हो तो हानि होती है; शरीर अच्छा हो तो जीव धर्म कर सकता है, खराब हो तो नहीं कर सकता – इत्यादि प्रकार से वह अजीवतत्त्व सम्बन्धी विपरीत श्रद्धा करता रहता है; यह भूल भी अस्ति–नास्ति के भङ्ग के यथार्थ ज्ञान द्वारा दूर होती है।

जीव, जीव से अस्तिरूप है और पर से अस्तिरूप नहीं है, किन्तु नास्तिरूप है – ऐसा जब यथार्थरूप से ज्ञान में निश्चित् करता है, तब प्रत्येक तत्त्व यथार्थतया भासित होता है और जीव, परद्रव्यों को पूर्णतः अकिञ्चित्कर है तथा परद्रव्य, जीव को पूर्णतः अकिञ्चित्कर है क्योंकि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्यरूप से नास्तिरूप है – ऐसा विश्वास होता है और उससे जीव पराश्रयी –परालम्बीपना मिटाकर स्वाश्रयी–स्वावलम्बी होता है। वही धर्म का प्रारम्भ है।

जीव का पर के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है ? – उसका ज्ञान इन दो भङ्गों द्वारा किया जा सकता है। निमित्त, वह परद्रव्य होने से नैमित्तिक जीव का कुछ नहीं कर सकता; मात्र आकाश प्रदेश में एक क्षेत्रावगाहरूप में या संयोगदशारूप

में उपस्थित होता है, किन्तु नैमित्तिक, वह निमित्त से पर है और निमित्त, वह नैमित्तिक से पर है; इसलिए एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते। नैमित्तिक के ज्ञान में निमित्त परज्ञेयरूप से ज्ञात होता है। *(मोक्षशास्त्र, अध्याय 4 का उपसंहार)*

प्रश्न 15 – अर्पित और अनर्पित कथन द्वारा अनेकान्त स्वरूप किस प्रकार समझ में आता है ?

उत्तर – अर्पितानर्पितः सिद्धेः। *(तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 32)*

(1) प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है। यह सिद्धान्त इस सूत्र में स्याद्वाद द्वारा कहा है। नित्यता और अनित्यता परस्पर विरुद्ध दो धर्म होने पर भी, वे वस्तु को सिद्ध करनेवाले हैं; इसलिए वे प्रत्येक द्रव्य में होते ही हैं। उनका कथन मुख्य-गौणरूप से होता है, क्योंकि सभी धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते। जिस समय जो धर्म सिद्ध करना हो, उस समय उसकी मुख्यता की जाती है। उस मुख्यता / प्रधानता को 'अर्पित' कहा जाता है और उस समय जो धर्म गौण रखे हों, उन्हें अनर्पित कहा जाता है। अनर्पित रखे हुए धर्म उस समय कहे नहीं गये हैं तो भी वस्तु में वे धर्म रहे हुए हैं – ऐसा ज्ञानी जानता है।

(2) जिस समय द्रव्य की अपेक्षा से द्रव्य को नित्य कहा, उसी समय वह पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। मात्र उस समय 'अनित्यता' नहीं कही किन्तु गर्भित रखी है और जब पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य को अनित्य कहा, उसी समय वह द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है; मात्र उस समय 'नित्यता' कही नहीं है (गर्भित रखी है); क्योंकि दोनों धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते।

(3) एक वस्तु में वस्तुपने को सिद्ध करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। जैसे कि – जो वस्तु सत् है, वही असत् है अर्थात् जो अस्ति है, वह नास्ति है; जो एक है, वही अनेक है; जो नित्य है, वही अनित्य है आदि।

(समयसार, कलश 247 का भावार्थ)

[शास्त्र में कोई भी कथन किया हो, उसके निम्नोक्तानुसार अर्थ करना –

प्रथम शब्दार्थ करके वह कथन किस नय से किया है वह निश्चित करना चाहिए। उसमें जो कथन जिस नय से किया हो वह कथन 'अर्पित' है – ऐसा समझना चाहिए और सिद्धान्तानुसार गौणरूप से अन्य जो भाव उसमें गर्भितरूप से आ जाते हैं, वे भाव यद्यपि वहाँ शब्दों में नहीं कहे हैं, तथापि वे भाव भी गर्भितरूप से कहे हैं – ऐसा समझ लेना चाहिए, यह 'अनर्पित' कथन है।

इस प्रकार अर्पित और अनर्पित – दोनों पक्षों को समझ कर जो जीव अर्थ करे उसी जीव को प्रमाण और नय का सत्य ज्ञान होता है। यदि दोनों पक्ष यथार्थ न समझे तो उसका ज्ञान अज्ञानरूप परिणमित हुआ है; इसलिए उसका ज्ञान अप्रमाण और कुनयरूप है.....] ***(मोक्षशास्त्र, अध्याय 5, सूत्र 32 की टीका)***

प्रश्न 16 – एक ही द्रव्य में नित्यता और अनित्यता – यह दोनों विरुद्ध धर्म किस प्रकार रहते हैं ?

उत्तर – विवक्षित और अविवक्षितरूप से एक ही द्रव्य में नाना (भिन्न) धर्म रहते हैं। वक्ता जिस धर्म का कथन करने की

इच्छा करता है, उसे अर्पित विवक्षित कहते हैं, और वक्ता उस समय जिस धर्म का कथन नहीं करना चाहता, वह अनर्पित-अविवक्षित है; जैसे कि वक्ता यदि द्रव्यार्थिकनय से वस्तु का प्रतिपादन करेगा तो 'नित्यता' विवक्षित कहलायेगी, और यदि वह पर्यायार्थिकनय से प्रतिपादन करेगा तो 'अनित्यता' विवक्षित है। जिस समय किसी पदार्थ को द्रव्य की अपेक्षा से 'नित्य' कहा जा रहा है, उस समय वह पदार्थ पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी है। पिता, पुत्र, मामा, भानजा आदि की भाँति एक ही पदार्थ में अनेक धर्म रहने पर भी विरोध नहीं आता।

(तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी अनुवाद पं. पन्नालालजी) अध्याय 5, सूत्र 32 का अर्थ)

प्रश्न 17 – आत्मा स्वचतुष्टय से है और पर चतुष्टय नहीं है – ऐसे अनेकान्त सिद्धान्त से क्या समझना?

उत्तर – (1) कोई आत्मा या उसकी पर्याय, पर का कुछ कर नहीं सकते, करा नहीं सकते – असर, प्रभाव, प्रेरणा, मदद-सहायकता, लाभ-हानि आदि कुछ भी नहीं कर सकते क्योंकि प्रत्येक वस्तु, पर वस्तु की अपेक्षा से अवस्तु है, अर्थात् वह अद्रव्य, अक्षेत्र, अकाल और अभावरूप है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय के प्रति निमित्तरूप होती है, किन्तु उससे वह परद्रव्य की पर्याय को प्रभावित नहीं कर सकती; परद्रव्य का असर किसी में नहीं है।

(2) यह सिद्धान्त छहों द्रव्यों को लागू होता है। एक परमाणु भी दूसरे पुद्‌गलों का – पुद्‌गल की पर्यायों का या शेष किन्हीं द्रव्यों का कुछ कर-करा नहीं सकता या उन पर असर, प्रभावादि नहीं डाल सकता।

(3) जो ऐसा स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव समझता है, वही स्व-पर का भेदविज्ञानी होकर, स्वसन्मुख होकर निश्चितरूप से अन्तरङ्ग सुख का सच्चा उपाय कर सकता है।

प्रश्न 18 – जीव और शरीर में अनेकान्त किस प्रकार लागू होता है ?

उत्तर – इस सम्बन्ध में श्री प्रबोधसार (श्रावकाचार) की गाथा 168 में निम्नानुसार कहा है – (पृष्ठ 144)

परद्रव्यं परद्रव्यं स्वद्रव्यं द्रव्यमात्मनः
सम्बन्धोऽपि तयोर्नास्ति यथायं सह्यविन्ध्ययोः ॥

अर्थात् परद्रव्य सदैव परद्रव्य ही रहता है और स्वद्रव्य सदा स्वद्रव्य ही रहता है। स्वद्रव्य और परद्रव्य – दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है – जिस प्रकार सह्य पर्वत और विन्ध्य पर्वत में परस्पर कुछ सम्बन्ध नहीं है।

भावार्थ – जिस प्रकार सह्यादि और विन्ध्यादि – दोनों पर्वत सर्वथा भिन्न हैं, उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है; उसी प्रकार आत्मा और शरीरादिक परद्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न हैं, उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न 19 – अनेकान्त का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर – अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति कराने के सिवाय अन्य किसी भी हेतु से उपकारी नहीं है।

(श्रीमद् राजचन्द्र)

☆☆☆☆☆

प्रकरण दसवाँ

मोक्षमार्ग अधिकार

पञ्च भाव – चतुर्दश गुणस्थान

प्रश्न 1 – (1) काललब्धि, (2) भवितव्य (नियति), (3) कर्म के उपशमादि, (4) पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम – इनमें से किस कारण द्वारा मोक्ष का उपाय बनता है?

उत्तर – [1] मोक्ष के प्रयत्न में पाँच बातें एक साथ होती हैं; अर्थात् जीव जब अपने **(1) ज्ञायक** स्वभावसन्मुख होकर **(2) पुरुषार्थ** करता है तब **(3) काललब्धि, (4) भवितव्य** और **(5) कर्म की उपशमादि** अवस्था – यह पाँचों बातें धर्म करनेवाले को एक ही साथ होती हैं; इसलिए उसके पाँच समवाय (मिलाप, एकत्रपना) कहते हैं।

[2] श्री समयसार नाटक, सर्वविशुद्धि द्वार (पृष्ठ 335) में कहा है कि – इन पाँच को सर्वांगी मानना, वह शिवमार्ग है और किसी एक को ही मानना, वह पक्षपात होने से मिथ्या मार्ग है।

प्रश्न 2 – काललब्धि क्या है?

उत्तर – वह कोई वस्तु नहीं, किन्तु जिस काल में कार्य बने वही काललब्धि है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 307)*

प्रश्न 3 – काललब्धि किस द्रव्य में होती है ?

उत्तर – छहों द्रव्यों में प्रत्येक समय होती है। उस सम्बन्ध में श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 219 में कहा है कि –

कालाइलद्धिजुत्ता णाणसत्तीहि संजुदा जत्था।
परिणममाण हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं॥ 219॥

अर्थात् सर्व पदार्थ कालादि लब्धिसहित, अनेक प्रकार की शक्तिसहित हैं और स्वयं परिणमन करते हैं, उन्हें उस प्रकार परिणमन करते हुए रोकने में कोई समर्थ नहीं है।

भावार्थ – समस्त द्रव्य अपने-अपने परिणामरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल सामग्री को प्राप्त करके स्वयं ही भावरूप परिणमित होते हैं; उन्हें कोई रोकने में समर्थ नहीं है।

(1) यहाँ कालादि लब्धि में काललब्धि का अर्थ स्वकाल की प्राप्ति होता है;

(2) द्रव्यस्वभाव के सन्मुख हुआ वर्तमान पुरुषार्थ, वह क्षणिक उपादान है;

(3) (पर) काललब्धि, वह निमित्त है और यदि स्वकाललब्धि मानी जाये तो वह क्षणिक उपादान है;

(4) भवितव्य अथवा नियति उस-उस समय की योग्यता है, वह भी क्षणिक उपादान है;

(5) कर्म, वह द्रव्यकर्म की अवस्था निमित्त है और यदि

कर्म के आश्रय से न परिणमित होनेरूप जीव का भाव लिया जाये तो वह क्षणिक उपादान है।

प्रश्न 3 – काललब्धि पकेगी तभी धर्म होगा – यह मान्यता सत्य है ?

उत्तर – यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि ऐसा माननेवाले जीव ने अपने ज्ञायकस्वभाव, पुरुषार्थ आदि पाँच समवायों को एक ही साथ नहीं माना परन्तु एकमात्र काल को ही माना; इसलिए उस मान्यतावाले को एकान्त कालवादी गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

(गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 879)

प्रश्न 4 – जगत् में सब भवितव्य (नियति) के आधीन है; इसलिए जब धर्म होना होगा तब होगा; – यह मान्यता सत्य है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि ऐसा माननेवाले जीव ने अपना ज्ञायक-स्वभाव, पुरुषार्थ आदि पाँच समवायों को एक ही साथ नहीं माना, किन्तु अकेले भवितव्य को ही माना; इसलिए वैसी मान्यतावाले को शास्त्र में एकान्त नियतिवादी गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

(गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 882)

प्रश्न 5 – पाँचों समवाय में द्रव्य-गुण-पर्याय कौन-कौन हैं ?

उत्तर – सामान्य ज्ञायकस्वभाव, वह द्रव्य और शेष चार पर्याय हैं।

प्रश्न 6 – जहाँ तक दर्शनमोहकर्म मार्ग न दे, वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं होता – यह मान्यता सत्य है ?

उत्तर – नहीं; यह मान्यता मिथ्या है क्योंकि उस जीव ने पुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभावी आत्मा के सन्मुख होकर एक साथ

पाँच समवाय नहीं माने हैं; वह तो मात्र कर्म की उपशमादि अवस्था को ही मानता है; इसलिए ऐसे विपरीत मान्यतावाले जीव को एकान्त कर्मवादी (दैववादी) गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

(गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 891)

प्रश्न 7 – तो फिर मोक्ष के उपाय के लिए क्या करना चाहिए?

उत्तर – जिनेश्वरदेव के उपदेशानुसार पुरुषार्थपूर्वक यथार्थ उपाय करना चाहिए क्योंकि जो जीव पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करता है, उसे तो सर्व कारण मिलते हैं और अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। काललब्धि, भवितव्य और उपादेशादिक कारण मिलाना नहीं पड़ते, किन्तु जो जीव पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करता है, उसे तो सर्व कारण मिलते हैं और जो उपाय नहीं करता, उसे कोई कारण नहीं मिलते और न धर्म की प्राप्ति होती है – ऐसा निश्चय करना।

विशेष ऐसा है कि – जीव को काललब्धि, भवितव्य, कर्म के उपशमादि जुटाना नहीं पड़ते, किन्तु जब जीव स्वभावसन्मुख यथार्थ पुरुषार्थ करता है, तब वे कारण स्वयं आ मिलते हैं।

पुनश्च, कर्म के उपशमादिक तो पुद्गल की पर्यायें हैं; उनका कर्ता–हर्ता आत्मा नहीं है, किन्तु जब आत्मा यथार्थ पुरुषार्थ करता है, तब कर्म के उपशमादि स्वयं हो जाते हैं। कर्म के उपशमादिक हैं, वह तो पुद्गल की शक्ति है, उसका कर्ता–हर्ता आत्मा नहीं है।

जीव का कर्तव्य तो तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है। वह करे, तब दर्शनमोह का उपशम स्वयं होता है, किन्तु कर्म की अवस्था में जीव का कुछ भी कर्तव्य नहीं है।

प्रश्न 8 – यदि पुरुषार्थ से ही धर्म होता है, तब तो द्रव्यलिङ्गी मुनि ने मोक्ष के हेतु गृहस्थपना छोड़कर बहुत पुरुषार्थ किया; फिर भी उसे कार्यसिद्धि क्यों नहीं हुई ?

उत्तर – उसने विपरीत पुरुषार्थ किया है। विपरीत पुरुषार्थ करके मोक्षफल की कामना करे, तो कैसे फल सिद्ध हो ? नहीं हो सकता। पुनश्च, तपश्चरणादि व्यवहार साधन में अनुरागी होकर प्रवर्तन का फल तो शास्त्र में शुभबन्ध कहा है और द्रव्यलिङ्गी मुनि 'व्यवहार साधन से धर्म होगा' – ऐसा मानकर उसमें अनुरागी होता है और उससे मोक्ष की कामना करता है तो वह कैसे हो सकता है ?

व्यवहार साधन करते–करते निश्चय धर्म हो जायेगा – ऐसा मानना तो एक भ्रम है।

प्रश्न 9 – हजारो शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादि का पालन करे, तथापि द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि को स्व–पर के स्वरूप यथार्थ निर्णय क्यों नहीं होता ?

उत्तर – (1) वह जीव अपने ज्ञान में से कारणविपरीतता, स्वरूपविपरीतता और भेदाभेदविपरीतता को दूर नहीं करता; इसलिए उसे स्व–पर के स्वरूप का सच्चा निर्णय नहीं होता।

(2) तत्त्वज्ञान का अभाव होने से उसके शास्त्रज्ञान को अज्ञान कहते हैं।

(3) अपना प्रयोजन नहीं साधता, इसलिए उसी को कुज्ञान कहते हैं।

(4) प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने में

वह ज्ञानयुक्त नहीं होता, यही ज्ञानदोष हुआ; इसलिए उसी ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा है। *(देहली से प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 127)*

प्रश्न 10 – कारणविपरीतता किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसे वह जानता है, उसके मूल कारण को तो न पहिचाने और अन्यथा कारण माने, वह कारणविपरीतता है।

प्रश्न 11 – स्वरूपविपरीतता किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसे वह जानता है, उसके मूल वस्तु स्वरूप को तो न पहिचाने और अन्यथा स्वरूप माने, वह स्वरूपविरीतता है।

प्रश्न 12 – भेदाभेदविपरीता किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसे वह जानता है उसे 'यह इससे भिन्न है तथा यह इससे अभिन्न है' – ऐसा यथार्थ न जानकर अन्यथा भिन्न-भिन्नपना माने, वह भेदाभेदविपरीतता है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक (दिल्ली से प्रकाशित) पृष्ठ 123, तथा गुज० आवृत्ति, पृ. 89)*

प्रश्न 13 – निमित्त और उपादान दोनों एक साथ मिलकर कार्य करते हैं – ऐसा जाननेवाले के ज्ञान में क्या दोष है ?

उत्तर – (1) मूल (सच्चा) कारण तो उपादान है, उसे उसने नहीं जाना और निमित्त-उपादान दोनों का मूल कारणरूप माना, इसलिए उसके कारणविपरीता हुई।

(2) उपादान अपना कार्य करे, तब उचित निमित्त स्वयं उपस्थित होता है; इसलिए निमित्त को उपचारमात्र कारण कहा जाता है – ऐसे स्वरूप को उसने नहीं पहिचाना, इसलिए उपादान-निमित्त के मूलभूत वस्तु स्वरूप को नहीं जाना; अतः उसके स्वरूपविपरीतता हुई।

(3) प्रत्येक वस्तु सदैव अपना कार्य कर सकती है और पर का कार्य नहीं कर सकती – ऐसी भिन्नता न मानकर, उपादान-निमित्त साथ मिलकर कार्य करते हैं – ऐसा माना; इस प्रकार दोनों की अभिन्नता के कारण उसके भेदाभेदविपरीतता हुई।

प्रश्न 14 – द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि मुनि की धर्म-साधना में अन्यथापना है ?

उत्तर – द्रव्यलिङ्गी मुनि, विषय-सुखादि के फल नरकादि हैं, शरीर अशुचिमय है, विनाशीक है, पोषण करने योग्य नहीं है तथा कुटुम्बादिक स्वार्थ के सगे हैं – इत्यादि परद्रव्यों के दोष विचार कर उनका त्याग करता है; तथा व्रतादि का फल स्वर्ग-मोक्ष है, तपश्चरणादि पवित्र फल के देनेवाले हैं, उनके द्वारा शरीर शोषण करने योग्य है, तथा देव-गुरु-शास्त्रादि हितकारी हैं – इत्यादि परद्रव्यों के गुण विचारकर उन्हीं को अङ्गीकार करता है।

इत्यादि प्रकार से किन्हीं **परद्रव्यों को बुरा जानकर** अनिष्टरूप श्रद्धान करता है तथा किन्हीं **परद्रव्यों को अच्छा मानकर** इष्टरूप श्रद्धान करता है; परन्तु परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धान करना, वह मिथ्यात्व है और उसी श्रद्धान से उसे उदासीनता भी द्वेषबुद्धिरूप होती है, क्योंकि किसी को बुरा जानने का नाम ही द्वेष है।

प्रश्न 15 – द्रव्यलिङ्गी मुनि आदि को भ्रम होता है, उसका कारण कोई कर्म ही होगा न ? वहाँ पुरुषार्थ क्या करे ?

उत्तर – नहीं; वहाँ कर्म का दोष नहीं है। सच्चे उपदेश द्वारा निर्णय करने से भ्रम दूर होता है, किन्तु वे सच्चा पुरुषार्थ नहीं करते

कि जिससे भ्रम दूर हो। यदि निर्णय करने का पुरुषार्थ करे तो भ्रम का निमित्तकारण जो मोहकर्म, उसका भी उपशम हो जाये और भ्रम दूर हो क्योंकि तत्त्वनिर्णय करते हुए परिणामों की विशुद्धता होती है और मोह के स्थिति – अनुभाग भी कम हो जाते हैं।

[मोक्षमार्गप्रकाशक (दिल्ली प्रकाशन) के आधार पर पृष्ठ 457]

प्रश्न 16 – सम्यग्दर्शन प्रगट न होने में निमित्तकारण दर्शनमोह है और चारित्र प्रगट न होने में निमित्तकारण चारित्रमोह है, उसका अभाव हुए बिना जीव, धर्म कैसे कर सकेगा ? इसलिए धर्म न होने में जड़कर्म का दोष है न ?

उत्तर – नहीं; अपने विपरीत पुरुषार्थ का ही दोष है। यदि यथार्थ पुरुषार्थपूर्वक तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाये तो स्वयमेव मोह का अभाव होता है और मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है; इसलिए प्रथम ही तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। उपदेश भी उसी पुरुषार्थ के हेतु दिया जाता है और उस पुरुषार्थ से मोक्ष के उपाय के पुरुषार्थ की सिद्धि अपने आप होती है।

तत्त्वनिर्णय करने में कर्म का कोई दोष नहीं है, किन्तु जीव का ही दोष है। जो जीव, कर्म का दोष निकालता है, वह अपना दोष होने पर भी कर्म पर दोष डालता है – यह अनीति है। जो श्री सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा माने, उसके ऐसी अतीति नहीं हो सकती। जिसे धर्म करना अच्छा नहीं लगता, वही ऐसा झूठ बोलता है। जिसे मोक्षसुख की सच्ची अभिलाषा है, वह ऐसी झूठी युक्ति नहीं बनायेगा।

जीव का कर्तव्य तो तत्त्वज्ञान का अभ्यास ही है और उसी से

स्वयं दर्शनमोह का उपशम होता है। दर्शनमोह के उपशमादि में जीव का कर्तव्य कुछ भी नहीं है। पुनश्च, तत्पश्चात् ज्यों-ज्यों जीव स्वसन्मुखता द्वारा वीतरागता में वृद्धि करता है, त्यो-त्यों उसके चारित्रमोह का अभाव होता है और ऐसा होने से उस जीव के नग्न दिगम्बर दशा, 28 मूलगुण तथा भावलिङ्गी मुनिपना प्रगट होता है। उस दशा में भी जीव अपने ज्ञायकस्वभाव में रमणतारूप पुरुषार्थ द्वारा धर्मपरिणति को बढ़ाता है, वहाँ परिणाम सर्वथा शुद्ध होने पर केवलज्ञान और मोक्षदशारूप सिद्धपद प्राप्त करता है।

प्रश्न 17 - जिसे जानने से मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति हो, वे अवश्य जानने योग्य-प्रयोजनभूत क्या-क्या है ?

उत्तर - सर्वप्रथम -

(1) हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा करना।

(2) जीवादि द्रव्य, सात तत्त्व तथा सुदेव-गुरु-धर्म को पहिचानना।

(3) त्यागने योग्य मिथ्यात्व-रागादिक, तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शन-ज्ञानादिक का स्वरूप जानना।

(4) निमित्त-नैमित्तिक आदि को जैसे हैं, वैसा ही जानना इत्यादि जिनके जानने से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो, उन्हें अवश्य जानना चाहिए क्योंकि वे प्रयोजनभूत हैं।

प्रश्न 18 - देव-गुरु-धर्म तथा सत् शास्त्र और तत्वादि का निर्धार न करे तो नहीं चल सकता ?

उत्तर - उनके निर्धार बिना किसी प्रकार मोक्षमार्ग नहीं होता - ऐसा नियम है।

प्रश्न 19 – मोक्षमार्ग (मोक्ष का उपाय) निरपेक्ष है?

उत्तर – हाँ; परम निरपेक्ष है। इस सम्बन्ध में श्री नियमसार (गाथा 2) की टीका में कहा है कि – 'निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान–ज्ञान–आचरण (अनुष्ठान) रूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है।'

प्रश्न 20 – परम निरपेक्ष कहने से एकान्त नहीं हो जाता?

उत्तर – नहीं; मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष है – यह तो सम्यक् एकान्त है।

प्रश्न 21 – तो फिर मोक्षमार्ग को सम्यक् अनेकान्त किस प्रकार लागू होता है?

उत्तर – मोक्षमार्ग पर से परम निरपेक्ष है और स्व से परम सापेक्ष है – ऐसा जानना, वह सम्यक् अनेकान्त है।

प्रश्न 22 – देवादिक तथा तत्त्वादिक का निर्धार / निर्णय इस समय हो सकता है?

उत्तर – हाँ, प्रमाद छोड़कर सच्चा उद्यम करे तो उन सबका सच्चा निर्णय हो सकता है। यदि कोई उनका विरुद्ध स्वरूप कहे तो जीव को स्वयं ही वह भासित हो जाता है।

(गु० मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. 330, हि० देहलीवाला, पृ. 486-87)

प्रश्न 23 – प्रयोजनभूत तत्त्वों को जीव यथार्थ जाने–माने तो उसे क्या लाभ होगा?

उत्तर – यदि उन्हें यथार्थरूप से जाने–श्रद्धान करे तो उसका सच्चा सुधार होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है।

प्रश्न 24 – जीव को धर्म समझने का क्रम क्या है ?

उत्तर – प्रथम तो परीक्षा द्वारा कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की मान्यता छोड़कर, अरहन्त देवादि का श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि उनका श्रद्धान करने से गृहीतमिथ्यात्व का अभाव होता है।

(2) फिर जिनमत में कहे हुए जीवादि तत्त्वों का विचार करना चाहिए, उनके नाम लक्षणादि सीखना चाहिए, क्योंकि उस अभ्यास से तत्त्वश्रद्धान की प्राप्ति होती है।

(3) फिर जिनसे स्व-पर का भिन्नत्व भासित हो, वैसे विचार करते रहना चाहिए, क्योंकि उस अभ्यास से भेदज्ञान होता है।

(4) तत्पश्चात्, एक स्व में स्व-पना मानने के हेतु स्वरूप का विचार करते रहना चाहिए, क्योंकि उस अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार अनुक्रम से उसे अंगीकार करके फिर उसी में से किसी समय देवादि के विचार में, कभी तत्त्व के विचार में, कभी स्व-पर के विचार में तथा कभी आत्म विचार में उपयोग लगाना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास से दर्शनमोह मन्द होता जाता है और जीव वह पुरुषार्थ चालू रखे तो उसी अनुक्रम से उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।

[मोक्षमार्गप्रकाशक (दिल्ली प्रकाशन) पृष्ठ 486-87]

प्रश्न 25 – इस क्रम को स्वीकार न करे तो क्या होगा ?

उत्तर – जो इस क्रम का उल्लंघन करता है – ऐसे जीव को देवादिक की मान्यता का भी ठिकाना नहीं रहता। वह अपने को ज्ञानी मानता है, लेकिन वे सब चतुराई की बातें हैं, इसलिए जब

तक जीव को सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो, तब तक क्रमपूर्वक उपरोक्तानुसार कार्य करना चाहिए। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 486)*

प्रश्न 26 – सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा में देव–गुरु–धर्म की श्रद्धा किस प्रकार आ जाती है ?

उत्तर – (1) मोक्षतत्त्व, सर्वज्ञ–वीतराग स्वभाव है, उसके धारक श्री अरिहन्त – सिद्ध हैं, वे ही निर्दोष देव हैं, इसलिए जिसे मोक्ष तत्त्व की श्रद्धा है, उसे सच्चे देव की भी श्रद्धा है।

(2) संवर–निर्जरा, निश्चयरत्नत्रय स्वभाव है, उसके धाारक भावलिङ्गी आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं; वे ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि गुरु हैं; इसलिए जिसे संवर–निर्जरा के स्वरूप की सच्ची श्रद्धा है, उसी को सच्चे गुरु की श्रद्धा है।

(3) जीवतत्त्व का स्वभाव रागादि घात रहित शुद्ध चैतन्य प्राणमय है, उस स्वभाव सहित अहिंसा धर्म है; इसलिए जिस शुद्ध जीव की तत्त्व की श्रद्धा है उसे (निज आत्मा के) अहिंसा धर्म की श्रद्धा है। *(विद्वज्जनबोधक, भाग 1, पृष्ठ 79)*

(मोक्षमार्गप्रकाशक - दिल्ली, पृष्ठ 482 में यही अर्थ है)

प्रश्न 27 – सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर – (1) जिस गुण की निर्मलदशा प्रगट होने अपने शुद्धात्मा का प्रतिभास हो, अखण्ड ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति हो।

(2) सच्चे देव–गुरु–धर्म में दृढ़ प्रतीति हो।

(3) जीवादि सात तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति हो।

(4) स्व–पर का श्रद्धान हो।

(5) आत्मश्रद्धान हो।

– उसे सम्यक्त्व कहते हैं। उन लक्षणों से अविनाभावसहित जो श्रद्धा होती है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। [उस पर्याय का धारक सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण है; सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन उसकी पर्यायें हैं।]

प्रश्न 28 – सम्यग्दर्शन होने पर श्रद्धा कैसे होती है?

उत्तर – मैं आत्मा हूँ, मुझे रागादिक नहीं करना चाहिए।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 4)

प्रश्न 29 – तो फिर समयग्दृष्टि जीव विषयादिक में क्यों प्रवर्तमान होता है?

उत्तर – सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी चारित्रगुण की पर्याय निर्बल होने से जितने अंश में चारित्रमोह के उदय में युक्त होता है, उतने अंश में उसे रागादि होते हैं, किन्तु वह परवस्तु से रागादि का होना नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि जीव को देहादि परपदार्थ, द्रव्यकर्म तथा शुभाशुभ राग में एकत्वबुद्धि नहीं होती।

प्रश्न 30 – सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् देशचारित्र अथवा सकलचारित्र का पुरुषार्थ कब प्रगट होता है?

उत्तर – धर्मी जीव अपने पुरुषार्थ से धर्मकार्यों में तथा वैराग्यादि की भावना में (एकाग्रता में) ज्यों-ज्यों विशेष उपयोग को लगता है, त्यों-त्यों उसके बल से चारित्रमोह मन्द होता जाता है – इस प्रकार यथार्थ पुरुषार्थ में वृद्धि होने में देशचरित्र प्रगट होता है और विशेष शुद्धि होने पर सकलचारित्र का पुरुषार्थ प्रगट होता है।

प्रश्न 31– सम्यक्‌चारित्र प्रगट करने के पश्चात् धर्मी जीव क्या करता है ?

उत्तर – (1) एकाकार निज ज्ञायकस्वभाव में विशेष रमणता करने से शुद्धि की वृद्धि होती है। इस प्रकार धर्मपरिणति की वृति –अनुसार शुद्धता बढ़ती जाती है और शुद्धता के प्रमाण में घातिकर्मों के स्थिति–अनुभाग स्वयं घटते हैं तथा क्रमश: आगे बढ़ने पर पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है और उस समय द्रव्यमोहकर्म भी स्वयं नाश होता है।

(2) तत्पश्चात् परिणाम विशेष शुद्ध होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है, वहाँ तीन घातिकर्मों का स्वयं नाश हो जाता है। फिर शेष गुणों की पर्यायों की पूर्ण शुद्धता होने पर अघातिकर्मों का भी स्वयं नाश हो जाता है और जीव सिद्धपद प्राप्त करता है।

प्रश्न 32 – निश्चय और व्यवहार – ऐसे दो प्रकार के सम्यग्दर्शन हैं ?

उत्तर – नहीं; सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है, दो प्रकार का नहीं है किन्तु उसका कथन दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे सम्यग्दर्शन का निरूपण किया है वह निश्चय–सम्यग्दर्शन है, तथा जो सम्यग्दर्शन तो नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन का निमित्त है अथवा सहचारी है, उसे उपचार से सम्यग्दर्शन कहा जाता है किन्तु व्यवहार सम्यग्दर्शन को सच्चा सम्यग्दर्शन माने तो वह श्रद्धा मिथ्या है क्योंकि निश्चय और व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है अर्थात् सच्चा निरूपण, वह निश्चय और उपचार निरूपण, वह व्यवहार है।

निरूपण की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दो प्रकार कहे हैं, किन्तु एक निश्चय सम्यग्दर्शन है और एक व्यवहार सम्यग्दर्शन है – इस प्रकार दो सम्यग्दर्शन मानना वह मिथ्या है।

प्रश्न 33 – निश्चय सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यग्ज्ञान – ऐसा दो प्रकार का सम्यग्ज्ञान है ?

उत्तर – नहीं; सम्यग्ज्ञान कहीं दो प्रकार का नहीं है, किन्तु उसका निरूपण दो प्रकार से हैं। जहाँ सच्चे सम्यग्ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा हो, वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है, किन्तु जो सम्यग्ज्ञान तो नहीं है परन्तु सम्यग्ज्ञान का निमित्त है अथवा सहचारी है, उसे उपचार से सम्यग्ज्ञान कहा जाता है; इसलिए निश्चय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना चाहिए, तथा व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिए।

प्रश्न 34 – निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र – ऐसा दो प्रकार का चारित्र है ?

उत्तर – नहीं;चारित्र तो दो नहीं है, किन्तु उसका निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे चारित्र को चारित्र कहा है, वह निश्चय चारित्र है तथा जो सम्यक्चारित्र तो नहीं है, किन्तु सम्यक्चारित्र का निमित्त है अथवा सहचारी है, उसे उपचार से चारित्र कहते हैं, वह व्यवहार सम्यक्चारित्र है। निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान करना चाहिए और व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया जो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिए।

प्रश्न 35 – यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों के ग्रहण करने को कहा है, उसका क्या कारण हैं ?

उत्तर – (1) जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है; उसे तो **'सत्यार्थ ऐसा ही है'** – ऐसा जानना चाहिए तथा किसी स्थान पर व्यवहारनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है। उसे **'ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षा से यह उपचार किया है'** – ऐसा जानना चाहिए और **इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है,** किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'इस प्रकार भी है और उस प्रकार भी है' – ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 249)*

(2) श्री समयसार गाथा 276-77 की टीका में कहा है कि – 'आचाराङ्ग आदि शब्दश्रुत, वह ज्ञान है क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञान का आश्रय है। जीवादि नव पदार्थ, दर्शन है क्योंकि वह (नव पदार्थ) दर्शन का आश्रय है और छह जीव निकाय चारित्र है, क्योंकि वह (छह जीव निकाय) चारित्र का आश्रय है; इस प्रकार व्यवहार है। शुद्ध आत्मा, ज्ञान है क्योंकि वह (शुद्ध आत्मा) ज्ञान का आश्रय है; शुद्ध आत्मा, दर्शन है क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है और शुद्ध आत्मा, चारित्र है क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है; – इस प्रकार निश्चय है। उनमें व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है; क्योंकि आचाराङ्ग आदि को ज्ञानादि का आश्रयपना अनेकान्तिक है – व्यभिचारयुक्त है; (शब्दश्रुत आदि को ज्ञानादि के आश्रयरूप मानने में व्यभिचार आता है, क्योंकि शब्दश्रुत आदि होने पर भी

ज्ञानादि नहीं होते; इसलिए व्यवहारनय प्रतिषेध्य हैं) और निश्चय, व्यवहारनय का प्रतिषेधक है क्योंकि शुद्ध आत्मा को ज्ञानादि का आश्रयपना एकान्तिक है। (शुद्ध आत्मा को ज्ञानादिक का आश्रयपना मानने में व्यभिचार नहीं है, क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा हो, वहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र होते ही हैं।)'

प्रश्न 36 - मोक्षमार्ग एक ही है या अधिक हैं?

उत्तर - (1) मोक्षमार्ग एक ही है और वह निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही है।

(2) श्री प्रवचनसार गाथा 199 की टीका में कहा है कि - 'समस्त सामान्य चरम शरीरी तीर्थंकर और अचरम शरीर मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्त्व प्रवृत्ति लक्षण विधि द्वारा प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए, परन्तु ऐसा नहीं है कि अन्य विधि से भी हुए हों; इसलिए निश्चित होता है कि मात्र यह एक ही मोक्ष का मार्ग है, अन्य नहीं है।'

(3) श्री प्रवचनसार गाथा 82 की टीका में कहा है कि - 'सर्व अरिहन्त भगवन्त उसी विधि से कर्मांशों का क्षय करके तथा अन्य को भी उसी प्रकार उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।'

टीका - अतीत काल में क्रमशः हो गये समस्त तीर्थङ्कर भगवन्त, **प्रकारान्तर का असम्भव होने के कारण** जिसमें द्वैत सम्भव नहीं है - ऐसे इसी एक प्रकार से कर्मांशों के क्षय का स्वयं अनुभव करके तथा परम आप्तपने के कारण भविष्यकाल में अथवा इस (वर्तमान) काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी इसी प्रकार उसका (कर्म क्षय का) उपदेश करके, निःश्रेयस को प्राप्त

हुए हैं; **इसलिए निर्वाण का अन्य (कोई) मार्ग नहीं है - ऐसा निश्चित होता है।**

(4) श्री नियमसार गाथा 90, कलश 121 में कहा है कि - 'जो मोक्ष का किञ्चित् कथनमात्र (कहनेमात्र) कारण है, उसे अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय को भी भवसागर में डूबे हुए जीव ने पहले भव-भव में (अनेक भव में) सुना है और उस पर आचरण किया है परन्तु अरे रे! खेद है कि जो सर्वदा एक ज्ञान है, उसे अर्थात् जो सदैव एक ज्ञानस्वरूप ही है - ऐसे परमात्म तत्त्व को जीव ने सुना-आचरा नहीं है।'

(1) श्री नियमसार गाथा 109 कलश 155 में कहा है कि - 'जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पाप तिमिर के पुञ्ज का नाश किया है और जो पुराण / सनातन है - ऐसा आत्मा, परम संयमी जनों के चित्त कमल में स्पष्ट है। वह आत्मा, संसारी जीवों के वचन-मनोमार्ग से अतिक्रान्त अर्थात् वचन और मन के मार्ग से अगोचर है। इन निकट परम पुरुष में विधि क्या? और निषेध क्या?

एवमनेन पद्येन व्यवहारालोचनाप्रपंचमुपहसति किल परमजिनयोगीश्वरः।

- इस प्रकार पद्य द्वारा परम जिन योगीश्वरों ने वास्तव में व्यवहार-आलोचना के प्रपंच का उपहास (हँसी, ठट्ठा, तिरस्कार) किया है।'

(6) श्री नियमसार गाथा 3 में कहा है कि -

'नियम अर्थात् नियम से (निश्चित्) जो करने योग्य हो अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र। विपरीत के परिहारार्थ अर्थात् ज्ञान,

दर्शन, चारित्र से विरुद्ध भावों के त्याग के लिए सचमुच 'सार' - ऐसा वचन कहा है।'

(7) श्री समयसार गाथा 156 की टीका में भी कहा है कि - 'परमार्थ मोक्ष हेतु से पृथक् जो व्रत, तपादि शुभकर्मस्वरूप मोक्ष हेतु कुछ लोग मानते हैं उस सम्पूर्ण का निषेध किया गया है, क्योंकि वह (मोक्ष हेतु) अन्य द्रव्य के स्वभाव वाला (अर्थात् पुद्गल स्वभावी) होने से उसके स्वभाव द्वारा ज्ञान का भवन नहीं होता - मात्र परमार्थ मोक्ष हेतु ही एक द्रव्य के स्वभाव वाला (अर्थात् जीवस्वभावी) होने से उसके स्वभाव द्वारा ज्ञान का भवन होता है।'

(8) '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' - ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, मार्ग तो शुद्ध रत्नत्रय है।

(श्री नियमसार गाथा 2 की टीका)

(9) निज परमात्मा तत्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठान रूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है।

(श्री नियमसार गाथा 2 की टीका)

प्रश्न 37 - सम्यग्दर्शन में 'सम्यक्' शब्द क्या बतलाता है?

उत्तर - विपरीत अभिनिवेष (अभिप्राय) के निराकरण के हेतु सम्यक् पद का उपयोग किया है, क्योंकि 'सम्यक्' शब्द प्रशंसा वाचक है; इसलिए श्रद्धान में विपरीत अभिनिवेश का अभाव होते ही प्रशंसा सम्भव होती है।

[मोक्षमार्गप्रकाशक (दिल्ली प्रकाशन), पृष्ठ 465]

प्रश्न 38 - चारित्र में 'सम्यक्' शब्द किसलिए है?

उत्तर – अज्ञानपूर्वक के आचरण की निवृत्ति के लिए है क्योंकि सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक आत्मा में स्थिरता, वह सम्यक् चारित्र है।

प्रश्न 39 – तत्त्वार्थश्रद्धान किसे कहते हैं?

उत्तर – जीव–अजीवादि सात तत्त्वार्थ है; उनका जो श्रद्धान अर्थात् 'ऐसा ही है, अन्यथा नहीं' – ऐसा प्रतीतिभाव, वह तत्त्वार्थश्रद्धान है तथा विपरीत अभिनिवेश अर्थात् अन्यथा अभिप्रायरहित श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 465)

प्रश्न 40 – विपरीत अभिप्रायरहित श्रद्धान करना चाहिए – ऐसा कहने का क्या कारण है?

उत्तर – तत्त्वार्थश्रद्धान करने का आशय मात्र निश्चय करना – इतना ही नहीं है, किन्तु वहाँ ऐसा अभिप्राय है कि जीव–अजीव को पहिचानकर अपने को तथा पर को यथावत् रूप से जानना; आस्रव को पहिचानकर, उसे हेय जानना; बन्ध को पहिचानकर, उसे अहितरूप मानन; संवर को पहिचानकर, उसे उपादेय मानना; निर्जरा को पहिचानकर, उसे हित का कारण मानना; मोक्ष को पहिचानकर, उसे अपना परमहित मानना – ऐसा तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है। उससे विपरीत अभिप्राय का नाम विपरीत अभिनिवेश है; सत्य तत्त्वार्थश्रद्धान होने पर उसका अभाव हो जाता है।

प्रश्न 41 – ऐसी विपरीत अभिनिवेशरहित श्रद्धा किस काल करने योग्य है?

उत्तर – विपरीत अभिनिवेशरहित जीव–अजीवादि तत्त्वार्थों

का श्रद्धान सदाकाल करने योग्य है। वह श्रद्धान आत्मा का ही स्वरूप है; चौथे गुणस्थान से ही वह प्रगट होता है और निरन्तर स्थायी रहकर सिद्धदशा में भी सदैव उसका सद्भाव बना रहता है। इसलिए निश्चयसम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से प्रगट होता है, उसके ऊपर के सभी गुणस्थानों में तथा सिद्ध भगवन्तों में भी सदैव रहता है – ऐसा समझना। ***(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 470-71)***

प्रश्न 42 – तत्त्वार्थसूत्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है या व्यवहार –सम्यग्दर्शन ?

उत्तर – वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और सिद्ध अवस्था में भी वह सदैव रहता है, इसलिए उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन नहीं माना जा सकता। ***(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 470-71, 475)***

प्रश्न 43 – तिर्यंचादि जो अल्पज्ञानवाले हैं उन्हें, और केवली तथा सिद्ध भगवान को निश्चय सम्यग्दर्शन समान ही होता है ?

उत्तर – (1) हाँ; तिर्यंच और केवली भगवान में ज्ञानादिक की हीनाधिकता होने पर भी उनमें सम्यग्दर्शन तो समान ही कहा है। जैसा सात तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थ को होता है, वैसा ही केवली तथा सिद्ध भगवान को भी होता है। छद्मस्थ को श्रुतज्ञान के अनुसार प्रतीति होती है, उसी प्रकार केवली और सिद्धभगवान को केवलज्ञानानुसार ही प्रतीति होती है।

(2) मूलभूत जीवादि के स्वरूप का श्रद्धान जैसा छद्मस्थ को होता है, वैसा ही केवली को तथा सिद्धभगवान को होता है।

(3) केवली – सिद्ध भगवान, रागादिरूप परिणमित नहीं

होते और संसारदशा की इच्छा नहीं करते, वह इस श्रद्धा का ही बल जानना। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 475)*

प्रश्न 44 – बाह्य सामग्री के अनुसार सुख-दु:ख हैं – यह मान्यता सत्य है ?

उत्तर – नहीं; परद्रव्यरूप बाह्य सामग्री के अनुसार सुख-दु:ख नहीं हैं, किन्तु कषाय से इच्छा उत्पन्न हो तथा इच्छानुसार बाह्य सामग्री प्राप्त हो जाये, तथा कषाय के उपशमन से कुछ आकुलता कम हो, तब सुख मानता है; और इच्छानुसार सामग्री न मिलने से कषाय में वृद्धि होने पर आकुलता बढ़े, तब दु:ख मानता है। अज्ञानी मानता है कि मुझे परद्रव्य के निमित्त से सुख-दु:ख होते हैं – ऐसी मान्यता भ्रम ही है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 453)*

प्रश्न 45 – जिनदेव के सर्व उपदेश का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – मोक्ष को हितरूप जानकर, एक (मात्र) मोक्ष का उपाय करना ही सर्व उपदेश का तात्पर्य है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ)

प्रश्न 46 – ज्ञानी पुरुष का उपदेश मिला, किन्तु वह जीव तत्त्वनिर्णय का पुरुषार्थ न करे और व्यवहारधर्म के कार्यों में वर्ते तो उसका क्या फल आयेगा ?

उत्तर – उस जीव को प्राप्त हुआ अवसर चला जायेगा और संसार परिभम्रण ही रहेगा। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ)*

प्रश्न 47 – व्यवहार सम्यक्त्व किस गुण की पर्याय है ?

उत्तर – सत् देव-गुरु-शास्त्र; छह द्रव्य और सात तत्त्वों की श्रद्धा का राग (विकल्प) होने से वह चारित्रगुण की अशुद्धपर्याय

है; किन्तु वह श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है क्योंकि उसकी तो मिथ्यादर्शन तथा निश्चयसम्यग्दर्शन – यह दो ही पर्यायें होती हैं। व्यवहारसम्यक्त्व इन दोनों से एक भी नहीं है, वह विषय इससे भिन्न है। *(श्री पंचास्तिकाय गाथा 107, जयसेनचार्य कृत संस्कृत टीका)*

प्रश्न 48 – चारित्र का लक्षण (स्वरूप) क्या है ?

उत्तर – (1) मोह और क्षोभरहित आत्मा का परिणाम;

(2) स्वरूप में चरना (विचरण करना) वह चारित्र है; अथवा

(3) अपने स्वभाव में प्रवर्तन करना, शुद्ध चैतन्य का प्रकाशित होना – ऐसा उसका अर्थ है।

(4) वही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है।

(5) वही यथास्थिति आत्म गुण होने से (अर्थात्) विषमता रहित–सुस्थित आत्मा का गुण होने से साम्य है । और –

(6) मोह–क्षोभ के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार ऐसा जीव का परिणाम है। *(श्री प्रवचनसार गाथा 7 की टीका)*

प्रश्न 49 – आस्रवों के अभाव का क्रम क्या है ?

उत्तर – (1) चौथा गुणस्थान (अविरत समयग्दृष्टि) प्रगट होने पर मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का अभाव होता है; और साथ ही तत्सम्बन्धी अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का भी अभाव होता है। *(श्री समयसार गाथा 73 से 76 का भावार्थ)*

(2) पाँचवें गुणस्थान में तदुपरान्त प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का अभाव होने से तत्सम्बन्धी आंशिक अविरति आदि का अभाव होता है।

(3) छठवें गुणस्थान में तदुपरान्त अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय का अभाव होने पर तत्सम्बन्धी आंशिक प्रमादादि का अभाव होता है।

(4) सातवें गुणस्थान में तदुपरान्त संज्वलन कषाय की तीव्रता का अभाव होने पर तत्सम्बन्धी प्रमादादि का अभाव होता है।

(5) आठवें गुणस्थान से स्वभाव का भलीभाँति अवलम्बन लेने से श्रेणी चढ़कर वह जीव क्षीणमोह जिन–वीतराग ऐसे बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। बारहवें गुणस्थान में कषाय का सर्वथा अभाव होता है, किन्तु योग रहता है।

(6) तेरहवें गुणस्थान में योग के निमित्त से एक समय का आस्रव है और 14 वें गुणस्थान में उस योग का भी अभाव हो जाता है।

प्रश्न 50 – केवलज्ञान स्व को निश्चय से जानता है और पर को व्यवहार से जानता है – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर – (1) ज्ञान, पर के साथ तन्मय होकर जाने तो निश्चय से जाना कहलाये, किन्तु ज्ञान, पर में तन्मय (एकमेक) हुए बिना पर को जानता है; इसलिए वह व्यवहार से जानता है – ऐसा कहा जाता है; किन्तु जीव को पर सम्बन्धी ज्ञान नहीं होता – ऐसा उसका अर्थ नहीं है।

(2) ज्ञान अपने में तन्मय होकर अपने को जानता है, वह निश्चय है।

प्रश्न 51 – हेय, ज्ञेय और उपादेय का क्या अर्थ है ?

उत्तर – (1) हेय = त्यागने योग्य

(2) ज्ञेय = जानने योग्य

(3) उपादेय = आदर करने योग्य; ग्रहण करने योग्य।

प्रश्न 52– हेय क्या है ?

उत्तर – (1) जीवद्रव्य की अशुद्ध दशा दु:खरूप होने से त्यागने योग्य – हेय है; तथा पर निमित्त, विकार और व्यवहार का आश्रय हेय है। ***(नियमसार गाथा 38 तथा 50 की टीका)***

(2) वही आत्मबोध को प्राप्त होता है, जो व्यवहार में अनादरवान् है (उपेक्षावान्) अनासक्त है; और जो व्यवहार में आदरवान् है, आसक्त है, वह आत्मबोध को प्राप्त नहीं होता।
(समाधि शतक - श्लोक 78 की उत्थानिका)

प्रश्न 53 – ज्ञेय क्या है ?

उत्तर – स्व–पर अर्थात् सात तत्त्वसहित जीवादि छहों द्रव्यों का स्वरूप।

प्रश्न 54 – उपादेय क्या है ?

उत्तर – (1) एकाकार ध्रुव ज्ञायकस्वभावरूप निज आत्मा ही उपादेय है। ***(नियमसार गाथा 38 तथा 50 और उसकी टीका)***

(2) निश्चय–व्यवहार दोनों को उपादेय मानना, वह भी भ्रम है। मिथ्याबुद्धि ही है। ***(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 249)***

जीव के असाधारण भाव और गुणस्थान

प्रश्न 55 – जीव के असाधारण भाव कितने हैं ?

उत्तर – पाँच हैं – (1) औपशमिक, (2) क्षायिक, (3) क्षायोपशमिक, (4) औदयिक और (5) पारिणामिक –

यह पाँच भाव जीवों के निजभाव हैं; जीव के अतिरिक्त अन्य किसी में ये नहीं होते।

प्रश्न 56 – औपशमिकभाव किसे कहते हैं?

उत्तर – कर्मों के उपशम के साथ सम्बन्धवाला आत्मा को जो भाव होता है, उसे औपशमिकाभाव कहते हैं।

'आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर जड़कर्म का प्रगटरूप फल जड़कर्मरूप में न आना, वह कर्म का उपशम है।'

(मोक्षशास्त्र, अध्याय 2, सूत्र 1 की टीका)

प्रश्न 57 – क्षायिकभाव किसे कहते हैं?

उत्तर – कर्मों के सर्वथा नाश के साथ सम्बन्धवाला आत्मा का जो अत्यन्त शुद्धभाव प्रगट होता है, उसे क्षायिकभाव कहते हैं।

'आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर कर्म–आवरण का नाश होना, वह कर्म का क्षय है।' *(मोक्षशास्त्र, अध्याय 2, सूत्र 1 की टीका)*

प्रश्न 58 – क्षायोपशमिकभाव किसे कहते हैं?

उत्तर – कर्मों के क्षयोपशम के साथ सम्बन्धवाला जो भाव होता है, उसे क्षायोपशमिकभाव कहते हैं।

'आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर कर्म का स्वयं अंशतः क्षय और स्वतं अंशतः उपशम वह कर्म का क्षयोपशम है...'

(मोक्षशास्त्र, अध्याय 2, सूत्र 1 की टीका)

'वर्तमान निषेक में सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय तथा देशघाती स्पर्द्धकों का उदय और आगामी काल में उदय आनेवाले निषेकों का सद्वस्थारूप उपशम – ऐसी कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं।' *(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)*

(1) एक समय में कर्म के जितने परमाणु उदय में आये, उन सर्व के समूह को **निषेक** कहते हैं।

(2) जीव के सम्यक्त्व-ज्ञानादि अनुजीवी गुणों को जो पूर्ण रीति से घात होने में निमित्त है, उन्हें **सर्वघाती** कहते हैं।

(3) वर्गणाओं के समूह को **स्पर्द्धक** कहते हैं।

(4) फल दिये बिना उदय में आये हुए कर्मों का खिर जाना, उसे **उदयाभावी क्षय** कहते हैं।

(5) जो जीव के ज्ञानादि गुणों को एकदेश घात होने में निमित्त है, उसे **देशघाती** कहते हैं।

प्रश्न 59 – औदयिकभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर – कर्मों के उदय के साथ सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा का जो विकारी भाव होता है, उसे औदयिकभाव कहते हैं।

प्रश्न 60 – पारिणामिकभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर – कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम अथवा उदय की अपेक्षा रखे बिना जीव का जो स्वभावमात्र हो, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं।

'जिसका निरन्तर सद्भाव रहे, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं। सर्वभेद जिसमें गर्भित है – ऐसा चैतन्यभाव ही जीव का पारिणामिकभाव है। मतिज्ञानादि तथा केवलज्ञानादि जो अवस्थाएँ हैं, वे पारिणामिकभाव नहीं है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान – यह अवस्थाएँ क्षायोपशमिकभाव हैं; केवलज्ञान अवस्था, क्षायिकभाव है।

केवलज्ञान प्रगट होने से पूर्व ज्ञान के विकार का जितना अभाव है, वह औदयिकभाव है।'

ज्ञान, दर्शन और वीर्यगुण की अवस्था में औपशमिकभाव होता ही नहीं; मोह का ही उपशम होता है; उसमें प्रथम मिथ्यात्व का (दर्शनमोह का) उपशम होने पर जो सम्यक्त्व प्रगट होता है, वह श्रद्धागुण का औपशमिकभाव है।

(मोक्षशास्त्र अध्याय 2 सूत्र 1 की टीका)

प्रश्न 61 – जीव के असाधारण पाँच भाव क्या बतलाते हैं ?

उत्तर – (1) जीव का अनादि–अनन्त शुद्धचैतन्यस्वभाव है – ऐसा पारिणामिकभाव सिद्ध करता है।

(2) जीव का अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव होने पर भी उसकी अवस्था में विकार है – ऐसा औदयिकभाव सिद्ध करता है।

(3) जड़कर्म के साथ जीव का अनादिकालीन सम्बन्ध है और जीव उसके वश होता है, इसलिए विकार होता है, किन्तु कर्म के कारण विकारभाव नहीं होता – ऐसा भी औदयिकभाव सिद्ध करता है।

(4) जीव अनादि से विकार करता आ रहा है, तथापि वह जड़ नहीं हो जाता और उसके ज्ञान, दर्शन तथा वीर्य का अंशतः विकास तो सदैव रहता है – ऐसा क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(5) सच्ची समझ के पश्चात् जीव ज्यों–ज्यों सत्य पुरुषार्थ बढ़ाता है, त्यों–त्यों मोह अंशतः दूर होता जाता है – ऐसा भी क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(6) आत्मा का स्वरूप यथार्थतया समझकर, जब जीव

अपने पारिणामिकभाव का आश्रय करता है, तब औदयिकभाव दूर होने का प्रारम्भ होता है और प्रथम श्रद्धागुण का औदयिकभाव दूर होता है – ऐसा औपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(7) यदि जीव अप्रतिहतभाव से पुरुषार्थ में आगे बढ़े तो चारित्रमोह स्वयं दब जाता है। (उपशमभाव को प्राप्त होता है) – ऐसा भी औपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(8) प्रतिहत पुरुषार्थ द्वारा पारिणामिकभाव का आश्रय बढ़ने पर विकार का नाश हो सकता है – ऐसा क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

(9) यद्यपि कर्म के साथ का सम्बन्ध, प्रवाह से अनादिकालीन है, तथापि प्रति समय पुराने कर्म जाते हैं और नये कर्मों का सम्बन्ध होता रहता है, उस अपेक्षा से उसमें प्रारम्भिकता रहने से (सादि होने से) वह कर्मों के साथ का सम्बन्ध सर्वथा दूर हो जाता है – ऐसा क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

(10) कोई निमित्त विकार नहीं कराता, किन्तु जीव स्वयं निमित्ताधीन होकर विकार करता है। जीव जब पारिणामिकभावरूप अपने स्वभाव की ओर का लक्ष्य करके स्वाधीनता प्रगट करता है, तब निमित्ताधीनता दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है – ऐसा औपशमिक, साधकदशा का क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव – यह तीनों सिद्ध करते हैं।

प्रश्न 62 – औपशमिकभाव के कितने भेद हैं?

उत्तर – औपशमिकभाव के दो भेद हैं – (1) सम्यक्त्वभाव और (2) चारित्रभाव।

प्रश्न 63 – क्षायिकभाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर – क्षायिकभाव के नव भेद हैं – (1) क्षायिकसम्यक्त्व, (2) क्षायिकचारित्र, (3) क्षायिकदर्शन, (4) क्षायिकज्ञान, (5) क्षायिकदान, (6) क्षायिकलाभ, (7) क्षायिकभोग, (8) क्षायिक-उपभोग, (9) क्षायिकवीर्य।

प्रश्न 64 – क्षायोपशमिकभाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर – क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद हैं – (1) सम्यक्त्व, (2) चारित्र, (3) चक्षुदर्शन, (4) अचक्षुदर्शन, (5) अवधिदर्शन, (6) देशसंयम, (7) मतिज्ञान, (8) श्रुतज्ञान, (9) अवधिज्ञान, (10) मन:पर्ययज्ञान, (11) कुमतिज्ञान, (12) कुश्रुतज्ञान, (13) कुअवधिज्ञान, (14) दान, (15) लाभ, (16) भोग, (17) उपभोग, (18) वीर्य।

प्रश्न 65 – औदयिकभाव कितने भेद हैं ?

उत्तर – औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं – गति 4, कषाय 4, लिङ्ग 3, मिथ्या दर्शन 1, अज्ञान 1, असंयम 1, असिद्धत्व 1, लेश्या 6 [पीत, पद्म, शुक्ल, कृष्ण, नील और कपोत]

प्रश्न 66 – लेश्या किसे कहते हैं ?

उत्तर – कषाय के उदय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति को भावलेश्या कहते हैं और शरीर के पीत, पद्मादि वर्णों को द्रव्यलेश्या कहते हैं।

प्रश्न 67 – पारिणमिकभाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर – पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं – (1) जीवत्व, (2) भव्यत्व, और (3) अभव्यत्व।

प्रश्न 68 – उपरोक्त पाँच भावों में से किस भाव की ओर उन्मुखता से धर्म का प्रारम्भ और पूर्णता होती है ?

उत्तर – पारिणामिकभाव के अतिरिक्त चारों भाव क्षणिक हैं, एक समय पर्यन्त के हैं; और उसमें भी क्षायिकभाव तो वर्तमान में है नहीं; उपशमभाव हो तो वह अल्पकाल टिकता है और उदय-क्षयोपशमभाव भी प्रति समय बदलते हैं; इसलिए उन भावों पर लक्ष्य करे तो वहाँ एकाग्रता नहीं हो सकती और न धर्म प्रगट सकता है। त्रिकालस्वभावी पारिणामिकभाव का माहात्म्य जानकर, उस ओर जीव अपनी वृत्ति करे (झुकाव करे) तो धर्म का प्रारम्भ होता है और उस भाव की एकाग्रता से बल से ही धर्म की पूर्णता होती है। *(मोक्षशास्त्र, अध्याय 2, सूत्र 1 की टीका, सोनगढ़ प्रकाशन)*

प्रश्न 69 – सर्व औदयिकभाव बन्ध के कारण है ?

उत्तर – (1) सर्व औदयिकभाव बन्ध के कारण हैं – ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु मात्र मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग – यह चार भाव बन्ध के कारण हैं। *(श्री धवला, पुस्तक 7, पृष्ठ 9)*

(2) ...यदि जीव, मोह के उदय में युक्त हो तो बन्ध होता है; द्रव्यमोह का उदय होने पर भी यदि जीव शुद्धात्मभावना के बल द्वारा भावमोहरूप परिणमित न हो तो बन्ध नहीं होता। यदि जीव को कर्मोदय के कारण बन्ध होता हो तो संसारी को सर्वदा कर्म का उदय विद्यमान है, इसलिए उसे सर्वदा बन्ध होगा, कभी मोक्ष होगा ही नहीं। इसलिए ऐसा समझना कि कर्म का उदय, बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु जीव का भावमोहरूप परिणमन बन्ध का कारण है।

(श्री प्रवचनसार गाथा 45 की जयसेनाचार्य कृत टीका के आधार से)

प्रश्न 70– औदयिकभाव में जो अज्ञानभाव है और क्षायोपशमिकभाव में जो अज्ञानभाव है – उनमें क्या अन्तर है ?

उत्तर – औदयिकभाव में जो अज्ञानभाव है, वह भावरूप होता है और क्षायोपशमिक अज्ञानभाव, मिथ्यादर्शन के कारण दूषित होता है। ***(मोक्षशास्त्र (हिन्दी) पण्डित फूलचन्दजी द्वारा सम्पादित, पृष्ठ 31 का फुटनोट)***

[इन पाँच भावों सम्बन्धी विस्तृत विवरण के लिए मोक्षशास्त्र, अध्याय 2, सूत्र 1 की टीका (सोनगढ़ प्रकाशन) पढ़ना चाहिए।]

प्रश्न 71 – जीव के औपशमिक, क्षायिक, औदयिक, क्षायोपशमिकभावों को पारिणामिकभाव किस अपेक्षा से कहा जाता है ?

उत्तर – (1) जीव की पर्याय के प्रत्येक भाव को, वह अपने परिणाम होने से अपनी अपेक्षा से पारिणामिकभाव कहा जाता है।

(2) इन चार भावों को कर्म की अपेक्षा से अर्थात् कर्म के साथ अभाव अथवा सद्‌भाव सम्बन्ध बतलाने के लिए औपशमिकादि कहा जाता है।

(3) पाँचवें पारिणामिकभाव को, परमपारिणामिक भाव कहा जाता है और उसके आश्रय से ही धर्म का प्रारम्भ, वृद्धि एवम् पूर्णता होती है। ***(नियमसार गाथा, 13, 15, 41, 110, 119, 178 की टीका तथा गाथा 178 का कलश नं. 297)***

[इस सम्बन्ध में प्रकरण 4 में प्रश्न 341 भी देखिये]

प्रश्न 72 – जीव का क्षायिकज्ञान जो वर्तता है उसकी महिमा कहिये ?

उत्तर – धर्म का मूल सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञता की महिमा के लिए इसी ग्रन्थ में आगे एक परिशिष्ट दिया गया है।

गुणस्थान क्रम

प्रश्न 73 – संसार में समस्त प्राणी सुख चाहते हैं और उसी का उपाय करते हैं, किन्तु सुख प्राप्त क्यों नहीं कर पाते ?

उत्तर – संसारी जीव सच्चे [वास्तविक] सुख का स्वरूप और उसका उपाय नहीं जानते तथा उसका साधन भी नहीं करते, इसलिए वे सच्चे सुख को प्राप्त नहीं कर सकते।

प्रश्न 74 – सच्चे सुख का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – आह्लाद स्वरूप जीव के अनुजीवी सुखगुण की शुद्धदशा को सच्चा सुख कहते हैं, वही जीव का मुख्य स्वभाव है, परन्तु संसारी जीवों ने भ्रमवश सातावेदनीय कर्म के निमित्त से होनेवाले वैभाविक परिणतिरूप सातापरिणाम को ही सुख मान रखा है।

प्रश्न 75 – संसारी जीवों को सच्चा क्यों प्राप्त नहीं होता ?

उत्तर – मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के कारण संसारी जीवों को सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न 76 – संसारी जीवों को सुख कब प्राप्त होता है ?

उत्तर – संसार जीवों को परिपूर्ण सच्चा सुख, मोक्ष होने पर प्राप्त होता है। उनको सच्चे सुख का आंशिक प्रारम्भ निश्चयसम्यग्दर्शन से अर्थात् चौथे गुणस्थान से होता है।

प्रश्न 77 – मोक्ष का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – आत्मा से समस्त भावकर्मों और द्रव्यकर्मों के विप्रमोक्ष को अर्थात् अत्यन्त वियोग को मोक्ष कहते हैं।

प्रश्न 78 – उस मोक्ष की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

उत्तर – संवर और निर्जरा ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है।

प्रश्न 79 – संवर किसे कहते हैं ?

उत्तर – आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं, अर्थात् नये विकार का रुकना तथा अनागत [नवीन] कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध न होना – उसे संवर कहते हैं।

प्रश्न 80 – निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर – आत्मा के एकदेश विकार का कम होना तथा पूर्व काल में बाँधे हुए कर्मों से अंशतः सम्बन्ध छूटना – उसे निर्जरा कहते हैं।

प्रश्न 81 – संवर और निर्जरा होने का उपाय क्या है ?

उत्तर – निश्चयसम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों की ऐक्यता, संवर-निर्जरा होने का उग्र उपाय है। चौथे गुणस्थान में निश्चयसम्यग्दर्शन होने से संवर-निर्जरा प्रारम्भ होते हैं।

प्रश्न 82 – उन तीनों की पूर्ण ऐक्यता एक साथ होती है या अनुक्रम से ?

उत्तर – अनुक्रम से होती है।

प्रश्न 83 – तीनों की पूर्ण ऐक्यता होने का क्रम क्या है ?

उत्तर – ज्यों-ज्यों जीव गुणस्थान में आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों

उन गुणों की पर्यायों की शुद्धता भी बढ़ते–बढ़ते अन्त में पूर्ण एकता होती है।

प्रश्न 84 – गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – मोह और योग के निमित्त से होनेवाली आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र गुणों की अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। ***(गोम्मटरसार जीवकाण्ड, गाथा 2 की टीका)***

प्रश्न 85 – गुणस्थान के कितने भेद हैं ?

उत्तर – चौदह भेद हैं – (1) मिथ्यात्व, (2) सासादन, (3) मिश्र, (4) अविरत सम्यग्दृष्टि, (5) देशविरत, (6) प्रमत्तविरत, (7) अप्रमत्त विरत, (8) अपूर्वकरण, (9) अनिवृत्ति करण, (10) सूक्ष्मसाम्पराय, (11) उपशान्तमोह, (12) क्षीणमोह, (13) सयोग केवली, (14) अयोग केवली।

प्रश्न 86 – गुणस्थानों के यह नाम होने का क्या कारण है ?

उत्तर – गुणस्थानों के नाम होने का कारण मोहनीय कर्म और योग है।

प्रश्न 87 – किस–किस गुणस्थान का कौन निमित्त है ?

उत्तर – आदि के चार गुणस्थानों को दर्शनमोहनीय कर्म का निमित्त है। पाँचवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के आठ गुणस्थानों को चारित्रमोहनीय कर्म का निमित्त है; और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान को योग का निमित्त है।

पहला मिथ्यात्व गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से होता है; उसमें आत्मा के परिणाम मिथ्यात्वरूप होते हैं।

चौथे गुणस्थान के लिए दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम का निमित्त है। इस गुणस्थान में आत्मा की निश्चय सम्यग्दर्शन पर्याय का प्रादुर्भाव हो जाता है।

तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान के लिए दर्शनमोहनीय कर्म का उदय निमित्त है; इस गुणस्थान में आत्मा के परिणाम समग्मिथ्यात्व अथव उदयरूप होते हैं।

पहले गुणस्थान में औदयिकभाव, चौथे गुणस्थान में औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिकभाव, और तीसरे गुणस्थान में औदयिकभाव होते हैं; परन्तु दूसरा गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म की उदय, उपशम, क्षय और क्षायोपशम; इन चार अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था की अपेक्षा नहीं रखता; इसलिए यहाँ दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा से पारिणामिकभाव, किन्तु अनन्तानुबन्धीरूप चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने से इस गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म की अपेक्षा से औदयिकभाव भी कहा जा सकता है। इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व का घात हो गया है, इसलिए यहाँ सम्यक्त्व नहीं है और मिथ्यात्व का भी उदय नहीं आया है, इसलिए मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा से अनुदयरूप है।

पाँचवें गुणस्थान से दसवें - देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान - इन छह गुणस्थानों के लिए चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम निमित्त है; इसलिए इन गुणस्थानों में क्षायोपशमिकभाव होता है। इन गुणस्थानों में निश्चय सम्यक्चारित्र पर्याय की अनुक्रम से वृद्धि होती जाती है।

ग्यारहवाँ उपशान्तमोह गुणस्थान आत्मा के पुरुषार्थ से प्रगट हो, तब चारित्रमोहनीय कर्म का स्वयं का उपशम होता है, इसलिए ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिकभाव होता है। यद्यपि यहाँ चारित्रमोहनीय कर्म का पूर्णतया उपशम हो गया है, तथापि योग का सद्भाव होने से पूर्ण चारित्र नहीं है, क्योंकि सम्यक्चारित्र के लक्षण में योग और कषायादि के अभाव से पूर्ण सम्यक्चारित्र होता है।

बारहवाँ क्षीणमोह गुणस्थान आत्मा के पुरुषार्थ से प्रगट हो, तब चारित्रमोहनीय कर्म का स्वयं क्षय होता है; इसलिए यहाँ क्षायिकभाव होता है। इस गुणस्थान में भी ग्यारहवें गुणस्थान की भाँति सम्यक्चारित्र की पूर्णता नहीं है। सम्यग्ज्ञान यद्यपि चौथे गुणस्थान में ही प्रगट हो जाता है।

भावार्थ - यद्यपि आत्मा के ज्ञानगुण का विकास अनादि काल से प्रवाहरूप चल रहा है, तथापि मिथ्या मान्यता के कारण वह ज्ञान मिथ्यारूप था, किन्तु चौथे गुणस्थान में जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, तब वही आत्मा की ज्ञानपर्याय सम्यग्ज्ञान कहलाने लगी और पञ्चमादि गुणस्थानों में तपश्चरणादि के निमित्त के सम्बन्ध से अवधि, मनःपर्ययज्ञान भी किसी-किसी जीव के प्रगट हो जाते हैं; तथापि केवलज्ञान हुए बिना सम्यग्ज्ञान की पूर्णता नहीं हो सकती; इसलिए बारहवें गुणस्थान तक यद्यपि सम्यग्दर्शन की पूर्णता हो गई है (क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व के बिना बारहवें गुणस्थान में नहीं पहुँचा जा सकता), तथापि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुण अभी तक अपूर्ण हैं, इसलिए अभी तक मोक्ष

नहीं होता। बारहवें गुणस्थान में चारित्रगुण क्षायिकभाव के कारण पूर्ण हो चुका किन्तु आनुषंगिक अन्यगुणों के चारित्र पूर्ण नहीं है।

तेरहवाँ सयोगकेवली गुणस्थान योगों के सद्भाव की अपेक्षा से होता है, इसलिए उसका नाम सयोग तथा केवलज्ञान सद्भाव से सयोगकेवली है। इस गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है, किन्तु समस्त गुणों के चारित्र की पूर्णता न होने से मोक्ष नहीं होता।

चौदहवाँ अयोगकेवली गुणस्थान योगों के अभाव की अपेक्षा से होता है, इसलिए उसका नाम अयोगकेवली है। इस गुणस्थान के अन्त में सम्यक्चारित्र की पूर्णता हो जाती है, इस गुणस्थान से मोक्ष भी अब दूर नहीं रहा, अर्थात अ, इ, उ, ऋ, लृ – इन पाँच ह्रस्व स्वरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय में मोक्ष हो जाता है।

प्रश्न 88 – मिथ्यात्व गुणस्थान का क्या स्वरूप है?

उत्तर – मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में युक्त होने से अतत्त्वार्थ –श्रद्धानरूप आत्मा के परिणाम विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में रहनेवाला जीव विपरीत श्रद्धान करता है और सच्चे धर्म की ओर उसकी रुचि [प्रीति] नहीं होती; जैसे कि – पित्तज्वरवाले रोगी को दूध आदि रस कड़वे लगते हैं, उसी प्रकार उसे भी सत्य धर्म अच्छा नहीं लगता।

प्रश्न 89 – सासादन गुणस्थान किसे कहते हैं?

उत्तर – प्रथमोशम सम्यक्त्व के काल में जब अधिक से अधिक छह आवली और कम से कम एक समय शेष रहे, उस

समय किसी एक अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय में युक्त होने से जिसका सम्यक्त्व नष्ट हो गया है – ऐसा जीव सासादन गुणस्थानवाला होता है।

प्रश्न 90 – सम्यक्त्व के कितने भेद हैं?

उत्तर – सम्यक्त्व के तीन भेद हैं – (1) उपशमसम्यक्त्व, (2) क्षायिकसम्यक्त्व, (3) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व।

(1) उपशमसम्यक्त्व – जीव का स्वसन्मुख पुरुषार्थपूर्णक उद्यम हो, तब दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ – मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् और अनन्तानुबन्धी चार प्रकृतियाँ – क्रोध, मान, माया और लोभ – इन सात प्रकृतियों का स्वयं उपशम होता है, उस समय जीव का जो भाव हो, उसे उपशमसम्यक्त्व कहते हैं।

(2) क्षायिकसम्यक्त्व – जीव के स्वसन्मुख पुरुषार्थपूर्वक उद्यम हो, तब सातों प्रकृतियों का क्षय होता है; उस समय जीव का जो भाव हो, उसे क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं।

(3) क्षायोपशमिकसम्यक्त्व – छह प्रकृतियों – मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया–लोभ के अनुदय और सम्यक्प्रकृति नाम की प्रकृति के उदय में युक्त होने से जो भाव उत्पन्न हो, उसे क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं।*

उपशम सम्यक्तव के दो भेद हैं – (1) प्रथमोपशम सम्यक्त्व और (2) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व।

प्रश्न 91 – प्रथमोशम सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

---

* *इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी हेतु गोम्मटसार आदि ग्रन्थ देखना चाहिए।*

उत्तर – अनादि मिथ्यादृष्टि के पाँच – मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ – प्रकृतियों और सादि मिथ्यादृष्टि को सात प्रकृतियों के उपशम से जो उत्पन्न हो, उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

प्रश्न 92 – द्वितीयोपशम सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर – सातवें गुणस्थान में क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव श्रेणी चढ़ने की सन्मुख–दशा में अनन्तानुबन्धी चतुष्टय – क्रोध–मान–माया–लोभ का विसंयोजन, अप्रत्याख्यानादिरूप करके दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों के उपशमकाल में जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

प्रश्न 93 – मिश्र गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – सम्यक्–मिथ्यात्वप्रकृति के उदय के वश होने से जीव को मात्र सम्यक्त्व परिणाम प्राप्त नहीं होता; अथवा मात्र मिथ्यात्वरूप परिणाम भी प्राप्त नहीं होता परन्तु मिले हुए दही–गुड़ के स्वाद की भाँति एक भिन्न जाति का मिश्र परिणाम होता है, उसे मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न 94 – अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर – दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियाँ – इन सात प्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम के सम्बन्ध से और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, के उदय में युक्त होनेवाले, व्रत रहित तथा अंशतः स्वरूपाचरणसहित निश्चय सम्यक्त्वधारी चौथे

गुणस्थानवर्ती होते हैं। (अनादि मिथ्यादृष्टि को पाँच प्रकृतियों का उपशम होता है)

प्रश्न 95 – देशविरत गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर – प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माला, लोभ के उदय में युक्त होने से यद्यपि संयमभाव नहीं होता, तथापि चारित्रगुण की आंशिक शुद्धि होने से अप्रत्याख्यानवरण क्रोध, मान, माया, लोभ के अभावपूर्वक श्रावक का निश्चय देशचारित्र होता है; उसी को देशविरत नाम का पाँचवाँ गुणस्थान कहते हैं।

पाँचवें आदि (उपरोक्त) सर्व गुणस्थानों में भी निश्चय सम्यग्दर्शन और उसका अविनाभावी सम्यग्ज्ञान अवश्य होात है। उसके बिना पाँचवें, छठवें आदि गुणस्थान नहीं होते हैं।

प्रश्न 96 – प्रमत्तविरत गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर – संज्वलन और नो कषाय के तीव्र उदय में युक्त होने से संयमभाव तथा मलजनक प्रमाद – यह दोनों एक साथ होते हैं; (यद्यपि संज्वलन और नो कषाय का उदय चारित्रगुण के विरोध में निमित्त है, तथापि प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होने से प्रादुर्भूत सकल संयम है) इसलिए इस गुणस्थानवर्ती मुनि को प्रमत्तविरत अर्थात् चित्रलाचरणी कहते हैं।

प्रश्न 97 – अप्रमत्तविरत गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर – जीव के पुरुषार्थ से संज्वलन और नो कषाय का मन्द उदय होता है, तब प्रमादरहित संयमभाव प्रगट होता है; इस कारण इस गुणस्थानवर्ती मुनि को अप्रमत्त विरत कहते हैं।

प्रश्न 98 – अप्रमत्तविरत गुणस्थान के कितने भेद हैं ?

उत्तर – उसके दो भेद हैं – (1) स्वस्थान अप्रमत्तविरत और (2) सातिशय अप्रमत्तविरत।

प्रश्न 99 – स्वस्थान अप्रत्तविरत किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो हजारों बार छठवें से सातवें गुणस्थान में और सातवें से छठवें गुणस्थान में आयें–जायें, उसे स्वस्थान अप्रत्तविरत कहते हैं।

प्रश्न 100 – सातिशय अप्रमत्तविरत किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो श्रेणी चढ़ने के सन्मुख हो, उसे सातिशय अप्रमत्त विरत कहते हैं ?

प्रश्न 102 – श्रेणी चढ़ने के लिए कौन पात्र है ?

उत्तर – क्षायिक सम्यग्दृष्टि और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि ही श्रेणी चढ़ते हैं; प्रथमोशम सम्यक्त्ववाले तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्ववाले श्रेणी नहीं चढ़ सकते। प्रथमोपशम सम्यक्त्ववाले जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को छोड़कर क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होकर प्रथम ही अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का विसंयोजन करके दर्शनमोहनीय की तीन आकृतियों का उपशम करके या तो द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाएँ, अथवा तीनों प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाएँ, तब वे श्रेणी चढ़ने को पात्र होते हैं।

प्रश्न 103 – श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर – जीव के जिस शुद्धभाव के निमित्त से चारित्रमोहनीय कर्म की शेष 21 प्रकृतियों का क्रम से उपशम तथा क्षय हो, उस शुद्धभाव को श्रेणी कहते हैं।

प्रश्न 104 – श्रेणी के कितने भेद हैं ?

उत्तर – उसके दो भेद हैं – (1) उपशमश्रेणी और (2) क्षपकश्रेणी।

प्रश्न 105 – उपशमश्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस श्रेणी में चारित्रमोहनीय कर्म की 21 प्रकृतियों का उपशम हो, उसे उपशमश्रेणी कहते हैं।

प्रश्न 106 – क्षपकश्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस श्रेणी में उपरोक्त 21 प्रकृतियों का क्षय हो, उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं।

प्रश्न 107 – इन दोनों श्रेणियों में कौन–कौन से जीव चढ़ते हैं ?

उत्तर – क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो दोनों श्रेणियों में चढ़ते हैं, और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणी में ही चढ़ते हैं; वे क्षपकश्रेणी में नहीं चढ़ते।

प्रश्न 108 – उपशमश्रेणी के कौन–कौन से गुणस्थान हैं ?

उत्तर – उपशमश्रेणी के चार गुणस्थान हैं – (1) आठवाँ – अपूर्वकरण, (2) नववाँ – अनिवृत्तिकरण, (3) दसवाँ – सूक्ष्मसाम्पराय और (4) ग्यारहवाँ – उपशान्त मोह।

प्रश्न 109 – क्षपकश्रेणी के कौन–कौन से गुणस्थान हैं ?

उत्तर – उसके (1) आठवाँ – अपूर्वकरण, (2) नववाँ – अनिवृत्तिकरण; (3) दसवाँ – सूक्ष्म साम्पराय और (4) बारहवाँ – क्षीणमोह – यह चार गुणस्थान है।

प्रश्न 110 – चारित्रमोहनीय की 21 प्रकृतियों के उपशम को

तथा क्षय को आत्मा के कौन से परिणाम निमित्त कारण हैं ?

उत्तर – अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण – यह तीन परिणाम निमित्तकारण है।

प्रश्न 111 – अध:करण परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस करण में (परिणाम समूह में) उपरितन समयवर्ती तथा अधस्तन समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश और विसदृश हो, उसे अध:करण कहते हैं। वह अध:करण सातवें गुणस्थान में होता है।

प्रश्न 112 – अपूर्वकरण परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस करण में उत्तरोत्तर अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते जाएँ अर्थात् भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदैव विसदृश ही हों और एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी हों तथा विसदृश भी हों, उसे अपूर्वकरण कहते हैं और वही **आठवाँ गुणस्थान** है।

प्रश्न 113 – अनिवृत्तिकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस करण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही हों और एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश ही हों, उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं; यही **नववाँ गुणस्थान** है।

– इन तीनों करणों के परिणाम प्रति समय अनन्तगुनी विशुद्धता सहित होते हैं।

प्रश्न 114 – सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर – अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त लोभ कषाय के उदय के वश होनेवाले जीव को सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है।

प्रश्न 115 – उपशान्तमोह गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर – चारित्रमोहनीय की 21 प्रकृतियों का उपशम होने से यथाख्यातचारित्र को धारण करनेवाले मुनि को ग्यारहवाँ उपशान्त मोह नामक गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल समाप्त होने पर मोहनीय के उदय में युक्त होने से जीव निचले गुणस्थानों में आ जाता है।

प्रश्न 116 – क्षीणमोह गुणस्थान का क्या स्वरूप है ? और वह किसे प्राप्त होता है ?

उत्तर – मोहनीय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से स्फटिक भाजनगत् जल की भाँति अत्यन्त निर्मल अविनाशी यथाख्यातचारित्र के धारक मुनि को क्षीणमोह नामक गुणस्थान होता है।

प्रश्न 117 – सयोगी गुणस्थान का क्या स्वरूप है ? और वह किसे प्राप्त होता है ?

उत्तर – घातिया कर्मों की 47 प्रकृतियाँ और अघातिया कर्मों की 16 प्रकृतियाँ – ऐसी 63 प्रकृतियों* का क्षय होने से लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान तथा आत्मप्रदेशों के कम्पनरूप योग के धारक अरिहन्त भट्टारक को सयांगी केवली नाम का तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है।

वे ही केवली भगवान अपनी दिव्यध्वनि से भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर संसार में मोक्षमार्ग का प्रकाश करते हैं।

प्रश्न 118 – अयोगी केवली गुणस्थान का क्या स्वरूप है ? और वह किसे प्राप्त होता है ?

** 63 प्रकृतियों के लिए श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिका देखें।*

उत्तर – योगों से रहित और केवलज्ञानादि सहित अरिहन्त भट्टारक (भगवान) को चौदहवाँ अयोगी केवली गुणस्थान प्राप्त होता है।

इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ, – इन पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चार में जितना काल लगे उतना है। अपने गुणस्थान के काल के द्विचरम समय में सत्ता की 85 प्रकृतियों में से 72 प्रकृतियों का और चरम समय में 13 प्रकृतियों का नाश करके अरिहन्त भगवान मोक्ष धाम में लोक के अग्र भाग में पधारते हैं।

प्रश्न 119 – नव देवों के नाम बतलाइये ?

उत्तर – अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनवचन, और शृंगारादि दोष रहित और साक्षात् जिनेश्वर समान हो ऐसी जिनप्रतिमा तथा जिनमन्दिर – यह नवदेव हैं।

(विद्वद्जन बोधक, भाव संग्रह; श्री लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)

प्रश्न 120 – अविरत सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों का आस्रव तो नहीं होता, किन्तु अन्य प्रकृतियों का तो आस्रव होकर बन्ध होता है; तो उसे ज्ञानी कहें या अज्ञानी ?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी ही हैं क्योंकि वह अभिप्रायपूर्वक के आस्रवों से निवृत्त हो चुका है। उसे कर्म प्रकृतियों का जो आस्रव तथा बन्ध होता है; वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है। सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव है, जब तक

***नोट** – प्रत्येक गुणस्थान में कितनी प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं और कितनी कर्म प्रकृतियों का उदय होता है – इस सम्बन्धी ज्ञान के लिए श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, गोम्मटसार आदि देखना चाहिए।*

कमजोरीवश चारित्रमोह के उदय में जुड़ता है, वहाँ तक भूमिकानुसार आस्रव-बन्ध होते हैं किन्तु उनका स्वामित्व उसके नहीं है। अभिप्राय में तो वह आस्रव-बन्ध से सर्वथा निवृत्त होना चाहता है, इसलिए वह ज्ञानी ही है। ***(श्री समयसार गाथा 72 का भावार्थ)***

★★★★★

परिशिष्ट – 1

सर्वज्ञता की महिमा

◆ मोक्षमार्ग के मूल उपदेशक श्री सर्वज्ञदेव हैं; इसलिए जिसे धर्म करना हो, उसे सर्वज्ञ को पहिचानना चाहिए।

◆ निश्चय से जैसा सर्वज्ञ भगवान का स्वभाव है, वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है; इसलिए सर्वज्ञ को पहिचानने से अपने आत्मा की पहिचान होती है। जो जीव सर्वज्ञ को नहीं पहिचानता, वह अपने आत्मा को भी नहीं पहचानता।

◆ समस्त पदार्थों को जानने के सामर्थ्यरूप सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है, किन्तु पर में कोई फेरफार करे – ऐसी शक्ति आत्मा में कदापि नहीं है

◆ अहो! समस्त पदार्थों को जानने की शक्ति आत्मा में सदैव विद्यमान है, उसकी प्रतीति करनेवाला जीव धर्मी है।

◆ वह धर्मी जीव जानता है कि मैं अपनी ज्ञान क्रिया का स्वामी हूँ, किन्तु पर की क्रिया का मैं स्वामी नहीं हूँ।

◆ आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है, उस शक्ति का विकास होने पर अपने में सर्वज्ञता प्रगट होती है, किन्तु आत्मा की शक्ति का विकास पर का कुछ कर दे – ऐसा नहीं होता।

◆ साधक को पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट नहीं हुई है, तथापि वह अपनी सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति करता है।

◆ वह प्रतीति उसने पर्याय की ओर देखकर नहीं की है, किन्तु स्वभाव की ओर देखकर की है। वर्तमान पर्याय तो स्वयं ही अल्पज्ञ है; उस अल्पज्ञता के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति कैसे हो सकती है ?

◆ अल्पज्ञ पर्याय द्वारा सर्वज्ञता की प्रतीति होती है, किन्तु अल्पज्ञता के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति नहीं होती; त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से ही सर्वज्ञता की प्रतीति होती है।

प्रतीति करनेवाली तो पर्याय है, किन्तु उसे आश्रय द्रव्य का है।

द्रव्य के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति करनेवाले जीव को सर्वज्ञतारूप परिणमन हुए बिना नहीं रहता।

अल्पज्ञ पर्याय के समय भी, अपने में सर्वज्ञत्वशक्ति होने का जिसने निर्णय किया, उसकी रुचि का जोर अल्पज्ञ पर्याय की ओर से हटकर अखण्ड स्वभाव की ओर ढल गया है, इसलिए वह जीव 'सर्वज्ञ भगवान का लघुनन्दन' हुआ है।

अभी स्वयं को सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व 'मेरा आत्मा त्रिकाल सर्वज्ञतारूप परिणमित होने की शक्तिवाला है' - ऐसा जिसने स्वसन्मुख होकर निर्णय किया, वह जीव अल्पज्ञता को, राग को या पर को अपना स्वरूप नहीं मानता; अपने पूर्ण ज्ञानस्वरूप पर ही उसकी दृष्टि होती है।

जो आत्मा अपनी पूर्ण ज्ञानशक्ति की प्रतीति करता है, वही सच्चा जैन और सर्वज्ञदेव का भक्त है।

आत्मा, पर का ग्रहण-त्याग करता है अथवा पर में फेरफार करता है - ऐसा जो मानता है, वह जीव, आत्मा की शक्ति

को, सर्वज्ञदेव को या जैनशासन को नहीं मानता, वह सचमुच जैन नहीं है।

देखो भाई! आत्मा का स्वभाव ही 'सर्वज्ञ' है। सर्वज्ञशक्ति समस्त आत्माओं में भरी है।'सर्वज्ञ' अर्थात् सबको जाननेवाला। सर्व को जाने - ऐसा महान महिमावन्त अपना स्वभाव है; उसे अन्यरूप / विकारी स्वरूप मान लेना, वह आत्मा की बड़ी हिंसा है। आत्मा महान भगवान है, उसकी महानता के यह गीत गाये जा रहे हैं।

भाई रे! तू सर्व का 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञाता है, किन्तु पर में फेरफार करनेवाला तू नहीं है। जहाँ प्रत्येक वस्तु भिन्न है, वहाँ भिन्न वस्तु का तू क्या करेगा? तू स्वतन्त्र और वह भी स्वतन्त्र। अहो! ऐसी स्वतन्त्रता की प्रतीति में अकेली वीतरागता है।

'अनेकान्त' अर्थात् मैं अपने ज्ञानतत्त्वरूप हूँ और पररूप से नहीं हूँ - ऐसा निश्चय करते ही जीव स्वतत्त्व में रह गया और अनन्त परतत्त्वों से उदासीनता हो गयी। इस प्रकार अनेकान्त में वीतरागता आ जाती है।

ज्ञानतत्त्व की प्रतीति के बिना पर की ओर से सच्ची उदासीनता नहीं होती।

स्व-पर के भेदज्ञान बिना वीतरागता नहीं होती। ज्ञानतत्त्व से च्युत होकर 'मैं पर का कर्ता हूँ' - ऐसा मानना एकान्त है; उसमें मिथ्यात्व और राग-द्वेष भरे हैं; वही संसार भ्रमण का मूल है।

'मैं ज्ञानरूप हूँ और पररूप नहीं हूँ' - ऐसे अनेकान्त में भेदज्ञान और वीतरागता है, वही मोक्षमार्ग है और परम अमृत है।

जगत् में स्व और पर सभी तत्त्व निज-निजस्वरूप से सत् हैं; आत्मा का स्वभाव उन्हें जानने का है, तथापि 'मैं पर को बदलता हूँ'

– ऐसे विपरीत अभिप्राय में सत् की हत्या होती है, इसलिए उस विपरीत अभिप्राय को महान हिंसा कहा जाता है और वही महान पाप है।

अहो! मैं तो ज्ञान हूँ; सारा जगत् ज्यों का त्यों अपने-अपने स्वरूप में विराज रहा है और मैं अपने ज्ञानतत्त्व में विराजमान हूँ तो फिर कहाँ राग और कहाँ द्वेष? राग-द्वेष कहीं है ही नहीं। मैं तो सबका ज्ञाता-सर्वज्ञता का पिण्ड हूँ; मेरे ज्ञानतत्त्व में राग-द्वेष हैं ही नहीं – ऐसा धर्मी जानता है।

हे जीव! ज्ञानी तुझे तेरा आत्मवैभव बतलाते हैं। अपने ज्ञान में ही स्थिर रहकर एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाने – ऐसा ज्ञानवैभव तुझमें विद्यमान हैं। यदि अपनी सर्वज्ञशक्ति का विश्वास करे तो कहीं भी परिवर्तन करने की बुद्धि दूर हो जाए।

वस्तु की पर्याय में जिस समय जो कार्य होना है, वही नियम से होता है और सर्वज्ञ के ज्ञान में उसी प्रकार ज्ञात हुआ है; – ऐसा जो नहीं मानता और निमित्त के कारण उसमें फेरफार होना मानता है, उसे वस्तुस्वरूप की या सर्वज्ञता की प्रतीति नहीं है।

सर्वज्ञता कहते ही समस्त पदार्थों का तीनों काल का परिणमन सिद्ध हो जाता है। यदि पदार्थ में तीनों काल की पर्यायें निश्चित क्रमबद्ध न होती हों और उल्टी-सीधी होती हों तो सर्वज्ञता ही सिद्ध नहीं हो सकती; इसलिए सर्वज्ञता स्वीकार करनेवाले को वह सब स्वीकार करना ही पड़ेगा।

आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है, वह 'आत्मज्ञानमयी' है। आत्मा परसन्मुख होकर पर को नहीं जानता, किन्तु आत्मसन्मुख रहकर आत्मा को जानते हुए लोकालोक ज्ञात हो जाता है; इसलिए

सर्वज्ञत्व -शक्ति आत्माज्ञानमय है। जिसने आत्मा को जाना, उसने सर्व जाना।

हे जीव! तेरे ज्ञानमात्र आत्मा के परिणमन में अनन्त धर्म एक साथ उछल रहे हैं, उसी में झाँककर अपने धर्म को ढूँढ़; कहीं बाह्य में अपने धर्म को मत खोज। तेरी अन्तरशक्ति के अवलम्बन से ही सर्वज्ञता प्रगट होगी।

जिसने अपने में सर्वज्ञता प्रगट होने की शक्ति मानी है, वह जीव, देहादि की क्रिया का ज्ञाता रहा; पर की क्रिया को बदलने की बात तो दूर रही, किन्तु अपनी पर्याय को आगे-पीछे करने की बुद्धि भी उसके नहीं होती। ज्ञान कहीं फेरफार नहीं करता; मात्र जानता है। जिसने ऐसे ज्ञान की प्रतीति की, उसे स्वसन्मुख दृष्टि के कारण पर्याय-पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाती है और राग छूटता जाता है - इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की दृष्टि, वह मुक्ति का कारण है।

'सर्वज्ञता' कहने से दूर के या निकट के पदार्थों को जानने में भेद नहीं रहा; पदार्थ दूर हो या निकट हो, उसके कारण ज्ञान करने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। दूर के पदार्थ को निकट करना या निकट के पदार्थ को दूर करना ज्ञान का कार्य नहीं है, किन्तु निकट के पदार्थ की भाँति ही दूर के पदार्थ को भी स्पष्ट जानना ज्ञान का कार्य है। 'सर्वज्ञता' कहने से सर्व को जानना आया, किन्तु उनमें कहीं 'यह अच्छा, यह बुरा' - ऐसी बुद्धि या राग द्वेष करना नहीं आया।

केवली भगवान को समुद्घात होने से पूर्व उसे जाननेरूप परिणमन हो गया है; सिद्धदशा होने से पूर्व उसका ज्ञान हो गया है; भविष्य की अनन्तानन्त सुखपर्यायों का वेदन होने से पूर्व सर्वज्ञत्वशक्ति उसे जाननेरूप परिणमित हो गयी - इस प्रकार ज्ञान तीनों काल की पर्यायों को जान लेने के सामर्थ्यवाला है, किन्तु उनमें किसी पर्याय

के क्रम को आगे-पीछे करके भविष्य में होनेवाली पर्याय को वर्तमान में लाये - ऐसा नहीं हो सकता।

श्री आचार्यदेव, सर्वज्ञत्वशक्ति की पहिचान कराते हैं कि हे जीव! तेरे ज्ञान का कार्य तो मात्र 'जानना ही है; राग-द्वेष करना तो तेरा स्वरूप नहीं है और अपूर्ण जाननेरूप परिणमित हो - ऐसा भी तेरे ज्ञान का मूल स्वरूप नहीं है, सबको जाननेरूप परिणमें - ऐसी तेरे ज्ञान की पूर्ण सामर्थ्य है। ऐसी अपनी ज्ञानशक्ति को पहिचान तो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होकर अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा।

मेरे आत्मा में सर्वज्ञत्वशक्ति है - ऐसा जिसने स्वीकार किया, उसने अपने स्वभाव में राग-द्वेष का अभाव भी स्वीकार किया, क्योंकि जहाँ सर्वज्ञता हो, वहाँ राग-द्वेष नहीं होते और जहाँ राग-द्वेष हों, वहाँ सर्वज्ञता नहीं होती। इसलिए सर्वज्ञ-स्वभाव को स्वीकार करनेवाला कभी राग-द्वेष से लाभ नहीं मान सकता; और राग-द्वेष से लाभ माननेवाला सर्वज्ञस्वभाव को स्वीकार नहीं कर सकता।

ज्ञानी कहते हैं कि तिनके के टुकड़े करने की शक्ति भी हम नहीं रखते - इसका आशय यह है कि हम तो ज्ञायक हैं; एक परमाणुमात्र को भी बदलने का कर्तृत्व हम नहीं मानते। तिनके के दो टुकड़े हों, उसे करने की शक्ति हमारी या किसी आत्मा की नहीं है, किन्तु जानने की शक्ति है और वह भी इतना ही जानने की नहीं, किन्तु परिपूर्ण जानने की शक्ति है।

जो जीव अपने ज्ञान की पूर्ण जानने की शक्ति माने तथा उसी का आदर और महिमा करे, वह जीव अपूर्णदशा को या राग को अपना स्वरूप नहीं मानता तथा उसका आदर और महिमा नहीं करता; इसलिए उसे ज्ञान के विकास का अहङ्कार कहाँ से होगा? जहाँ पूर्ण स्वभाव का आदर है, वहाँ अल्प ज्ञान का अहङ्कार होता ही नहीं है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा, संयोगरहित तथा पर में रुकने के भाव से रहित है। किसी अन्य द्वारा उसका मान या अपमान नहीं है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वयं अपने से ही परिपूर्ण एवं सुख से भरपूर है।

सर्वज्ञता अर्थात् अकेला ज्ञान... परिपूर्ण ज्ञान। ऐसे ज्ञान से भरपूर आत्मा की प्रतीति करना, वह धर्म की नींव है। धर्म का मूल है।

मुझमें ही सर्वज्ञरूप से परिणमित होने की शक्ति है, उसी से मेरा ज्ञान परिणमित होता है – ऐसा न मानकर, शास्त्रादि निमित्तों के कारण मेरा ज्ञान परिणमित होता है – ऐसा जिसने माना है, उसने संयोग से लाभ माना है; इसलिए उसे संयोग में सुखबुद्धि है क्योंकि जो जिससे लाभ माने, उसे उसमें सुखबुद्धि होती है। चैतन्यबिम्ब स्वतत्त्व के अलावा अन्य से लाभ मानना मिथ्याबुद्धि है।

'मेरा आत्मा ही सर्वज्ञता और परमसुख से भरपूर है' – ऐसी जिसे प्रतीति नहीं है, वह जीव, भोग हेतु धर्म की अर्थात् पुण्य की ही श्रद्धा करता है; चैतन्य के निर्विषय सुख का उसे अनुभव नहीं है, इसलिए गहराई में उसे भोग का ही हेतु विद्यमान है।

सर्वज्ञत्वरूप से परिणमित होने की आत्मा की शक्ति है, उसका आश्रय करने के बदले निमित्त के आश्रय से ज्ञान विकसित होता है – ऐसा जो मानता है, उसकी पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि दूर नहीं हुई; निमित्त और विषय दोनों एक हैं। निमित्त के आश्रय से लाभ माननेवाला या विषयों में सुख माननेवाला, इन दोनों के अभिप्राय की एक ही जाति है; वे आत्मस्वभाव का आश्रय करके परिणमित न होकर, संयोग का आश्रय करके ही परिणमित हो रहे हैं। भले ही शुभभाव हो, तथापि उनके विषयों की रुचि दूर नहीं हुई है और स्वभाव के अतीन्द्रिय सुख की रुचि हुई

नहीं है; उन्होंने अपने आत्मा को ध्येयरूप नहीं बनाया है, किन्तु विषयों को ही ध्येयरूप बनाया है।

अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त सर्व पदार्थ परविषय हैं; उनके आश्रय से लाभ माननेवाले को परविषयों की प्रीति है। जो अपने स्वभाव की प्रतीति करता है, उसे किन्हीं परविषयों में सुखबुद्धि नहीं रहती।

अहो! मेरे आत्मा में सर्वज्ञता की सामर्थ्य है - ऐसी जिसने प्रतीति की, उसने वह प्रतीति अपनी शक्ति की ओर देखकर की है या पर की ओर देखकर? आत्मा की शक्ति की प्रतीति आत्मा को ध्येय बनाकर होगी या पर को ध्येय बनाकर? किसी निमित्त, राग या अपूर्ण पर्याय के लक्ष्य से पूर्ण शक्ति की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु अखण्डस्वभाव के आश्रय से ही पूर्णता की प्रतीति होती है। स्वभाव के आश्रय से पूर्णता की प्रतीति करनेवाले को कहीं भी पर के आश्रय से लाभ की बुद्धि नहीं रहती।

अरहन्त भगवान जैसी आत्मा की सर्वज्ञशक्ति अपने में भरी है। यदि अरहन्त भगवान की ओर ही देखता रहे और अपने आत्मा की ओर ढलकर निजशक्ति को न संभाले तो मोह का क्षय नहीं होता। जैसे शुद्ध अरहन्त भगवान हैं, शक्तिरूप से वैसा ही मैं हूँ; इस प्रकार यदि अपने आत्मा की ओर उन्मुख होकर जाने तो सम्यग्दर्शन प्रगट होकर मोह का क्षय होता है। इसलिए परमार्थ से अरिहन्त भगवान इस आत्मा के ध्येय नहीं है, किन्तु अरहन्त जैसे सामर्थ्यवाला अपना आत्मा ही अपना ध्येय है। अरहन्त भगवान की शक्ति उनमें हैं; उनके पास से ही कहीं इस आत्मा की शक्ति नहीं आती; उनके आश्रय से तो राग होता है।

प्रभो! तेरी चैतन्य सत्ता के असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में अचिन्त्य

निधान भरे हैं; तेरी सर्वशक्ति तेरे ही निधान में विद्यमान है; उसकी प्रतीति करके स्थिरता द्वारा उसे खेर (खन) तो उसमें से तेरी सर्वज्ञता प्रगट हो।

जिस प्रकार पूर्णता को प्राप्त ज्ञान में निमित्त का अवलम्बन नहीं है, उसी प्रकार निचलीदशा में भी ज्ञान, निमित्त के कारण नहीं होता; इसलिए वास्तव में पूर्णता की प्रतीति करनेवाला साधक, अपने ज्ञान को परालम्बन से नहीं मानता, किन्तु स्वभाव के अवलम्बन से मानकर स्वोन्मुख करता है।

सर्वज्ञशक्तिवान् अपने आत्मा की ओर देखे तो सर्वज्ञता की प्राप्ति हो सकती है; पर की ओर देखने में आत्मा का कुछ नहीं हो सकता। अनन्त काल तक पर की ओर देखता रहे तो वहाँ से सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होगी और निजस्वभाव ओर देखकर स्थिर होने से क्षणमात्र में सर्वज्ञता प्रगट हो सकती है।

सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व साधकदशा में ही आत्मा की पूर्ण शक्ति की प्रतीति होती है। पूर्ण शक्ति की प्रतीति करके उसका आश्रय लेने से ही साधकदशा प्रारम्भ होकर पूर्णदशा प्रगट होती है।

'अहो! मेरा सर्वज्ञपद प्रगट होने की शक्ति मुझमें वर्तमान ही विद्यमान है!' - इस प्रकार स्वभाव-सामर्थ्य की श्रद्धा करते ही वह अपूर्व श्रद्धा, जीव को बाह्य में उछलकूद करने से रोक देती है और उसके परिणमन को अन्तर्मुख कर देती है। स्वभावोन्मुख हुए बिना सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति नहीं होती।

अन्तर्मुख होकर सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति करने से उसमें मोक्ष की - धर्म की क्रिया आ जाती है। जो जीव स्वभावोन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता और निमित्त की सन्मुखता से लाभ मानता

है, उस जीव की विषयों में से सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है; इसलिए अन्तर्मुख स्वभावबुद्धि नहीं हुई है।

स्वभावबुद्धिवाला धर्मी जीव ऐसा जानता है कि मस्तक काटनेवाला कसाई और दिव्यध्वनि सुनानेवाले वीतरागदेव - दोनों मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं; उन ज्ञेयों के कारण मुझे कोई हानि या लाभ नहीं है तथा उनके कारण में उन्हें नहीं जानना। राग-द्वेष के बिना समस्त ज्ञेयों को जान लेने की सर्वज्ञशक्ति मुझमें भरी है। कदाचित् अस्थिरता का विकल्प आ जाए, तथापि धर्मों की ऐसी श्रद्धा कभी नहीं हटती।

अपने जिस पूर्णस्वभाव को प्रतीति में लिया है, उसी के अवलम्बन के बल से अल्प काल में धर्मी को पूर्ण सर्वज्ञता विकसित हो जाती है।

जय हो उस सर्वज्ञता की और उसके साधक सन्तों की!

[आत्मधर्म गुजराती, वर्ष 10 अङ्क 120 से]

परिशिष्ट - 2

द्रव्यानुयोग में दोषकल्पना का निराकरण

कोई जीव कहता है कि - द्रव्यानुयोग में व्रत, संयमादिक व्यवहारधर्म की हीनता प्रगट की है; सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादि को निर्जरा का कारण कहा है - इत्यादि कथन सुनकर जीव स्वच्छन्दी बनकर पुण्य छोड़ देगा और पाप में प्रवर्तन करेगा, इसलिए उसे पढ़ना-सुनना योग्य नहीं है। उससे कहते हैं -

जैसे, मिसरी खाने से गधा मर जाये तो उससे कहीं मनुष्य तो मिसरी खाना नहीं छोड़ देंगे; उसी प्रकार कोई विपरीतबुद्धि जीव, अध्यात्म ग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्दी हो जाता हो, उससे कहीं विवेकी जीव तो अध्यात्म ग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ देंगे। हाँ, इतना करेंगे कि जिसे स्वच्छन्दी होता देखें, उसको वैसा उपदेश देंगे, जिससे वह स्वच्छन्दी न हो; और अध्यात्म ग्रन्थों में भी स्वच्छन्दी होने का जगह-जगह निषेध किया जाता है, इसलिए जो उन्हें भलीभाँति सुनता है, वह तो स्वच्छन्दी नहीं होता; तथापि कोई एकाध बात सुनकर अपने अभिप्राय से स्वच्छन्दी हो जाए तो वहाँ ग्रन्थ का दोष नहीं है, किन्तु उस जीव का ही दोष है।

पुनश्च, **यदि झूठी दोष - कल्पना द्वारा अध्यात्म शास्त्रों के पठन-श्रवण का निषेध किया जाये तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहीं है! इसलिए उसका निषेध करने से मोक्षमार्ग का निषेध होता है।** जैसे मेघवृष्टि होने से अनेक जीवों का कल्याण होता है,

तथापि किसी को उल्टी हानि हो जाए तो उसकी मुख्यता करके मोघ का निषेध तो नहीं किया जा सकता; **उसी प्रकार सभा में अध्यात्म उपदेश होने से अनेक जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, तथापि कोई उलटा, पाप में प्रवर्तन करता हो तो उसकी मुख्यता करके अध्यात्म उपदेश का निषेध नहीं किया जा सकता।**

दूसरे, अध्यात्म ग्रन्थों से कोई स्वच्छन्दी हो जाये तो वह पहले भी मिथ्यादृष्टि था और आज भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। हाँ, हानि इतनी ही है कि उसकी सुगति न होकर कुगति होती है।

और अध्यात्मोपदेश न होने से अनेक जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है, इसलिए उससे तो अनेक जीवों का महान अहित होता है; इसलिए अध्यात्म-उपदेश का निषेध करना योग्य नहीं है।

शङ्का - द्रव्यानुयोपरूप अध्यात्म-उपदेश उत्कृष्ट है और जो उच्चदशा को प्राप्त हो, उसी को कार्यकारी है; किन्तु निचली दशावालों को व्रत, संयमादि का ही उपदेश देना योग्य है।

समाधान - जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि - **पहले सम्यक्त्व हो और फिर व्रत होते हैं; अब, सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है, तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है। इसलिए द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो। इस प्रकार मुख्यरूप से तो निचलीदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है;** तथा गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती दिखाई न दे, उसे प्रथम कोई व्रतादिक का उपदेश दिया जाता है। इसलिए उच्चदशावाले को अध्यात्मोपदेश अभ्यास करने योग्य है - ऐसा जानकर निचलीदशावालों को वहाँ से पराङ्गमुख होना योगय नहीं है।

शङ्का – उच्च उपदेश का स्वरूप निचलीदशावालों को भासित नहीं होता।

समाधान – अन्य (अन्यत्र) तो अनेक प्रकार की चतुराई जानता है और यहाँ मूर्खता प्रगट करता है, वह योग्य नहीं है। अभ्यास करने से स्वरूप बराबर भासित होता है, तथा अपनी बुद्धि अनुसार थोड़ा-बहुत भासित होता है, किन्तु सर्वथा निरुद्यमी होने का पोषण करें यह तो जिनमार्ग द्वेषी होने जैसा है।

शङ्का – यह काल निकृष्ट (हलका) है इसलिए उत्कृष्ट अध्यात्म के उपदेश की मुख्यता करना योग्य नहीं है।

समाधान – यह काल साक्षात् मोक्ष होने की अपेक्षा से निकृष्ट है, किन्तु आत्मानुभवादि द्वारा सम्यक्त्वादि होने का इस काल में इंकार नहीं है; इसलिए आत्मानुभवादि के हेतु द्रव्यानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित 'मोक्षपाहुड़' में कहा है कि –

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्त्थ चुआ णिव्वुदिं निव्वणुदि जंति॥

अर्थात् – आज श्री त्रिरत्न द्वारा शुद्ध आत्मा को ध्याकर इन्द्रपना प्राप्त करते हैं; लौकान्तिक (स्वर्ग) में देवत्व प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर (मनुष्य होकर) मोक्ष जाते हैं।

इसलिए इस काल में भी द्रव्यानुयोग का उपदेश मुख्य आवश्यक है। प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान कर सम्यग्दृष्टि होना, ऐसे मुख्यता से नीचें की दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है।

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अध्याय)

आधारभूत ग्रन्थों की सूची

श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिका
श्री लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका
श्री परमार्थ वचनिका
श्री जैन सिद्धान्त दर्पण
श्री प्रवचनसार, गुजराती/हिन्दी
श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, गुजराती/हिन्दी
श्री बृहद् द्रव्य संग्रह
श्री मोक्षशास्त्र, गुजराती
श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड कर्मकाण्ड
श्री पञ्चाध्यायी (हिन्दी)
– पण्डित फूलचन्दजी कृत
श्री पञ्चाध्यायी गुजराती पूर्वार्द्ध–उत्तरार्द्ध
श्री आत्मधर्म (गुजराती) अंक 120
श्री चिद्विलास
श्री समयसार, गुजराती
श्री समाधि शतक
श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा
श्री आत्मावलोकन
श्री द्यानतराय कृत जयमाल
श्री सर्वार्थसिद्धि
श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक टीका
श्री अर्थ प्रकाशिका
श्री श्रुतसागरी टीका
श्री तत्त्वार्थसूत्र, अंग्रेजी
श्री वृहत् स्वयंभू स्तोत्र
श्री आलाप पद्धति
श्री मोक्षशास्त्र पण्डित पन्नालालजी कृत
श्री तत्त्वार्थसूत्र
श्री नियमसार, गुजराती
श्री चर्चा समाधान
श्री समवसरण पाठ
श्री पञ्चास्तिकाय
श्री बनारसी विलास
श्री विद्वज्जन बोधक
श्री जिनेन्द्र स्तुति
श्री अष्ट पाहुड़
श्री महाधवला, पुस्तक १३ वीं
श्री धवला, पुस्तक ७ वीं
श्री अनुभवप्रकाश
श्री समयसार नाटक
पण्डित बनारसीदासजी कृत
श्री छहढाला, पण्डित दौलतरामजी कृत
श्री परमात्मप्रकाश
श्री तत्त्वार्थसूत्र
पण्डित फूलचन्दजी कृत
श्री अष्ट सहस्त्री
श्री ज्ञान दर्पण
श्री न्याय दीपिका
श्री इष्टोपदेश
श्री अष्टशती
श्री प्रमेयकमल मार्तण्ड
श्री आप्तमीमांसा
श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक टीका
श्री परीक्षा मुख
श्री आत्मानुशासन

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय-पुष्प नं. - 28

श्री
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला

जैनदर्शन के आत्महितकारी सिद्धान्तों के प्रश्नोत्तरात्मक गुजराती सङ्कलन का सम्पादित हिन्दी संस्करण

सम्पादक :

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, जिला भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट मुम्बई

302, कृष्णाकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

प्रथम आवृत्तियाँ -

(श्री आदिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पंच कल्याणक -
मङ्गलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के अवसर पर)

ISBN - 978-81-907806-9-8

विक्रय मूल्य - 10 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334

2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820
   Email - vitragva@vsnl.com

3. **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)

4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापू नगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458

5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044

6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)

7. **श्री सीमन्धर कुन्दकुन्द कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां,
   निर्मला कोन्वेन्ट रोड, राजकोट-360007
   फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

प्रकाशकीय

आत्मकल्याण के निमित्तभूत जैन सिद्धान्तों का प्रश्नोत्तरात्मक पद्धति से बोध करानेवाली **जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला** का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। परम पूज्य तीर्थंकर भगवन्तों, आचार्य भगवन्तों द्वारा प्रतिपादित आत्महितकारी जैन सिद्धान्तों का अपनी स्वानुभव रस झरती वाणी में प्रतिपादन करके हमारे जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने हम सभी मुमुक्षुओं पर अनन्त-अनन्त उपकार किया है। पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में अध्यात्म तीर्थ स्वर्णपुरी सोनगढ़ में आयोजित होनेवाले शिक्षण शिविरों के अवसर पर इन सिद्धान्तों का कक्षा पद्धति से अध्ययन कराया जाता रहा है।

इसी शृंखला में विक्रम संवत् 2013 में आयोजित शिक्षण शिविर के अवसर पर संचालित कक्षाओं में अध्ययन कराये गये प्रश्नोत्तरों को तत्कालीन शिक्षण वर्ग में सम्मिलित साधर्मीजनों की भावनानुसार विविध विषयों के अन्तर्गत विभाजित करके तत्कालीन पाठशाला के धर्माध्यापक मास्टर हीराचन्दजी ने सुन्दर संकलन किया था। जिसे आदरणीय श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी ने अपने विशाल समृद्ध ज्ञानकोश से सुसज्जित किया था। इसी प्रश्नोत्तरमाला का श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ से गुजराती भाषा में प्रकाशन किया गया, जो अनवरत रूप से आज भी शिक्षण वर्ग की पाठ्य पुस्तक के रूप में पढ़ाई जाती है।

गुजराती भाषा में प्रकाशित इस जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला का हिन्दी अनुवाद श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई से अनेक वर्षों पूर्व प्रकाशित हुआ जो आज अनुपलब्ध है। वर्तमान समय में पूज्य गुरुदेवश्री के द्वारा प्रतिपादित वीतरागी तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों का व्यवस्थितरूप से अध्ययन कराने के उद्देश्य से इस ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन इस ट्रस्ट द्वारा किया जा रहा है।

प्रस्तुत प्रकाशन से पूर्व इसे गुजराती भाषा के साथ मिलान करके आवश्यक संशोधन के साथ प्रकाशन करने की भावना को साकार करते हुए आदरणीय बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी की प्रेरणा से इसमें कुछ आवश्यक परिशिष्ट जो प्रस्तुत प्रकरण के साथ अतिउपयोगी हैं, जोड़े गये हैं। जैसे, स्वतन्त्रता की घोषणा, निमित्त उपादान की स्वतन्त्रता आदि प्रवचन; अध्यापक बन्धुओं से अनुरोध है कि प्रस्तुत प्रकरण को पढ़ाते समय पूज्य गुरुदेवश्री के इन प्रवचनों का भी शिविरार्थियों को अवश्य अध्ययन करायें। जिससे उन्हें विषयवस्तु को गहराई से हृदयंगम करने का सुअवसर प्राप्त हो।

वर्तमान समय में परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के मांगलिक सी.डी. प्रवचनों का पुनीत प्रवाह देश एवं विदेश के अनेक मुमुक्षु मण्डलों में प्रचलित हुआ है। साथ ही गुरुदेवश्री के प्रवचनों के शब्दशः प्रकाशन ने इस कार्य को और गति प्रदान की है। यदि प्रवचनों के श्रवण के साथ-साथ जैन सिद्धान्तों का यथार्थ ज्ञान भी साधर्मीजनों को हो तो यह कार्य अति उत्तम रीति से सम्पन्न होगा। इसी भावना से प्रस्तुत प्रकाशन किया जा रहा है। हमारी भावना है कि जहाँ-जहाँ भी शिक्षण शिविरों का आयोजन हो, वहाँ-वहाँ इस पुस्तक के आधार पर जैन सिद्धान्तों का प्रारम्भिक ज्ञान कराने का प्रयास होना चाहिए।

वर्तमान युग में समयसारादि परमागमों का अपनी सातिशय स्वानुभव मुद्रित वाणी में उदघाटन करनेवाले पूज्य गुरुदेव का तो हम सब पर अनन्त-अनन्त उपकार वर्तता ही है। अत: हम पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति अपने हार्दिक विनयांजलि समर्पित करते हैं। पूज्य गुरुदेव की महिमा प्रकाशित करनेवाले प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री का भी मुमुक्षु समाज पर अनुपम उपकार है, तदर्थ उनके प्रति हार्दिक बहुमान व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन के प्रेरणा स्रोत गुरुदेवश्री के अनन्य कृपा पात्र बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़ के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। प्रस्तुत प्रकाशन को सम्पादितरूप में प्रस्तुत करने के लिये पण्डित देवेन्द्र कुमार जैन, बिजौलियां राजस्थान के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

सभी जीव इस ग्रन्थ के माध्यम से जैन सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करके पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी के गम्भीर रहस्यों को समझकर निज परिणति में स्वानुभवदशा प्रगट करके अनन्त सुखी हों – इस पवित्र भावना के साथ।

ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

मुम्बई

प्रस्तावना

विक्रम संवत् 2010 के श्रावण महीने में भी प्रतिवर्ष की भाँति प्रौढ़ जैन शिक्षणवर्ग का आयोजन हुआ था। उस समय अध्ययन में 'श्री लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' तथा 'श्री मोक्षमार्गप्रकाशक' का नववाँ अधिकार जैन धार्मिक शिक्षण के रूप में रखा गया था।

वर्ग में जिन विषयों का अभ्यास कराया जाता था, तत्सम्बन्धी अनेक प्रश्न, पाठशाला के अध्यापक **श्री हीराचन्दभाई** ने अभ्यासियों को लिखाये थे तथा विद्यार्थियों ने प्रश्न तैयार किये थे। शिक्षण वर्ग की समाप्ति के समय उन प्रश्नों को व्यवस्थितरूप से सङ्कलित करके उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित कराने का विचार हुआ था; उसी के फलस्वरूप यह पुस्तक प्रकाशित हुई है।

इस पुस्तक में मुख्य उपयोगी प्रश्न और उनके अनुशीलन में जो-जो उपयोगी प्रश्न उद्‌भूत हुए, उन सबका उत्तरसहित समावेश किया गया है तथा उन प्रश्नों का प्रकरणानुसार वर्गीकरण करके मालारूप गूँथकर '**श्री जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला**' के नाम से आज मुमुक्षुओं के हाथों में देते हुए हर्ष हो रहा है। इस माला में प्राथमिक अभ्यासियों को-मुख्यत: तत्त्व के जिज्ञासुओं को अध्ययन के लिए जो-जो विषय अत्युपयोगी हों, वे सभी- **द्रव्य-गुण-पर्याय; द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव; उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य; द्रव्य के सामान्य तथा विशेष गुण; चार अभाव; कर्ता-कर्म आदि छह कारक; उपादान-निमित्त; निमित्त-नैमित्तिक; निश्चय-व्यवहार;**

सात तत्त्व; नव पदार्थ; प्रमाण-नय-निक्षेप; अनेकान्त-स्याद्वाद; मोक्षमार्ग; गुणस्थान; सर्वज्ञ आदि लिये गए हैं।

[1] शास्त्रों के अर्थ की रीति

आजकल मुख्यत: जैन शास्त्रों का अर्थ करने के सम्बन्ध में अत्यन्त अज्ञान वर्त रहा है; इसलिए तत्सम्बन्धी कुछ स्पष्टता करने की आवश्यकता है। इसका स्पष्टीकरण श्री प्रवचनसार की 268 वीं गाथा में किया गया है; उसमें दिए गए अर्थ का तत्सम्बन्धी भाव निम्नानुसार है -

जिसने शब्द ब्रह्म का और उसके वाच्यरूप समस्त पदार्थों का निश्चयनय से निर्णय किया हो, वह जीव संयत है।

उपरोक्त टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने स्पष्ट बतलाया है कि शास्त्र में निश्चयनय का कथन हो या व्यवहारनय का - उस सर्व में निश्चयनयानुसार ही अर्थ करना।

व्यवहारनय, सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता, किन्तु किसी अपेक्षा से उपचार से अन्यथा निरूपण करता है। वह संयोग, निमित्तादि का ज्ञान कराने के लिए होता है। यदि व्यवहारनय के कथन का अर्थ उसके शब्दानुसार ही किया जाए तो निश्चय और व्यवहार के कथन परस्पर विरुद्ध होने से विरोध उत्पन्न होगा किन्तु वीतरागी कथन में किसी स्थान पर विरोध हो ही नहीं सकता; इसलिए वह विरोध मिटाने के लिए व्यवहार के कथन का अर्थ **'ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादि की अपेक्ष से यह उपचार किया है'** - **ऐसा समझना।**

इस सम्बन्ध में आचार्यकल्प पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ में निम्नोक्त शब्दों में स्पष्ट कहा है -

प्रश्न - तो क्या करें? [तो नय में क्या समझें?]

उत्तर – निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना तथा व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिए।

श्री समयसार टीका में भी श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने यही कहा है कि –

(शार्दूलविक्रीड़ित)

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं, त्याज्यं यदुक्त जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी, निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे, बध्नंति संतो धृतिम्॥ 173॥

अर्थात् सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं, वे सभी (अध्यवसान) जिन-भगवन्तों ने पूर्वोक्त रीति से त्यागनेयोग्य कहे हैं, इसलिए हम ऐसा मानते हैं कि 'पर जिसका आश्रय है – ऐसा व्यवहार ही सर्व छुड़ाया है' तो फिर, यह सत्पुरुष एक सम्यग्निश्चय को ही निष्कम्परूप से अङ्गीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में (आत्मस्वरूप में) स्थिरता क्यों नहीं करते।

भावार्थ – यहाँ व्यवहार का तो त्याग कराया है, इसलिए निश्चय का अङ्गीकार करके निजमहिमारूप प्रवर्तन करना युक्त है।

पुनश्च; श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने श्री मोक्षप्राभृत में कहा है कि –

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे॥ 13॥

अर्थात् – जो व्यवहार में सोते हैं, वे योगी अपने (आत्मधर्मरूप) कार्य में जागते हैं तथा जो व्यवहार में जागते हैं, वे अपने कार्य में सोते हैं।

इसलिए व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।

व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को; उनके भावों को तथा कारण-कार्यादि को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; अतः ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिए उसका त्याग करना चाहिए; और निश्चयनय उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है; किसी को किसी में नहीं मिलाता और ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धन करना चाहिए।

प्रश्न - यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करने को कहा है, उसका क्या कारण है?

उत्तर - जिनमार्ग में किसी स्थान पर तो निश्चय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ-ऐसा ही है' - ऐसा जानना चाहिए तथा किसी स्थान पर व्यवहारनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे 'ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है' - ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है, किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'इस प्रकार भी है तथा इस प्रकार भी है' - ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नय ग्रहण करने को नहीं कहा है।

प्रश्न - यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसका उपदेश किसलिए दिया? एक निश्चय का ही निरूपण करना था?

उत्तर - ऐसा ही तर्क श्री समयसार में किया है; वहाँ उत्तर दिया है कि -

जह णवि सक्कमज्जो अणज्जभासं विणा उ माहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं॥ 8॥

अर्थात् जिस प्रकार किसी अनार्य / म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है, इसलिए व्यवहार का उपदेश है।

उसी सूत्र की व्याख्या में कहा है कि –

एवं म्लेच्छस्थनीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छ भाषास्था-नीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयः अध च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनादव्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः ॥

– इस प्रकार निश्चय को अङ्गीकार कराने के लिए व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है, वह अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है।

पुनश्च, श्री **कुन्दकुन्दाचार्यरचित श्री समयसार** की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने तथा श्री योगीन्द्रदेव रचित **श्री परमात्म-प्रकाश** की टीका में श्री ब्रह्मदेवजी ने शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति दर्शायी है, जो इसी पुस्तक के आठवें प्रकरण में है। उसमें भी प्रत्येक प्रसङ्ग पर जिस नय का कथन हो, उसका निर्णय करके यथार्थ अर्थ करना चाहिए।

(2) निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध इत्यादि

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध वस्तुतः व्यवहारनय का विषय है, इसलिए उसका अर्थ करने में भी विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है क्योंकि निमित्तकारण वास्तविक कारण नहीं है; वह मात्र आरोपित कारण है। प्रत्येक समय प्रत्येक द्रव्य में अनादि से अनन्त काल तक पर्यायें हुआ करती हैं और पर्याय ही कार्य है। कार्य तो वस्तुतः उपादान सदृश होता है परन्तु उस समय जिस पदार्थ पर

कारण नहीं होने पर भी कारणपने का आरोप आता है, उसे निमित्त कहा जाता है। इस निमित्त सम्बन्धी ज्ञान करना आवश्यक है परन्तु निमित्त के कारण नैमित्तिक में कुछ भी कार्य होता है – ऐसा मानना, वह निमित्त नहीं मानकर वास्तव में उपादान मानने के समान है। इस मान्यता में व्यवहारकारण व्यवहाररूप नहीं रहकर निश्चयरूप हो जाता है। जीव अनादि से व्यवहार को निश्चय मानता आया है, इसलिए यदि शास्त्राभ्यास करने पर भी जीव, व्यवहार का निश्चयरूप मानने का अर्थ करे तो उसे अनादि से चली आ रही भूल मिटती नहीं है।

निमित्त के बिना कार्य नहीं होता – ऐसा कथन भी व्यवहार का है; अर्थात् ऐसा नहीं है किन्तु प्रत्येक कार्य के समय उचित निमित्त उपस्थित होता है, यह बतलाने के लिए ऐसा कथन आता है, तथापि यदि निमित्त की आवश्यकता उपादान को पड़ती है अथवा उसकी राह देखनी पड़ती है, अथवा उसकी सहायता की आवश्यकता पड़ती है अथवा निमित्त का प्रभाव पड़ता है या उस निमित्त के बिना उपादान में वास्तव में कार्य नहीं होता – ऐसा माना जाये तो यह सिद्ध होगा कि पर के बिना स्व में कार्य नहीं होता परन्तु प्रत्येक द्रव्य का कार्य अपने–अपने छह कारकों से स्वतन्त्ररूप से होता है। इससे ऐसा निर्णय होता है कि कार्य होते समय निमित्त की उपस्थिति होती है, इतना ज्ञान कराने के लिए उसे दर्शाया गया है।

निमित्त से कार्य हुआ – ऐसे कथन जैनशास्त्रों में आते हैं, उन्हें भी व्यवहारनय का ही कथन समझना चाहिए। वहाँ यह अर्थ करना चाहिए कि निमित्त से नैमित्तिक कार्य हुआ नहीं है परन्तु नैमित्तिक में स्वतन्त्ररूप से कार्य हुआ, उस समय कौन निमित्त था – यह बतलाने के लिए वह कथन किया गया है।

कोई ऐसा मानता है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जीव की पर्याय और कर्म के बीच ही होता है, दूसरे किसी के बीच नहीं होता - परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। दूसरों के बीच ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है परन्तु जब-जब कारण बतलाना हो, तब-तब उपादानकारण और निमित्त कारण ऐसा कहा जाता है और दो पदार्थों के बीच कारण-कार्य हो, तब निमित्तकारण और नैमित्तिक कार्य - ऐसा कहा जाता है; और एक ही द्रव्य में स्वयं का कारण -कार्य बतलाना हो, तब उपादान कारण और उपादेय कार्य कहा जाता है। इस सम्बन्धी स्पष्टता इसी पुस्तक में दी गयी है।

कितने ही लोग ऐसी मान्यता रखते हैं कि कर्म के उदयानुसार जीव को Degree to degree विकार करना ही पड़ता है। ऐसी मान्यता दो द्रव्यों की एकत्वबुद्धि में से उत्पन्न होती है। कर्म का जीव में सर्वथा अभाव है; वह जीव के लिए अद्रव्य, अक्षेत्र, अकाल, अभाव है; इसलिए वस्तुतः जीव स्वयं स्वतः विकार करता है, तब निमित्त कौन सा कर्म है ? - यह दर्शाने के लिए शास्त्र में कर्म के उदय से जीव में विकार होता है ऐसा कहा जाता है। इस सम्बन्धी स्पष्टता भी इसी ग्रन्थ में की गयी है।

सारांश यह है कि निमित्त, व्यवहार और परद्रव्य - इन सबका ज्ञान करने की आवश्यकता है क्योंकि वैसे ज्ञान के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं होता परन्तु उसमें से किसी के आश्रय से धर्म कदापि नहीं होता तथा वे धर्म का कारण भी नहीं होते - ऐसा स्पष्ट निर्णय करना चाहिए।

(3) जैनीनीति अथवा नयविवक्षा -

इस सम्बन्ध में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव रचित पुरुषार्थसिद्धियुपाय

ग्रन्थ के 225 वें श्लोक का अर्थ उपयोगी होने से यहाँ दिया जा रहा है–

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

अर्थात् दही की मथानी की रस्सी को खेंचनेवाली ग्वालिनों की तरह जो अनेक वस्तु के स्वरूप को एक अन्त से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से आकर्षण करती है – खेंचती है और फिर दूसरी पर्यायार्थिकनय से शिथिल करती है, वह जैनमत की न्याय पद्धति जयवन्ती है।

भावार्थ भगवान की वाणी स्याद्वाररूप अनेकान्तात्मक है। वस्तु का स्वरूप प्रधान तथा गौणनय की विवक्षा से किया जाता है; जैसे कि जीवद्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से नित्य है और पर्यायार्थिकनय की विवक्षा से अनित्य है, यह नय विवक्षा है।

यह श्लोक ऐसा बतलाता है कि शास्त्रों में कहीं निश्चयनय की मुख्यता से कथन है और कहीं व्यवहारनय की मुख्यता से कथन है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि धर्म किसी समय व्यवहारनय अर्थात् अभूतार्थ के आश्रय से होता है और किसी समय निश्चयनय अर्थात् भूतार्थनय के आश्रय से होता है। धर्म तो हमेशा निश्चयनय, अर्थात् भूतार्थनय के आश्रय से ही होता है।

यही न्याय पुरुषार्थसिद्धियुपाय ग्रन्थ के पाँचवें श्लोक में तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ की गाथा 311–312 के भावार्थ में दिया गया है। इसलिए इस श्लोक का दूसरा कोई अर्थ करना योग्य नहीं है।

(4) मोक्षमार्ग

मोक्षमार्ग तो एक ही है और वह निश्चयमोक्षमार्ग है किन्तु निश्चय और व्यवहार ऐसे दो मोक्षमार्ग नहीं हैं। उस निश्चयमोक्षमार्ग का कथन दो प्रकार का है – (1) निश्चयमोक्षमार्ग, (2) व्यवहार-मोक्षमार्ग; अर्थात् प्रत्येक कार्य में दो कारण होते हैं – उपादान और निमित्त। उनमें उपादान, निश्चयमोक्षमार्ग है और उस समय की अपूर्ण रही हुई और विकारी दशा, निमित्त होने से उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं। बहुत से लोग दो मोक्षमार्ग होना मानते हैं परन्तु वह मान्यता मिथ्या है। इस सम्बन्ध में श्री दिगम्बर जैन संघ मथुरा से प्रकाशित हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक की प्रस्तावना में पृष्ठ 9-10 पर लिखा है कि –

.....आपने इस बात का खण्डन किया है कि मोक्षमार्ग निश्चय -व्यवहाररूप दो प्रकार का है। वे लिखते हैं कि यह मान्यता निश्चय -व्यवहारावलम्बी मिथ्यादृष्टियों की है, वास्तव में तो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं किन्तु मोक्षमार्ग निरूपण का दो प्रकार है। पाठक देखेंगे कि जो लोग निश्चयसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयरत्नत्रय, व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयमोक्षमार्ग, व्यवहारमोक्षमार्ग इत्यादि दो भेदों की रात-दिन चर्चा करते कहते हैं; उनके मन्तव्य से पण्डितजी का मन्तव्य कितना भिन्न है ? इसी प्रकार आगे चलकर उन्होंने लिखा है कि निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानना भी भ्रम है, क्योंकि दोनों नयों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है; इसलिए दोनों नयों का उपादेयपना नहीं बन सकता। अभी तक तो यही धारणा थी कि न केवल निश्चय उपादेय है, न केवल व्यवहार किन्तु दोनों ही उपादेय हैं किन्तु पण्डितजी ने उसे मिथ्यादृष्टियों की प्रवृत्ति बतलाई है।...

(5) सर्वज्ञस्वभाव

आत्मा की अनेक शक्तियों में से सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व ऐसी दो शक्तियों की पूर्ण शुद्धपर्याय होने पर आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है। उसमें सर्वज्ञस्वभाव द्वारा जगत् के सर्व द्रव्य, उनके अनन्त गुण, अनादि अनन्त पर्यायें, अपेक्षित धर्म और उनके अविभागी प्रतिच्छेद – इन सबको युगपद् एक समय में जानता है और उस ज्ञान में कोई अज्ञात नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध होती है, कोई भी पर्याय उलटी–सीधी नहीं होती है।

प्रथमानुयोग के शास्त्रों में श्री तीर्थंकर भगवानों ने तथा केवली भगवन्तों ने बहुत जीवों की भूत–भावी पर्यायें स्पष्टरूप से बतलायी हैं तथा अवधिज्ञानी मुनियों ने भी बहुत जीवों की भूत–भावी भवों की वार्ताएँ कही है। इससे प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं, यह सिद्ध होता है। यदि ऐसा नहीं माना जाए तो वे सभी शास्त्र मिथ्या सिद्ध होंगे।

कोई कहता है कि भगवान अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते; भविष्य की पर्याय प्रगट हुई नहीं, इसलिए उन्हें सामान्यरूप से जानते हैं परन्तु विशेषरूप से नहीं जान सकते; और कोई कहता है कि यदि भगवान भूत–भावी स्पष्ट जानते हों तो मेरी पहली और अन्तिम पर्याय कौन सी ? वह कह दें – इस प्रकार अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताएँ चल रही हैं तथा भगवान ने सब जान लिया हो तो जीवों को कोई पुरुषार्थ करना नहीं रहता है – ऐसी विपरीत मान्यताएँ भी कितने ही लोग रखते हैं परन्तु जो जीव स्व–सन्मुख होकर अपने स्वरूप का ज्ञाता होता है, उसे क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो सकता है और वह निर्णय यथार्थ पुरुषार्थ के बिना नहीं होता – यह बात उन्हें लक्ष्य में नहीं आती; इसलिए आत्मा का मूल स्वभाव

उनके ज्ञान में नहीं आता होने से 'णमो अरिहंताणं' पद का भी सत्य अर्थ वे नहीं जान सकते और आत्मस्वभाव का अज्ञान ही रहता है।

वस्तु का स्वभाव ऐसा है कि क्रमबद्धपर्याय होती ही है तथा केवलज्ञानी भी वस्तुस्वरूप के परिपूर्ण ज्ञाता हैं, उनके ज्ञान में सब जानने में आया होने से प्रत्येक द्रव्य की क्रमबद्धपर्याय होती है – ऐसा माने बिना केवलज्ञान का स्वरूप यथार्थरूप से जानने में नहीं आता; इसलिए प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध होती है – ऐसा जिज्ञासुओं को निर्णय करना चाहिए।

(6) अभाव

इस प्रश्नोत्तरमाला में अभाव नाम का प्रकरण अलग रखा गया है, उसका अभ्यास करने से ज्ञात होगा कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अभाव होने के कारण दूसरे का कुछ भी नहीं किया जा सकता; और ऐसा निर्णय किये बिना अनादि से चली आ रही परद्रव्य की कर्ताबुद्धि दूर नहीं होती। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहार सम्बन्ध है। निमित्त-नैमित्तिक का परमार्थ अर्थ यह होता है कि – नैमित्तिक ने स्वयं अपने से कार्य किया है, उसमें निमित्त ने कुछ भी नहीं किया है; अर्थात् निमित्त है अवश्य, किन्तु उसने नैमित्तिक का कुछ भी किया नहीं। ऐसा निर्णय न किया जाये तो एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव होना वास्तव में माना नहीं कहा जा सकता।

इस प्रस्तावना में मुख्य 2 विषयों सम्बन्धी योग्य मार्गदर्शन स्पष्टतापूर्वक संक्षेप में किया गया है। इतना दर्शाने के पश्चात् नम्र आग्रह है कि – मात्र यह प्रश्नोत्तरमाला पढ़ लेने से तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता; इसलिए उसका यथार्थ ज्ञान करने के लिए

ज्ञानियों का प्रत्यक्ष उपदेश सुनना चाहिए। जिज्ञासुओं को सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के अध्यात्मिक व्याख्यानों का अवश्य लाभ लेना चाहिए।* ऐसा लाभ लेना आत्मा के लिए विशेष लाभ का कारण होगा।

आभार दर्शन

यह पुस्तक तैयार करने में ब्रह्मचारी चन्दुभाई, ब्रह्मचारी गुलाबचन्दभाई, श्री हीराचन्दभाई आदि जिन-जिन स्वधर्मी बन्धुओं ने सहयोग दिया है, विशेषरूप से भाईश्री छोटालाल गुलाबचन्द गाँधी, B.A. Hons., S.T.C. सोनासणवालों ने विशेष सेवा प्रदान की है; उन सबका आभार मानता हूँ।

सोनगढ़
वीर सं० 2483
पौष बदी 14

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख-श्री दि० जैन स्वाध्याय
मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

---

* *आज पूज्य गुरुदेवश्री की सदेह अनुपस्थिति में भी, गुरुदेवश्री द्वारा प्रदत्त नौ हजार प्रवचन 16 डी.वी.डी. में उपलब्ध हैं, जिनका प्रतिदिन श्रवण करना प्रत्येक साधर्मी का आत्महितकारी कर्तव्य है। – सम्पादक*

सम्पादकीय

वीतरागी जिनेन्द्र परमात्माओं की आत्महितकारी दिव्यध्वनि का प्रवाह परम्परा से हमारे वीतरागी सन्तों, ज्ञानी धर्मात्माओं के माध्यम से इस युग के महान आध्यात्मिक सन्त जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को प्राप्त हुआ। गुरुदेवश्री ने अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से स्वयं आत्मानुभव प्राप्त करके अपनी स्वानुभवयुक्त वाणी में जिनवाणी के अनमोल रहस्य हमें समझाये - यह सर्व विदित है।

सौराष्ट्र का छोटा-सा गाँव सोनगढ़ आज इस विश्व धरा पर आध्यात्मिक तीर्थ बन गया है और पंचम काल के अन्त तक गुरुदेवश्री की साधनाभूमि के गौरव से गौरवान्वित रहेगा।

तीर्थधाम सोनगढ़ में पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रतिदिन दो बार प्रवचन एवं एक बार तत्त्वचर्चा के माध्यम से जिस आध्यात्मिक क्रान्ति का शंखनाद किया, उसने मिथ्यात्व के कागजी महल को धराशायी कर दिया है। पूज्य गुरुदेवश्री की स्वानुभवमुदित वाणी में जिनागम के समस्त आत्महितकारी सिद्धान्तों का 45-45 वर्षों तक सिंहनाद हुआ है। आज भी सारा विश्व पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यवाणी से गुंजायमान है।

पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही सोनगढ़ में प्रतिवर्ष शिक्षण-शिविर का आयोजन किया जाता था। जिसमें लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका एवं मोक्षमार्गप्रकाशक के आधार पर शिक्षण प्रदान किया जाता था। इन पाठ्यक्रमों को पढ़ाते हुए जो-जो उपयोगी प्रश्नोत्तर तैयार हुए, उनका सङ्कलन गुजराती भाषा में जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला के नाम से प्रकाशित

हुआ। यही सङ्कलन बाद में हिन्दी भाषा में भी तीन भागों में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत संस्करण दोनों सङ्कलनों के आधार पर सम्पादित संस्करण हैं।

इस सम्पादित संस्करण में प्रत्येक अधिकार के प्रश्नोत्तरों की संख्या पूर्व संस्करणों की भाँति लगातार न रखते हुए प्रत्येक अधिकार की अलग-अलग रखी गयी है।

पूरे ग्रन्थ को गुजराती के साथ मिलान करके आवश्यक संशोधन किये गये हैं।

ग्रन्थ में समाहित उद्धरणों को मूल ग्रन्थों के आधार पर मिलान किया गया है।

निमित्त-उपादान एवं निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवाले प्रकरण के विशेष स्पष्टीकरण हेतु पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन (1) स्वतन्त्रता की घोषणा, (2) निमित्त-उपादान की स्वतन्त्रता तथा पण्डित बनारसीदास कृत निमित्त-उपादान के दोहे और भैया भगवतीदास कृत निमित्त-उपादान संवाद अतिरिक्तरूप से जोड़ा गया है। पाठक एवं अध्यापक बन्धुओं से इस प्रकरण को पढ़ाते समय गुरुदेवश्री के इन प्रवचनों के माध्यम से विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा है। साथ ही दोनों प्रकार के दोहों को कण्ठस्थ कराने का भी अनुरोध है।

वर्तमान समय में सम्पूर्ण देश में पूज्य गुरुदेवश्री के सी.डी. प्रवचनों का युग प्रवर्तमान है। अत: यह भावना हुई कि पूज्य गुरुदेवश्री के सी.डी. प्रवचनों पर आधारित शिक्षण शिविर सम्पूर्ण देश में लगाये जायें। तदर्थ गुरुदेवश्री के शब्दश: प्रवचन ग्रन्थों की उपलब्धता सुनिश्चित की जाए। इस दिशा में कार्य द्रुतगति से चल रहा है। शिक्षण-शिविर के अवसर पर ही प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार पर शिक्षण-कक्षाओं की व्यवस्था करने के प्रशस्तभाव से यह सम्पादित संस्करण तैयार किया गया है।

प्रस्तुत प्रकाशन के अवसर पर वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के श्रीचरणों में सादर वन्दन समर्पित करते हुए, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रति

अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ। जिनके प्रताप से आज सम्पूर्ण देश-विदेश में जैनतत्त्वज्ञान के रहस्यों का उद्‌घाटन हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री के सान्निध्य में रहकर इसी प्रश्नोत्तरमाला के आधार पर जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला के सात भागों के संकलनकर्ता, पण्डित कैलाशचन्द जैन अलीगढ़ के प्रति भी इस अवसर पर कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। जिनके सान्निध्य में इस प्रश्नोत्तरमाला सहित सातों भागों के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ।

इस अवसर पर गुरुदेवश्री के अनन्य शिष्य बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़; श्री अनन्तराय सेठ, मुम्बई; श्री पवन जैन, अलीगढ़ के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। जिन्होंने समय-समय पर अपने उपयोगी सुझावों से मुझे लाभान्वित किया, साथ ही जिनवाणी के इस कार्य में निरन्तर लगे रहने हेतु प्रोत्साहित किया।

सभी पाठकवर्ग से अनुरोध है कि यदि आप जिनवाणी के रहस्योदघाटक पूज्य गुरुदेवश्री के आध्यात्मिक प्रवचनों को गहराई से समझना चाहते हैं तो इस जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला का अवश्य अध्ययन करें - जिससे गुरुदेवश्री के प्रवचनों में समागत आधारभूत सिद्धान्तों का ज्ञान हो सके। इसके बिना गुरुदेवश्री के भावों की गम्भीरता समझ पाना असम्भव है।

स्थान-स्थान पर शिक्षण-शिविरों का आयोजन करनेवाले साधर्मी बन्धुओं से भी अनुरोध है कि अपने शिक्षण-शिविर में इस ग्रन्थ को अनिवार्यरूप से सम्मिलित करके सम्यक् जिनसिद्धान्तों का शिक्षणार्थियों को परिचय प्रदान करने का अवसर उत्पन्न करायें।

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, जिला भीलवाडा (राज.)

अनुक्रमणिका

प्रकरण पहला :

द्रव्य अधिकार 3

प्रकरण दूसरा :

गुण अधिकार 27

सर्वज्ञदेव कथित छहों द्रव्यों की
स्वतन्त्रतादर्शक सामान्य गुण 67

प्रकरण तीसरा :

पर्याय अधिकार 69

प्रकरण चौथा :

चार अभाव अधिकार 105

प्रकरण पाँचवाँ :

छह कारक अधिकार 115

प्रकरण छठवाँ :

उपादान-निमित्त तथा निमित्त-नैमित्तिक अधिकार 145

परिशिष्ट

स्वतन्त्रता की घोषणा 208

कण्ठपाठ परिशिष्ट - 1

कविवर पण्डित बनारसीदास कृत
उपादान-निमित्त दोहा 232

कण्ठपाठ परिशिष्ट – 2

भैया भगवतीदास कृत उपादान-निमित्त संवाद 233

उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता 239

प्रकरण सातवाँ :

सात तत्त्व – नव पदार्थ अधिकार 278

प्रकरण आठवाँ :

प्रमाण, नय और निक्षेप अधिकार 299

प्रकरण नववाँ :

अनेकान्त और स्याद्वाद अधिकार 341

प्रकरण दसवाँ :

मोक्षमार्ग अधिकार पञ्च भाव – चतुर्दश गुणस्थान 358

परिशिष्ट – 1

सर्वज्ञता की महिमा 405

परिशिष्ट – 2

द्रव्यानुयोग में दोषकल्पना का निराकरण 415